शंकराचार्य व समकालीन भारतीय शिक्षा-दार्शनिकों की शैक्षिक विचारधारा

लेखिका :

कुसुम लता राठौर

एम.ए. (अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र) एम.एड.

प्रवक्ता

बी. एड. विभाग

हिन्दू कन्या महाविद्यालय, सीतापुर – (उ० प्र०)

प्रकाशक :

अनु बुक्स

शिवाजी रोड, मेरठ

NCERT द्वारा प्राप्त आर्थिक सहयोग से यह पुस्तक
प्रकाशित की गई है।

ISBN : 81.85126.44.5

प्रकाशक :

अनु बुक्स, शिवाजी रोड, मेरठ

मुद्रक :

निष्काम प्रेस, बेगम पुल रोड, मेरठ

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

आदिकालीन सरल समाज से आधुनिक जटिल समाज के विकास में मुख्य भूमिका, शिक्षा की रही है। समाज से अनुकूलन स्थापित करने में तथा वैयक्तिक व सामाजिक विकास के प्रत्येक पग पर शिक्षा हमारी सहायता करती है। विकास जटिलताओं और विभिन्न समस्याओं को भी जन्म देता है जिनका उपयुक्त समाधान हमको सीमित साधनों में, अपनी क्षमतानुसार खोजना होता है। वर्तमान समाज एक जटिल व्यवस्था है, जिसमें जीवन के विभिन्न पहलुओं सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि से संबंधित समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, इसलिए आज की शिक्षा के सम्मुख इन समस्याओं के समाधान तथा समाज के विकास की, दो चुनौतियाँ हैं जिनमें उसे एक ओर देश के आंतरिक विकास व आनन्दपूर्ण जीवन को पोषित करना है और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका द्वारा सार्वभौमिक मूल्यों की स्थापना करनी है। इस प्रकार शिक्षा वैयक्तिक व सामाजिक दोनों क्षेत्रों के प्रत्येक बिन्दु का स्पर्श करती है। अतः शिक्षा ही वह सबल माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने स्वप्नों को साकार कर सकते हैं।

समाज जन साधारण की व्यवस्था है जिसकी इकाई व्यक्ति है। सामान्य जन एक ही प्रकार की विचारधारा से सम्पन्न होते हैं और समाज की कुरीतियों को भी उसी रूप में स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन कुछ दैवीय गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ऐसे होते हैं जो बुराई का समूल नाश करने का प्रयत्न करते हैं और अपने सुख-दुख की चिन्ता किये बिना समाज के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं। भारत भूमि ने ऐसे अनेक रत्नों को जन्म दिया है जिन्होंने देश के उत्थान का बीड़ा उठाया और अनेक अमूल्य विचार व आदर्श जनता के समक्ष रखे। इनमें सर्वप्रथम आदि-गुरु शंकराचार्य ऐसे महामानव हैं जिन्होंने जनता के अन्धविश्वासों को दूर करने का प्रयास किया। कालान्तर में महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, मदनमोहन मालवीय, श्री अरविन्द तथा महात्मा गांधी आदि अनेक महान् आत्माएँ भारतवर्ष में अवतरित हुईं जिनके आलोक से आज भी भारत का भाल गौरवान्वित है। इन समस्त विचारकों ने भारत में जन्म लिया, वहाँ की भूमि ने उन्हें पोषित किया, इसलिए समाज की आंतरिक स्थिति से उनका रोम-रोम परिचित था। इसी कारण उन्होंने जो समाधान प्रस्तुत किये वह भारतीय सभ्यता व संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में सटीक हैं। भारतीय संस्कृति बहुत प्राचीन है और आध्यात्मिकता के सर्वोच्च मूल्यों

पर अवलम्बित है। अतः अन्य देशों की तुलना में यह अनुपम है।

आज के युग में जो समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं उनका समाधान भी यदि अपने देश के साधनों तथा प्रयासों द्वारा खोजा जाय तो वह अधिक कल्याणकारी होगा। पश्चिमी उन्नत देशों का अनुसरण करके हम अपने गन्तव्य को प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि ये देश आर्थिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न हैं और विकास के उस स्तर को प्राप्त कर चुके हैं जिस पर हम आज हैं। हमको अपनी उस प्राचीन आदर्शात्मिक संस्कृति का संरक्षण करते हुए, जो समस्त विश्व के लिए मानवता के सर्वोच्च मूल्यों का उदाहरण है, भौतिक विकास को प्राप्त करना है। अतः भारतीय शिक्षाविदों के विचारों व कार्यों से हम इस दिशा में प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने अपने शोध-प्रबन्ध के विषय का चयन किया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही कालों के शिक्षा दार्शनिकों के विचारों का सूक्ष्म अवलोकन करने का प्रयास किया गया है। इनमें जगद्गुरु शंकराचार्य, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, आचार्य रवीन्द्रनाथ टैगोर, पंडित मदनमोहन मालवीय, श्री अरविन्द, डॉ० राधाकृष्णन, महात्मा गांधी तथा आचार्य विनोबा भावे के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है और अध्ययन की परिधि को संक्षिप्त रखते हुए पाश्चात्य दार्शनिक सम्प्रदायों के शैक्षिक विचारों से भारतीय शिक्षा दार्शनिकों की शैक्षिक विचार-धारा में पाये जाने वाले साम्य पर भी दृष्टिपात किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उपलब्ध मूल-स्रोतों तथा समकालीन भारतीय विद्वानों की प्रामाणिक पुस्तकों से सामग्री संकलित करने का प्रयास किया गया है। शिक्षा-दर्शन के क्षेत्र में यह शोध-प्रबन्ध प्रथम प्रयास है।

मैं अपने शोध-प्रबन्ध के निर्देशक, पूज्य डॉ० जे० पी० आत्रेय जी के प्रति हृदय से आभारी हूँ, जिनसे निरन्तर सुझाव व प्रेरणा मुझे मिलती रही हैं। उनके असीम स्नेह और आशीर्वाद के फलस्वरूप ही आज शोध-प्रबन्ध अपनी परिसमाप्ति की अवस्था को प्राप्त हुआ है।

इस कार्य के निमित्त मुझे प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से अन्य व्यक्तियों से भी सहयोग प्राप्त हुआ है, जिसके लिए वह धन्यवाद के पात्र हैं। हिन्दू कन्या महाविद्यालय, सीतापुर की प्रवक्ता डॉ० सुनीति मुकर्जी के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने इस प्रबन्ध में विभिन्न स्थानों पर सुझाव देकर मुझे सहयोग प्रदान किया है। साथ ही जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की शोध छात्रा मंजु राठौर का भी धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर बहुमूल्य सहयोग दिया।

अपने महाविद्यालय (हिन्दू कन्या महाविद्यालय, सीतापुर) की पुस्तकालयाध्यक्षा श्रीमती एस० श्रीवास्तव के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ जिन्होंने समय-समय पर पुस्तकें, पत्रिकायें आदि प्रदान करके मेरे मार्ग को सुगम बनाया है।

शोध प्रबन्ध के टंकण हेतु श्री वरमेश्वर राम, भारतीय प्राद्योगिकी संस्थान, दिल्ली, भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अथक परिश्रम व लगन से इस कार्य को पूर्णता प्रदान की है।

मैं अपने पिताश्री को नमन करती हूँ जिनका वरदहस्त और आशीर्वाद मेरे साथ है तथा जिन्होंने अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए मेरे लिए अध्ययन सामग्री जुटाई है।

अन्त में मैं उन समस्त प्राचीन व आधुनिक विद्वानों के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ जिनकी कृतियों से मेरा उत्साहवर्धन हुआ है तथा निरन्तर प्रेरणा व कार्य करने की शक्ति प्राप्त हुई है।

बी० एड० विभाग
हिन्दू कन्या महाविद्यालय, सीतापुर
दिनांक : 31–10–91

शोधकर्त्ता :
—कु० कुसुम लता राठौर

प्रस्तावना

"भारत के भाग्य का निर्माण उसकी कक्षाओं में हो रहा है। विज्ञान और प्राद्योगिकी के इस युग में शिक्षा ही समाज के व्यक्तियों की सफलता, कल्याण और सुरक्षा के स्तर को निर्धारित करती है।"

कोठारी कमीशन के उपरोक्त शब्द शिक्षा के महत्त्व को दर्शाते हैं जिससे शिक्षा की सक्षमता का भान होता है। शिक्षा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास, सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति तथा सभ्यता और संस्कृति के उत्थान के लिए अनिवार्य है। भारतीय विद्वानों ने प्राचीन काल में ही शिक्षा के महत्त्व को समझ लिया था, इसी के फलस्वरूप सुदूर अतीत में शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था की गयी थी। भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली ने विशाल वैदिक साहित्य को सुरक्षित रखा और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में मौलिक विचारकों और विद्वानों को जन्म दिया जिनसे इस देश का मस्तक आज भी यश और गौरव से उन्नत है। विश्व में ऐसा कोई भी देश नहीं है जहाँ ज्ञान के प्रति प्रेम इतने प्राचीन समय में प्रारंभ हुआ हो या जिसने इतना स्थायी और शक्तिशाली प्रभाव उत्पन्न किया हो। वैदिक युग के साधारण कवियों से लेकर आधुनिक युग के बंगाली दार्शनिक तक शिक्षकों और विद्वानों का यह निर्विघ्न क्रम रहा है।

भारत का उत्थान कैसे संभव है? यह प्रश्न उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में नव-जागृति के युग में एक बार सबके मन में छा गया। देश का शिक्षित वर्ग समाज की हर दिशा में कुछ न कुछ नवीन प्रयोग करने में संलग्न हो गया। धर्म-प्रचारकी व समाज-सुधारकों ने कुछ समय तक देशवासियों को एक विशेष मानसिक उलझन की स्थिति में रखा। नव शिक्षित वर्ग ने जहाँ एक ओर यह समझा कि भारत के प्राचीन इतिहास में एक भी ऐसी बात नहीं है जो हमारे लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकती है, इसलिए हमें सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन और जीवन पद्धति में स्वयं को ढालने की आवश्यकता है, तब दूसरी ओर परम्परावादी दूसरे वर्ग ने विशुद्ध वैदिक समाज व्यवस्था को पुनर्जीवित करने के लिए आन्दोलन चलाया। मध्यमार्गी सुधारकों ने प्राचीन व नवीन एक समन्वय प्रस्तुत करने का प्रयास किया। परन्तु उनका यह प्रयास विशेषकर अंग्रेजी-शिक्षित भारत के नवयुवकों को धर्म की विमुखता से रोकने के लिए ही, मुख्य रूप से निर्देशित था। प्राचीन वेदों और उपनिषदों से उन्होंने हिन्दू धर्म का एक ऐसा प्रारूप तैयार करने का प्रयास किया जो साकार उपासना एवं सामाजिक विधि निषेधों से मुक्त हो। लेकिन भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत तक संभवतः अभी कोई नहीं पहुँच पाया था। इस प्राचीन संस्कृति तथा धर्म में

किस प्रकार प्राण प्रतिष्ठा हो, किस प्रकार इस जीवनादर्श में सभी विरोधों के होते हुए भी, उन सबका सह-अस्तित्व संभव हो तथा किस प्रकार जाति व राष्ट्र में जीवन शक्ति की स्फूर्ति फिर से हो सके, इसके लिए कुछ ऐसे व्यक्तियों की प्रतीक्षा थी जो केवल बुद्धि से ही नहीं वरन् अपने आध्यात्मिक अनुभवों से भारत के सनातन धर्म को सही मार्ग पर परिचालित कर सकें। ऐसे ही समय में भारत में सर्वप्रथम श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द का अवतरण हुआ। श्री रामकृष्ण के साधन-सिद्ध अनुभवों के अधिकारी स्वामी विवेकानन्द ने सर्वप्रथम भारत के नवयुवकों को हीन भावना से मुक्त होने का आह्वान किया। भारत की प्रत्येक वस्तु पर गर्व करना उन्होंने ही सिखाया। उन्होंने कहा कि हिन्दू धर्म में प्रचलित कोई भी प्रथा अथवा विधि निषेध निरर्थक नहीं है। परम लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग में प्रत्येक का अपना-अपना स्थान व उपयोगिता है। साकार मूर्तिपूजा भी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि निराकार उपासना। स्वामी विवेकानन्द ने ही सर्वप्रथम इस महान जाति की कमजोरी का सही निदान किया। आध्यात्मिक आदर्श पर अत्यधिक बल देकर भौतिक जीवन की उपेक्षा जो भारत ने युगों से की है, वही वास्तव में हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए एक अभिशाप बन गयी है। एक शक्तिशाली शरीर में ही शक्तिशाली आत्मा का निवास हो सकता है। उपनिषदों में यह स्पष्ट कहा गया है कि शक्तिहीन निर्बल प्राणी आत्म ज्ञान का अधिकारी नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द ने सर्वप्रथम इस बात पर बल दिया कि अपने प्राचीन आदर्श को सम्मुख रखते हुए हमें आधुनिक भौतिक प्रगति को स्वीकार करना होगा, और केवल इतना ही नहीं वरन् भौतिक जीवन की आवश्यकताओं की ओर ध्यान देकर वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति के सोपान पर आगे बढ़कर हमें अपने राष्ट्र को शक्तिशाली राष्ट्र में परिणत करना होगा। अध्यात्म और त्याग का आदर्श संसार को भोग करने वाले नहीं समझ सकते। अशिक्षित, निर्धन जनों के लिए त्याग, वैराग्य तथा मुक्ति का आदर्श कुछ भी अर्थ नहीं रखता। अतः देश को भौतिक उपलब्धियों की आवश्यकता है।

स्वामी विवेकानन्द के पश्चात् भारत भूमि ने श्री अरविन्द, पण्डित मदन मोहन मालवीय, डॉ० राधाकृष्णन तथा महात्मा गांधी आदि अनेक रत्नों को जन्म दिया, जिन्होंने इस पावन भूमि की अनेक व्याथाओं को समाप्त करने का बीड़ा उठाया और अपने अमूल्य विचारों से इसे सिंचित किया। इन महान आत्माओं के विचार सर्वोच्च मानवीय मूल्यों पर आधारित हैं, इसलिए उनका केवल सामयिक महत्त्व ही नहीं रहा है वरन् आज भी हम उनसे उसी प्रकार प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं और अपने देश व समाज को उन्नति की दिशा की ओर अग्रसर कर सकते हैं।

भारतवर्ष में दर्शन का उद्गम असंतोष या अतृप्ति से माना जाता है। हम वर्तमान से असंतुष्ट होकर श्रेष्ठतर की खोज करते हैं, यही दार्शनिक गवेषणा कहलाती है। शिक्षा दर्शन का उद्गम भी कुछ इसी प्रकार से होता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली के प्रति हम असंतोष व्यक्त करते हैं और यह समझते हैं कि वह हमारी आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं है। निहित स्वार्थ, और उत्तर-दायित्वहीन तत्त्व जोर पकड़ते जा रहे हैं, शिक्षित बेरोजगारों की संख्या बढ़ रही है, शिक्षा द्वारा हमारा नैतिक विकास नहीं हो पा रहा है। ऐसी अराजकता की स्थिति में शिक्षा दर्शन ही हमारी सहायता कर सकता है। किसी शैक्षिक सुधार को व्यवहार में लागू करने के लिए चार प्रमुख बातों की जानकारी करना आवश्यक है :—

1. तत्कालीन व्यवस्था का पर्याप्त ज्ञान।
2. उन सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों का ज्ञान जिनमें शिक्षण संस्थाएँ चलती हैं।
3. उक्त स्थिति में सुधार लाने के लिए क्या उपाय काम में लाने चाहिए, तथा उसके लिए किस प्रकार की शक्ति की आवश्यकता है ?
4. शिक्षा की उपयुक्त अवधारणा तथा शिक्षा द्वारा अपेक्षित उपलब्धियों का ज्ञान।

उपरोक्त बातों में से अन्तिम तथ्य दर्शनशास्त्र की परिधि में आता है। किसी एक समाज के जीवन दर्शन की संकल्पना पारम्परिक संस्कृति की रक्षा करना हो सकती है, दूसरे समाज की संकल्पना विकासोन्मुखी भी हो सकती है। दोनों प्रकार की विचारधाराएँ शिक्षा का प्रयोग अपने आदर्शों की प्राप्ति के निमित्त करेंगी। हमारे देश में प्रथम विचारधारा का ही प्राबल्य रहा है, इस कारण नवीन सुधार सफल नहीं हो पाता। नए परिवर्तन के नाम पर प्रचलित प्रणाली में कतिपय परिवर्तन कर लिये जाते हैं। भारत के उत्थान के लिये समग्र देश के सर्वांगीण विकास की आवश्यकता है। दार्शनिक इतिहास में भी जीवन दर्शन आध्यात्मिकता से व्यावहारिकता की ओर अग्रसर होता है। इसके लिये सर्वाधिक सशक्त साधन हमारी शिक्षा व्यवस्था है। अतः इस लक्ष्य प्राप्ति हेतु भारतीय दार्शनिकों की शिक्षा की अवधारणा का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

1

शिक्षा व दर्शन

प्राचीन भारतीय साहित्य में 'शिक्षा' षड् वेदांगों में से एक वेदांग को कहा जाता था। उस समय शिक्षा वेद मंत्रों के पठन पाठन तक ही सीमित रही इस कारण 'शिक्षा' शब्द एक संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त होता रहा। आज शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है जिसमें स्वदेशी व विदेशी अनेक सम्प्रत्यय सम्मिलित किये जाते हैं इस कारण इसके आयाम विश्वव्यापी हो गए हैं। जीवन के प्रत्येक पक्ष से जुड़ी शिक्षा आज की प्राथमिक आवश्यकता बन गई है इसलिए शिक्षा के प्रारूप पर विचार करने से पूर्व यह जानना अनिवार्य हो जाता है कि किसे? व किस प्रकार? दी जाए। इन प्रश्नों के उत्तर हम अपने दार्शनिक चिन्तन में पाते हैं, क्योंकि समस्त मानव प्रक्रियाओं व संस्थाओं का आधार दार्शनिक सिद्धान्त है। दार्शनिक सिद्धान्त से तात्पर्य है कि समस्त व्यापारों का कोई न कोई निश्चित उद्देश्य है, इसके निश्चित कर्ता व भोक्ता हैं, उनकी निश्चित कार्यप्रणाली है तथा उनकी कोई निश्चित व्यवस्था व कार्यक्रम है। अतः एक सार्वभौमिक सिद्धान्त के आधार पर किसी कार्य के उद्देश्य, पद्धति, प्रणाली व कार्यक्रम का संयोजन होता है। इसलिए शिक्षा सम्बन्धी विचार प्रक्रिया के अन्तर्गत भी उसके उद्देश्य, साध्य व साधन तथा कार्यप्रणाली विचारणीय विषय है।

व्यक्ति का जीवन दर्शन व शैक्षिक विचारधारा एक दूसरे से अभिन्न हैं क्योंकि शिक्षा का हेतु जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति ही है। अतः शिक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर दार्शनिक विचारधारा में खोजे जाते हैं। शैक्षिक विचारधारा को व्यावहारिक रूप प्रदान करते समय भी हमारे सम्मुख अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनको हल करने के लिए भी हमें तत्व चिन्तन व ज्ञान-मीमांसा को आधार बनाकर नवीन सिद्धान्तों का निरूपण करना होता है। तत्वज्ञान के अन्तर्गत सत्य का अध्ययन किया जाता है और उसमें दर्शन शास्त्र के चिरन्तन प्रश्नों जैसे— जगत्, मनुष्य व ईश्वर के स्वरूप के विषय में जानकारी प्राप्त होती है, जिसके आधार पर शिक्षा की संकल्पना का निर्माण किया जाता है। उदाहरणार्थ व्यक्ति की प्रकृति यदि भौतिकवादी है और वह आत्मा, ईश्वर आदि पारमार्थिक पहलुओं में विश्वास नहीं रखता है तो उसे

इन विषयों से सम्बन्धित शिक्षा देना व्यर्थ है, अतः शिक्षा के पाठ्यक्रम में उक्त विषय को स्थान नहीं दिया जाएगा।

शिक्षा सम्बन्धी योजना बनाते समय उसकी प्रामाणिकता पर ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि शिक्षा द्वारा सत्य की जानकारी ही दी जानी चाहिए। इसमें ज्ञानमीमांसा मार्गदर्शन करती है। ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत हमें प्रामाणिक व अप्रामाणिक ज्ञान के भेद के विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध होती है। कुछ दार्शनिक ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से प्राप्त ज्ञान को प्रामाणिक मानते हैं, जबकि कुछ विद्वान् तर्क पर आधारित ज्ञान को ही प्रामाणिक मानते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट ने उन दोनों विचारधाराओं को मिलाने का प्रयास किया है। कान्ट के अनुसार ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य जगत् से ज्ञान प्राप्त करती हैं और मन उनको विशेष रूप प्रदान करता है। शिक्षा के क्षेत्र में ज्ञानमीमांसा हमें इस निर्णय को लेने में सहायता प्रदान करती है कि किस प्रकार का ज्ञान हम प्राप्त करें और उसको प्राप्त करने में कौनसे साधनों का प्रयोग करें। अतः पाठ्यक्रम का निर्धारण करते समय तथा शिक्षण विधियों का चयन करते समय उपरोक्त का अध्ययन करना अनिवार्य हो जाता है।

शिक्षा सम्बन्धी गुरुतर प्रश्नों में एक आचार व्यवहार से सम्बन्धित प्रश्न है। मानव के आदर्श व्यवहार की व्याख्या नीतिशास्त्र का विषय है। शिक्षा के क्षेत्र में जब हम कहते हैं कि शिक्षा बालक के व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया है तब हमारा तात्पर्य बालक के उचित दिशा में विकास से होता हैं, क्योंकि हम बुरी शिक्षा देना नहीं चाहेंगे। इसलिए शिक्षा के अन्तर्गत अच्छाई का विचार स्वयमेव ही छिपा हुआ है। अतः शिक्षा के प्रतिमानों का निर्धारण करते समय न्यायसंगतता व अच्छाई की विवेचना आवश्यक है और अनुशासन सम्बन्धी अवधारणा, विद्यालय संगठन, छात्रों के कर्त्तव्य व अधिकार, शिक्षकों व छात्रों का सम्बन्ध आदि सभी विषय इसके विभिन्न विचारणीय पहलू हैं। इनके निर्धारण में नीतिशास्त्र बहुत सहायता करता है। इस प्रकार जीवन में अनवरत चलने वाली शैक्षिक प्रक्रिया को सत्यं, शिवम्, सुन्दरम्—रूप प्रदान करने में दर्शन आधार रूप में कार्य करता है।

दार्शनिक चिन्तन तर्कसंगत होते हुए भी मानवीय होता है, अतः विभिन्न दार्शनिक विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति का अपना जीवन दर्शन होता है जिसके अनुसार वह अपना जीवनयापन करता है। पाश्चात्य दार्शनिक हक्सले का भी यही विचार है। वह कहते हैं कि यह बात चिन्तनशून्य लोगों के सम्बन्ध में भी सत्य हैं। तत्वज्ञान के बिना जीना असम्भव है; तत्वचिन्तन और तत्वचिन्तनशून्यता के बीच हमारे पास कोई विकल्प नहीं है, विकल्प केवल अच्छे तत्वचिन्तन और बुरे तत्वचिन्तन के बीच

है। हमारे भारतीय विद्वानों ने अपने जीवन दर्शन के अनुरूप शिक्षा की विभिन्न योजनाएँ बनाई हैं और उसके विभिन्न पहलुओं पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनमें से कुछ शिक्षाविदों ने अपने विचारों को व्यावहारिक रूप प्रदान कर शिक्षा क्षेत्र में अपना बहुमूल्य रचनात्मक योगदान दिया है। आगामी अध्यायों में उनका विवरण प्रस्तुत है।

२

भारतीय शिक्षा दार्शनिकों का जीवन परिचय एवं दार्शनिक विचारधारा

1. शंकराचार्य— दार्शनिक विचारधारा
2. महर्षि दयानन्द— दार्शनिक विचारधारा
3. स्वामी विवेकानन्द— धार्मिक दार्शनिक विचारधारा
4. रवीन्द्रनाथ— जीवन दर्शन
5. पण्डित मदन मोहन मालवीय— दार्शनिक विचारधारा
6. श्री अरविन्द— दार्शनिक चिन्तन
7. महात्मा गांधी— सर्वोदय दर्शन
8. डा० राधाकृष्णन— दार्शनिक चिन्तन
9. आचार्य विनोबा भावे— सर्वोदय दर्शन

भारतीय शिक्षाशास्त्री— जीवन परिचय और दार्शनिक विचारधारा

शंकराचार्य

भारतीय दर्शन में आज शंकराचार्य का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। विदेशों में तो शंकराचार्य के वेदान्त दर्शन को ही भारतीय दर्शन मान लिया जाता है। वेदान्त भारतीय दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है। देश-विदेश में भारतीय दर्शन ने शंकराचार्य के नाम से जितना यश प्राप्त किया है उतना किसी अन्य दार्शनिक से नहीं किया। यूरोप व अमेरिका में आज वेदान्त के अनुयायियों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। वेदान्त पर आधारित शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व आकर्षक है।

जिस समय आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ उसके कई सौ वर्ष पूर्व ही भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार हो चुका था। बौद्ध धर्म को राजधर्म होने का गौरव भी प्राप्त हुआ था और देश के अतिरिक्त विदेशों में भी बौद्ध धर्म की पताका फहरा रही थी। कालान्तर में बौद्ध धर्म में अनेक खराबियाँ आने लगीं। बौद्ध मठों में भिक्षुणियों का प्रवेश बहुत अधिक होने लगा था जिसके कारण भ्रष्टाचार व्याप्त हो रहा था। बौद्ध विहार भ्रष्टाचार के केन्द्र बन गये थे और जनता के दुख-दर्द की उन्हें कोई परवाह नहीं थी। भिक्षु लोग अतुल सम्पत्ति के स्वामी बन गए थे और उनमें सामन्ती प्रथा का बोलबाला था।

जनता में वेद-निन्दा, नास्तिकता और अनाचार फैल रहा था, नैतिक नियमों की अवहेलना हो रही थी, जिससे राष्ट्र में दुर्बलता व्याप्त थी और बाहरी आक्रमणों का खतरा सदैव बना रहता था। ऐसी परिस्थिति में भारतीय समाज को किसी ऐसे राष्ट्रनायक की आवश्यकता थी जो उनमें तेज और उत्साह भर सके, तथा उनमें पुनः आस्तिकता, श्रद्धा, भक्ति आदि की स्थापना कर दे। आद्य जगद्गुरु श्री शंकराचार्य का ऐसे ही समय में अवतरण हुआ। उनसे जनता को इतनी आशा बंधी कि उसने इन्हें भगवान शंकर का अवतार मान लिया। उस समय समाज उपासना को केन्द्र मानकर अलग-अलग वर्गों में बंट गया था, कोई वर्ग विष्णु उपासक था तो दूसरा लक्ष्मी की उपासना करता था। सभी अपने-अपने देवता को इष्ट मानकर दूसरे की आलोचना में तत्पर थे। शंकराचार्य ने उन्हें एक ही ब्रह्म की सन्तान बताकर मतभेद समाप्त करने का उपदेश दिया।

यमोपासकों से उन्होंने कहा कि आप लोग चिन्हों को छोड़कर अद्वैत ब्रह्म-परायण हो जाइए। यम को देवता-विशेष मानकर निष्काम मात्र से उसकी उपासना की जा सकती है क्योंकि उससे चित्त शुद्धि में सहायता मिलेगी। चित्त शुद्धि के बिना ब्रह्मात्मक ज्ञान दृढ़ नहीं होता। इस कारण चित्त शुद्धि के द्वार रूप वेदोक्त कर्मानुष्ठान करने से आप लोगों का कल्याण होगा। चित्त शुद्धि क्रम से ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठित होने से ही मुक्तिलाभ सम्भव होता है, केवल देवोपासना से मुक्ति नहीं होती।"[1]

इसी प्रकार महालक्ष्मी उपासकों के समक्ष ब्रह्म का महत्त्व प्रकट करते हुए उन्होंने उपदेश दिया कि ऊपरी दृष्टि से आपका मत ही सत्य प्रतीत होता है परन्तु यथार्थ तत्त्व दूसरा ही है। परमात्मा ही एकमात्र सृष्टिकर्ता है, वह एक अद्वितीय सत्य स्वरूप है, वही परम तत्त्व है, वह सच्चिदानन्द स्वरूप और त्रिकाला बाधित सदा विद्यमान है। प्रकृति उस परमात्मा की शक्ति है और उसके अधीन है। अतः प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है इसलिए मुक्ति देने वाली भी नहीं हो सकती। वह 'ब्रह्मास्मि' 'इस ज्ञान से ही मुक्ति होती है। ब्रह्मभाव अर्थात् ब्रह्मात्म बोध ही मुक्ति है। जो लोग प्रकृति की उपासना करते हैं अथवा विभिन्न देवी-देवताओं के उपासक हैं उनको विभिन्न लोकादि की प्राप्ति हो सकती है और यदि उपासना निष्काम भाव से हो तब चित्त शुद्धि भी होती है। अतः महालक्ष्मी की उपासना निरर्थक नहीं है। निम्न कोटि के साधकों के लिये इसका भी प्रयोजन है क्योंकि सभी लोग उस परम मत्त्व को ग्रहण करने के अधिकारी नहीं हैं। परन्तु मुक्ति आकांक्षी लोगों के लिए यह मार्ग उचित नहीं है। यदि आप लोग आवागमन के चक्र से सदैव के लिए मुक्त होना चाहते हैं तो शुद्धाद्वैत विधा परायण हो जाइये। अद्वैत ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग से मुक्ति सम्भव नहीं है।[2]

आचार्य शंकर ने किसी निजी मत का प्रचार नहीं किया, उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मवाद ही उनका सिद्धान्त था। उनके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है वह कारणहीन कारण है। सत्य स्वयंभू, अपरिवर्तनीय और बाधरहित होता है। इसके विपरीत जो है इसे असत्य समझना चाहिए। हमारे अनुभव की वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं अतः वह असत्य हैं। क्योंकि वह न तो उत्पत्ति के पूर्व थीं और न ही बाद में रहेंगी। संसार की प्रत्येक वस्तु आभास है, सत्य

---

1. स्वामी अपूर्वानन्द— 'आचार्य शंकर', प्रकाशक श्री रामकृष्ण आश्रम', नागपुर, 1969, पृष्ठ 210

2. स्वामी अपूर्वानन्द— 'आचार्य शंकर', प्रकाशक श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1969, पृष्ठ 225

नहीं है। सम्राट हर्ष ने भी शंकराचार्य से प्रभावित होकर नैयायिकों की संसार को सत्य बताने वाले सभी सम्प्रदायों को अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया था। शंकराचार्य ने वस्तुओं की व्यावहारिक सत्यता को स्वीकार किया है। उन्होंने प्रतिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक तीन प्रकार की सेवाएँ बताई हैं :—

1. प्रातिभासिक सत्ता भ्रम है और असत्य है। हम सब लोग उसको असत्य ही मानते हैं किन्तु हम यह कभी नहीं कह सकते कि वह निराधार है। भ्रम तब तक सत्य प्रतीत होता रहता हैं जब तक यथार्थ ज्ञान द्वारा उसका बाध नहीं हो जाता।
2. व्यावहारिक सत्ता यह जगत है। जागृत अवस्था की सामान्य वस्तुओं का स्वप्न की वस्तुओं की भांति बौध नहीं होता। जागृत अवस्था की निभ्रान्त वस्तुएँ सभी के सामान्य अनुभव में आती हैं। इन यथार्थ वस्तुओं की व्यावहारिक उपयोगिता हमारे दैनिक अनुभव के विषय हैं।
3. ब्रह्म स्वयंभू, कूटस्थ एवं स्वयं प्रकाश स्वरूप है अतः यही स्वभाव पारमार्थिक या परम सत्ता है।

बौद्ध नागार्जुन ने भी उपरोक्त वर्गीकरण किया है और उनसे भी बहुत पहले यह छान्दोग्य उपनिषद् के रचनाकाल में भी विद्यमान था। उस समय यह उपनिषद् केवल मिट्टी को ही सत्य कहता था। शंकराचार्य के मतानुसार इस विश्व को न नितान्त असत्य, न नितान्त सत्य और न केवल मानसिक रचना ही कहा जा सकता है। डॉ० रामस्वरूप सिंह नौलखा का कथन है कि "शंकराचार्य ने जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य ब्रह्म का या आत्म का साक्षात्कार करना माना है। उनके विचार से ब्रह्म पूर्ण सत्य ही नहीं वरन् पूर्ण आनन्द भी है। ब्रह्म की प्राप्ति से बड़ा कोई लाभ नहीं है और उसके सुख से बड़ा कोई सुख तथा उसके ज्ञान से उच्च कोई ज्ञान नहीं है।" ब्रतज्ञान प्राप्त करना मनुष्य मात्र का सबसे ऊँचा आदर्श है। यही हमारा सर्वोच्च लक्ष्य या अंतिम गन्तत्व है, क्योंकि कूटस्थ और अविनाशी होने के कारण वह पूर्णतः ज्ञान स्वरूप और मुक्ति स्वरूप है। यथापि ब्रह्म में पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ आदि का कोई भेद नहीं है किन्तु हम मनुष्यों के लिए वही परम शुभ है, परम आनन्द है, सर्वोच्च ज्ञान है ओर पूर्ण सत्य है। उस एक में ही सब प्रकार की पूर्णताएँ निहित हैं। वह सभी दोषों से मुक्त है और सभी विक्षेपों से परे है। उसका ज्ञान परम सत्य का ज्ञान ही नहीं वरन मानव जीवन के परम पुरुषार्थ का ज्ञान है। अतः ब्रह्म या मानव के सत्य स्वरूप का साक्षात्कार सभी मनुष्यों का सर्वोच्च लक्ष्य है और सभी जीवधारियों में मनुष्य ही इस कार्य के लिए उपयुक्त है। जो व्यक्ति अपने आत्म स्वरूप को जान लेता है उसका जीवन सफल है और जो इस कार्य

में असफल रहता है उसकी बहुत बड़ी हानि होती है। आत्मज्ञान प्राप्त करने से बड़ी कोई सफलता नहीं है। सभी वेद वाक्यों और शास्त्र उपदेशों में इसी को चरम लक्ष्य बताया है। "अतः मानव जीवन का सर्वोच्च मूल्य आत्म साक्षात्कार ही है, वह सभी मूल्यों की कसौटी है। हमारे सभी कार्यों का मूल्यांकन अन्त में इसी मापदण्ड से होगा। जो कार्य इसमें सहायक हैं उन्हें शुभ कार्य कहा जाएगा और जो इसमें बाधक हैं उन्हें अशुभ या बुरा कार्य कहा जाएगा। भारतीय दर्शन के अनुसार नैतिक शुभ वही है जो अनन्त के साक्षात्कार में सहायक हो और नैतिक अशुभ वह है जो इसका विरोधी हो।"[1]

शंकराचार्य के वेदान्त दर्शन की प्रमुख बातें निम्नलिखित कही जा सकती हैं :—

1. ब्रह्म को छोड़कर सभी पदार्थ असत्य हैं, केवल ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म पर सभी पदार्थों का आरोप होता है, आरोप का अधिष्ठान ब्रह्म है।
2. ब्रह्म के स्वरूप को जानने पर दो प्रकार के लक्षण मिलते हैं— (अ) स्वरूप लक्षण, (ब) तटस्थ लक्षण। स्वरूप लक्षण पदार्थ के वास्तविक, तात्विक एवं सत्य रूप का परिचय देता है जबकि तटस्थ लक्षण कुछ समय तक आने वाले आकस्मिक एवं आगन्तुक गुणों का परिचय देता है।
3. ब्रह्म का स्वरूप लक्षण सत्, चित्, आनन्द है। ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का भी कारण है, यह उसका तटस्थ लक्षण है।
4. पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है और सभी उपाधियों व आकारों से रहित है। इस रूप में वह निश्चित और अखण्डनीय है।
5. व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म सगुण है। जीव ईश्वर की कल्पना उपासना के लिए करता है। सगुण रूप में उपास्य ब्रह्म में दया, करुणा आदि गुण देखे जाते हैं।
6. ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण ही है, अविद्या के कारण उसको माना जाता है।
7. समस्त जगत ब्रह्म का विवर्त है। तत्त्व में यदि अतत्त्व की प्रतीति हो तो उसे विवर्त कहा जाता है। विवर्त में सभी पदार्थ जल के

---

1. डॉ० रामस्वरूप सिह नौलखा— "आचार्य शंकर : ब्रह्मवाद" किताब घर, आचार्य नगर, कानपुर, 1975, पृ० 250

ऊपर बुदबुदे के समान मिथ्या हैं अतः जगत का समस्त आकार मिथ्या है।

8. ब्रह्म जगत की रचना लीला अथवा क्रीड़ा के लिए करता है और स्वयं जगत के रूप में विवर्तित होता है।
9. ब्रह्म को उत्पन्न करने वाला कोई नहीं है, वह नित्य है, उसका कभी अभाव नहीं होता।
10. सृष्टि की उत्पत्ति माया से होती है। माया और अविद्या शंकराचार्य के मतानुसार समानार्थी हैं। माया परमेश्वर की बीज शक्ति है। माया विहीन परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती, माया रहित ब्रह्म जगत की सृष्टि नहीं करता। माया ब्रह्म के साथ विद्यमान है और सत्, रज व तम गुणों से युक्त है। यह न सत् है, न असत् है वरन् अनिर्वचनीय है अर्थात् यह सत् या असत् के रूप में वर्णित नहीं की जा सकती।
11. निर्गुण ब्रह्म माया से आवृत्त होने पर ईश्वर कहलाता है। ईश्वर ही जगत का निमित्त व उपादान कारण है।
12. जगत भोग्य है और आत्मा भोक्ता है। भोक्ता और भोग्य का यह भेद व्यावहारिक है।
13. शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोगने वाले आत्मा को आचार्य शंकर जीवन कहते हैं। यह चैतन्य है। अपनी मूल प्रकृति में जीव शान्त होता है किन्तु बुद्धि से युक्त होने पर वह चंचल-सा दिखाई पड़ता है, क्योंकि बुद्धि चपला है।
14. ब्रह्म और आत्मा में भेद नहीं है। जीव शुद्ध रूप में चैतन्य और ब्रह्म स्वरूप ही है। इसीलिए उनके दर्शन को अद्वैत दर्शन कहा जाता है।
15. मानव का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति होना चाहिए। सांसारिक बन्धनों के नाश से ही मोक्ष संभव है। वस्तुतः ज्ञान की साधना से ही मुक्ति सुलभ है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती

दार्शनिक विचारधारा :

महर्षि दयानन्द ने एकमात्र वैदिक ज्ञान को ही सर्वोत्तम माना है, तथा वेदों को ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक घोषित किया है। महर्षि दयानन्द के समय में वेदों का अर्थ लौकिक संस्कृत के व्याकरण के आधार पर निकाला जा रहा था जिसकी उन्होंने घोर निन्दा की और वैदिक संस्कृत का सही अर्थ जनता

तक पहुँचाया। स्वामी जी भारतीय जनता की दुर्दशा देखकर अत्यन्त दुखी थे जो कि अनेक धार्मिक कर्मकाण्डों में जकड़ गई थी और मूर्ति पूजा को ही सच्ची ईश्वर भक्ति मानकर, वास्तविक ईश्वर से अनभिज्ञ हो गयी थी। हिन्दू जाति बौद्धिकता से दूर अनेक कर्मकाण्डों में लिप्त ब्राह्मण पुजारियों के चंगुल में फंसी थी। ऐसे समय में स्वामी जी ने वैदिक मंत्रों के प्रकाश से हिन्दू जनता के मस्तिष्क के अन्धकार को दूर किया। उन्होंने एक ही सर्वशक्तिमान निराकार ईश्वर की भक्ति की शिक्षा प्रदान की और आर्य जाति को ब्राह्मण पुजारियों के चंगुल से मुक्त करके बुद्धि के उच्च आसन पर बैठने की प्रेरणा दी।

स्वामी जी के अनुसार ईश्वर, आत्मा व प्रकृति अनादि है तथा यह तीनों ही यथार्थ सत्ताएँ हैं। वह अपने दर्शन को वैदिक दर्शन ही मानते हैं। ईश्वर, जीव और प्रकृति की अनादि सत्ता मानने के कारण दर्शन की दृष्टि से वह त्रैतवादी कहे जाते हैं। स्वामी जी के अनुसार 'ईश्वर— सत्, चित व आनन्द का प्रतीक है। वह अजर है, अमर है, सर्वशक्तिमान है, निराकार है, पक्षपातरहित है, अन्त, अमर व अपरिवर्तनीय है। वह सर्वज्ञानी व सनातन है, अजन्मा है तथा पवित्र है। वह जीवों का पालनकर्ता व संहारक दोनों है। वह ही जीवों के कार्यों का निर्णायक भी है। ईश्वर की ही भाँति आत्मा भी अमर है तथा उसकी अपनी पृथक सत्ता है। आत्मा ईश्वर से भिन्न है, उसकी चेतना व अनुभूतियाँ सीमित हैं। उसको आनन्द व वेदना की अनुभूति होती है। अज्ञान के कारण आत्मा मोह पाश में फँस जाता है जिसके कारण जीव अनेक पाप करता है। मोह माया का पाश हटने पर ही व्यक्ति मुक्ति के मार्ग को प्राप्त कर सकता है। ईश्वर व आत्मा में ऐक्य नहीं है, इसी प्रकार प्रकृति की भी पृथक सत्ता है। प्रकृति भी अनादि है और सृष्टि का भौतिक आधार है। स्वामी जी का त्रैतवादी विचार योगदर्शन पर आधारित है जिसमें सांख्य दर्शन के प्रकृति व पुरुष दो सत्ताओं के साथ-साथ ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार किया गया है।

महर्षि दयानन्द ने सदा इस बात पर बल दिया है कि वेदों का दृष्टिकोण सत्य के वैज्ञानिक अन्वेषण का रहा है। वैदिक संस्कृति स्वस्थ व स्वच्छन्द जीवन के ऐसे मूल्यों पर आधारित रही है जिसमें व्यक्ति व समाज दोनों को अपने सम्पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त होता है। यह व्यक्ति व समाज, व्यक्ति व परिवार, परिवार और समाज, व्यक्ति व राष्ट्र, व्यावहारिक व आध्यात्मिक तथा आत्मा व ब्रह्म के उचित संतुलन पर प्रतिष्ठित है। समाज ने व्यक्ति के विकास की सम्पूर्ण सम्भावनाओं को अवसर प्रदान किया है और व्यक्ति ने अपने दायित्व को अनुभव करते हुए पूर्ण अनुशासित ढंग से समाज में अपनी रचनात्मक भूमिका का निर्वाह किया है। वर्तमान समय में इन वैदिक

सामाजिक मूल्यों के ह्रास से स्वामी जी अत्यन्त दुखी थे। स्थान-स्थान पर जाति व धर्म के नाम पर होने वाले झगड़ों को समाप्त करने के लिए उन्होंने मानव जाति को एक निराकार परम ब्रह्म की उपासना की शिक्षा दी। अपने भाषणों में उन्होंने कहा कि "भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय व मत के लोग एक अखण्ड सच्चिदानन्द अनन्त स्वरूप परमात्मा के भिन्न-भिन्न-विष्णु, शिव, शक्ति आदि नामों को लेकर आपस में लड़ते झगड़ते हैं, एक दूसरे के नाम की निन्दा करते हैं। ये मन्दगति तनिक भी अपनी बुद्धि से काम नहीं लेते कि ये सभी नाम एक ही सर्वशक्तिमान के अनेक गुण-कर्मों के ही वाचक हैं। इन विभिन्न नामों से एक ही ब्रह्म की विशेषताओं का बोध होता है इसलिए अपने सम्प्रदाय विशेष को सर्वोच्च मानना मन्द बुद्धि का परिचायक है।" इसीलिए वह उपदेश देते हैं कि 'अपने प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त करने के लिए पुनः वेदों की ओर लौटो और उनके यथार्थ अर्थ को जानो। साम्प्रदायिक लोग अपनी मनगढ़न्त व कपोलकल्पित मान्यताओं की पुष्टि वेद मन्त्रों से करते हैं। वैष्णव कहते हैं कि जो मनुष्य विष्णु भगवान के पाँच चिह्नों से अपने को दग्ध करवाता है उसका कल्याण होता है, ऐसा वेदों में कहा गया है। जिस वेदमन्त्र की ओर उनका संकेत है उसमें आए हुए 'अतप्त तनु' के अर्थ का उन्होंने अनर्थ कर दिया है। उसका वास्तविक अर्थ इस प्रकार है— "हे ब्राह्मण के स्वामी! तेरा शुद्ध और पवित्र तेज संसार में सब कहीं फैला हुआ है। शुद्ध स्वरूप प्रभु! तू हमारे रोम-रोम में समाया हुआ है। परन्तु जिसने तपस्या अर्थात् संयम द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर लिया है वह तेरे इस व्यापक पवित्र रूप तेज को प्राप्त नहीं कर पाता। केवल तपस्वी ही तेरे इस शुद्ध स्वरूप की भली-भाँति अनुभूति और उपलब्धि करते हैं।"[1]

स्वामी जी ने क्रान्ति की अपेक्षा सुधार को प्राथमिकता दी और वैदिक धर्म के सूखे वृक्ष को हरा-भरा करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने स्वयं किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की वरन् आर्य समाज संस्था के माध्यम से वैदिक ज्ञान को घर-घर पहुँचाने का प्रयास किया। वेदों को सत्य विद्या की पुस्तक सिद्ध करके उन्होंने वेदों का सही भाष्य प्रस्तुत किया। बम्बई में उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की, और बाद में उसे लाहौर व अन्य स्थानों पर भी संगठित किया गया तथा धीरे-धीरे आर्य समाज की शाखाएँ सारे देश में फैल गयीं।

स्वामी जी भारतीय संस्कृति के मूल रूप को ही स्वीकार करते हैं। किसी अन्य संस्कृति का किञ्चित् मात्र भी मिश्रण उन्हें स्वीकार्य नहीं है। पुनरुत्थान-काल के अन्य विचारकों ने समन्वयवादी विचारधारा को अपनाया है। वह

1. यदुवंश सहाय— महर्षि दयानन्द, पृ. 80

भारतीय संस्कृति को समन्वयशील मानते हैं इसलिए अन्य सभ्यताओं व संस्कृतियों की उपयोगी विचारधाराओं को भारतीय संस्कृति में सम्मिलित करने में प्रयत्नशील रहे हैं। लेकिन महर्षि जी की दृष्टि में "यह समन्वय सत्य को लेकर समझौता करने की मनोवृत्ति का परिचायक है और इस मनोवृत्ति से कोई भी समाज गतिशीलता और सृजनात्मकता को प्राप्त नहीं कर सकता। समन्वय दो विचारों, मूल्यों व परम्पराओं की मिलावट है, जोकि हेय ही नहीं वरन् किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की व्यक्तित्व हीनता का परिचायक भी है।"[1]

स्वामी जी ने अनुभव किया कि भारतीय समाज जितना प्रबुद्ध होता जा रहा है उतना ही वह पश्चिमी संस्कृति की ओर झुकता चला जा रहा है। यहाँ तक कि भारतीय नेताओं ने भी पश्चिमी ढाँचे पर भारतीय नव-निर्माण की नींव रखी है। अपनी सभ्यता व संस्कृति के प्रति भारतीयों में हीन भाव है और अपनेपन के गौरव की रक्षा वह केवल भारतीय दर्शन, धर्म व अध्यात्म के सम्बल से कर पाते हैं। किन्तु, वह कहते हैं कि वेदकाल के मनीषियों ने भौतिक जीवन की उपेक्षा करके आध्यात्मिक विकास पर कभी बल नहीं दिया था। उन्होंने आध्यात्मिक सत्यों के साथ-साथ भौतिक सत्यों की खोज भी उसी लगन व परिश्रम से की थी। अतः उनके द्वारा की गयी समस्त खोज वैज्ञानिक है। महर्षि आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में भी उन्नति के शिखर को प्राप्त करने की आकांक्षा रखते थे क्योंकि आज के युग में विज्ञान पर अधिकार प्राप्त करके ही कोई समाज उन्नति कर सकता है। इसलिए वह चाहते थे कि हमारे विद्यार्थी विदेशों में जाएँ और वहाँ से वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करके वापस अपने देश में आकर उसका प्रचार करें।

स्वामी जी ने विभिन्न धर्मों का भी अध्ययन किया और उनकी बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि ईश्वर सृष्टिकर्त्ता, एक और अनादि है। वह एकरस है और उसमें कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता इसलिए उसके आदेश व नियम कभी नहीं बदलते। अतः धर्म भी आदि सृष्टि से वर्तमान है और सदा रहेगा। धर्म संसार के सभी मतों में समान रूप से पाया जाता है इसलिए धर्म के नाम पर रक्तपात करना नितान्त अनुचित है। किन्तु वास्तव में मतावलम्बियों ने उठने-बैठने, खाने-पीने और अपने-अपने रीति-रिवाजों को धर्म मान रखा है और अपनी परम्पराओं को श्रेष्ठ सिद्ध करके दूसरे व्यक्तियों पर लादने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति का समूल नाश किया जाना चाहिए और सब मतों के विद्वानों को पक्षपात छोड़कर सर्वतंत्र

---

1. यदुवंश सहाय— 'महर्षि दयानन्द', पृ. 26

सिद्धान्त का निर्माण करना चाहिए जिसमें सभी मतों के सत्य व अनुकूल बातें सम्मिलित हों तथा एक दूसरे के विपरीत बातों को छोड़ देना चाहिए। इससे जगत का पूर्ण हित होगा। वह कहते हैं कि विद्वानों का विरोध अविद्वानों में पहुँचकर अधिक हानिकारक हो जाता है। इससे केवल स्वार्थी लोगों को ही लाभ होता है। इसी कारण से वे सार्वजनिक हित के लक्ष्य की बातों में विरोधी बनकर खड़े हो जाते हैं।

सत्य आचरण के सम्बन्ध में स्वामी जी ने अपने सुविख्यात ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है कि जो ठीक आचरण का ज्ञान रखना चाहते हों उन्हें वेदों से शिक्षा लेनी चाहिए। विना वेदों की शिक्षा के यह निश्चित करना असम्भव है कि कौन-सा आचरण ठीक है और कौन-सा ग़लत। आचरण को ठीक रखने के लिए चार प्रामाणिक साधन हैं— 'प्रथम वेद हैं; द्वितीय ऋषियों द्वारा रचित स्मृतियाँ जो वेदों के अनुकूल हों जैसे मनुस्मृति; तृतीय उत्तम पुरुषों के आचरण जो हमें सृष्टि के आरम्भ से महापुरुषों द्वारा मिले हैं और जिन्हें वेदों के माध्यम से ईश्वर द्वारा मान्यता मिली है; चतुर्थ वह जो हमारी आत्मा कहे।' इसलिए महर्षि कहते हैं कि "सब लोगों को वेद पढ़ना और सुनना चाहिए। शूद्रों को भी वेद पढ़ने का उसी प्रकार अधिकार है जिस प्रकार कि सवर्णों को। जिस प्रकार ईश्वर ने समस्त प्राणियों के लिए पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्रमा, सूर्य व अन्य वस्तुओं को बनाया है उसी प्रकार उसने सब लोगों के लिए वेदों की भी रचना की है।"[1]

अच्छे व्यवहार की परख के लिए महर्षि ने एक बहुत ही सरल उपाय बताया है कि जो व्यवहार तुम्हारे प्रतिकूल है वह दूसरों के प्रति न करो। यदि तुम्हारी सम्पत्ति का कोई अपहरण करता है, मारता है या शरीर को क्षति पहुँचाता है तो तुम्हें कष्ट होता है, अतः तुम भी दूसरे को गालियाँ न दो, न ही किसी प्रकार की क्षति पहुँचाओ।[2]

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द ईश्वर को सर्वव्यापक, सर्वगुणसम्पन्न और सर्व सुखों का भण्डार मानते हैं। उनका विश्वास है कि ये तीनों चीजें एक ही हैं। जीवन की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि बिना ज्ञान और प्रेम के जीवन संभव नहीं हो सकता। हम जो चाहते हैं वह है जीवन, ज्ञान और परम सुख का समन्वय, क्योंकि यहीं हमारे जीवन का लक्ष्य है। हम शरीर और

1. सत्यार्थ प्रकाश, पृ. 79, 110, 111
2. यदुवंश सहाय— महर्षि दयानन्द, पृ. 170

आत्मा का एकीकरण चाहते हैं न कि एकांगी विकास। यह संभव है कि मनुष्य में शंकर की बुद्धि और बुद्ध का हृदय हो। मैं आशा करता हूं कि हम सब इस एकीकरण को प्राप्त करने का प्रयास करेंगे।[1]

युवावस्था में उन्होंने देश की आर्थिक व सामाजिक उन्नति तथा पश्चिम में वार्षिक आजादी के लिए जोरदार आवाज उठाई। अपनी विदेश यात्राओं से उन्होंने यह अनुभव किया था कि भूख से पीड़ित भारतीयों को बाहरी देशों से यथेष्ट सहायता की अपेक्षा करना निरीह मूर्खता है। वा; इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि अपनी विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिए भारत को अपने पैरों पर खड़ा होना होगा। अतः उन्होंने निश्चय किया कि वे भारतीयों को आत्म विश्वास तथा आत्म निर्भरता की शिक्षा देंगे। वह चाहते थे कि भारतीय अपने मन से हीनता की भावना निकाल फेंके। उन्होंने भारतीय नवयुवकों को सम्बोधित करते हुए कहा कि अपने हृदय को शक्तिशाली बनाओ। हमें शक्तिशाली हाथों, पैरों और फौलादी स्नायुओं की आवश्यकता है। हम लोग काफी समय तक रोते कलपते रहे हैं। अब रोने का समय नही है, अपने पैरों पर खड़े हो तथा मनुष्य बनो। हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो हमें मनुष्य बनाये और हमें उन शिक्षाओं की आवश्यकता है जो हमें मनुष्य बनने में सहायता दें और हमारे मनुष्यत्व का सर्वांगीण विकास करें।

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक समाज की विस्तृत आवश्यकताओं को समझते थे और उनकी पूर्ति हेतु एक देश का दूसरे देश से परस्पर सम्पर्क करना आवश्यक मानते थे तथा उसके लिए विश्व मैत्री का प्रयास करने पर बल देते हैं। अपनी विदेश यात्रा के दौरान 1894 ई० में उन्होंने राजा बहादुर को एक अभिनन्दन के उत्तर में लिखा कि मैंने यह निश्चित रूप से समझ लिया है कि कोई व्यक्ति या जाति दूसरों से विच्छिन्न होकर जीवित नहीं रह सकती। भ्रान्त श्रेष्ठत्व के अभिमान अथवा पवित्रता के बोध से जहाँ भी इस प्रकार की चेष्टा हुई है वहीं परिणाम अत्यन्त शोचनीय हुआ है। मैं समझता हूँ दूसरों के प्रति घृणा की नींव पर कुछ प्रस्तावों की दीवार उठाकर अलिप्तता का अवलम्बन ही भारत के पतन का कारण है। प्राचीन काल में हिन्दुओं को बौद्ध सम्प्रदायों के सम्मिश्रण से रोकने के लिए ही उस प्रकार की प्रथा का अवलम्बन किया गया था। इस व्यवस्था की यथार्थता को प्राचीन काल में अथवा आजकल भी, किसी भी भ्रान्त युक्ति के द्वारा प्रमाणित करने की चेष्टा क्यों न की जाय, परन्तु जो दूसरों से घृणा करेगा उसका पतन अवश्यम्भावी है। निश्चित नीति है। फलतः प्राचीन जाति समूह के बीच में

1. The Complete Works of Swami Vivekananda Vol. II, Advaita Ashram, Almora, 1947, p. 145

जो अग्रगण्य हुए थे, वह आज सभी की घृणा के पात्र हैं। हमारे पूर्व पुरुषों की भेद नीति के कारण क्या स्थिति हुई है, हम उसके जीते-जागते उदाहरण हैं।[1]

स्वामी विवेकानन्द ने समस्त मानव जाति को एक ही ईश्वर की सन्तान माना तथा समाज की दरिद्रता व हीनता को दूर करने के लिये सबको मिलकर प्रयास करने का आह्वान किया। उन्होंने अपने उपदेशों में कहा कि हिन्दू हों या मुसलमान या ईसाई, मुझे इससे मतलब नहीं, जो भी प्रभु का प्रेमी होगा मैं उसका सेवक होऊँगा वह आह्वान करते हैं कि जन सेवा के लिए सर्वस्व होम कर दो, यदि आस्था रखोगे तो सब कुछ मिलेगा। हममें से प्रत्येक उन करोड़ों दलितों के लिए प्रार्थना करे जो दरिद्रता, पाखण्डता और अत्याचार के पाश में बंधे हैं। वह कहते हैं कि मैं कोई तत्त्वमीमांसक नहीं हूँ, न ही कोई दार्शनिक या सन्त हूँ। मैं निःस्व हूँ, सर्वहारा से मेरा अनुराग है। वह पूछते हैं कि भारत में ऐसे कितने व्यक्ति हैं जो इन दारिद्रय व अज्ञान में चिर लिप्त व्यक्तियों के लिए मन में दर्द रखते हैं? इन्हें आलोक प्रदान करने वाला कौन है? इन गरीब लोगों के लिए वह जनता को उपदेश देते हैं कि इनको अपना ईश्वर मानो। मैं महात्मा उसी को कहूँगा, जिसके मन में इनके प्रति दया है। स्वामी जी आगे कहते हैं कि जब तक करोड़ों जन भूल और अज्ञान से पीड़ित जीवन बिताते रहेंगे, मैं ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को देशद्रोही कहूँगा जो उन्हीं के पैसे से शिक्षा प्राप्त करके फिर उनकी ओर देखता तक नहीं है।[2]

मध्यकाल में ब्राह्मणों के शिक्षा पर एकाधिकार की उन्होंने आलोचना की। उस समय ब्राह्मणों ने शिक्षा ग्रहण करने का एकमात्र अधिकार अपने वर्ण को ही दे रखा था। स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि यदि वंश परम्परा से भाव संक्रमण के नियमानुसार ब्राह्मण विद्या सीखने के लिए अधिकतर योग्य हैं तो ब्राह्मणों की शिक्षा के लिए व्यय न करके अस्पृश्य जाति की शिक्षा के लिए सारा धन लगा दो। दुर्बल की सहायता पहले करो। ब्राह्मण यदि बुद्धिमान होकर ही पैदा हुए हैं तो वह दूसरों की सहायता के बिना ही शिक्षा प्राप्त कर लेंगे। परन्तु जो लोग बुद्धिमान होकर जन्म ग्रहण नहीं करते, शिक्षकों की आवश्यकता उन्हीं के लिए है। मुझे तो यही न्यायसंगत व युक्तिसंगत प्रतीत होता है। अतः इन दीन व पददलित मनुष्यों को उनका वास्तविक स्वरूप

---

1. श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार— 'विवेकानन्द चरित', श्री रामकृष्ण मिशन, नागपुर, 1967, पृ० 247

2. रोमा रोलाँ— 'विवेकानन्द', अनुवादक सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1974, पृ० 89

समझना होगा। जाति, वर्ण, सबलता व दुर्बलता के भेदभाव को छोड़कर समस्त मानव जाति को इस प्रकार की शिक्षा दो कि सभी के हृदय में अनन्त आत्मा विद्यमान है अतः सभी व्यक्ति महान् बन सकते हैं, सभी साधु हो सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द युवकों से बहुत आशा रखते हैं। उनका विश्वास है कि युवा वर्ग ही जन सेवा तथा समाज के पुनर्निर्माण में सक्रिय भूमिका निभा सकता है इसलिए वह उनसे कहते हैं कि आगामी पचास वर्षों तक तुम लोग एकमात्र 'स्वर्गादपि गरीयसी' जननी जन्मभूमि की आराधना करो। इन वर्षों में दूसरे देवी-देवताओं को भूल जाने में कोई हानि नहीं है। दूसरे देवगण सो रहे हैं, इस समय तुम्हारा एकमात्र देवता तुम्हारा राष्ट्र है। तुम लोग किसी निष्फल देवता की खोज में दौड़ रहे हो और अपने सामने तथा चारों ओर जिस देवता को देख रहे हो, उस विराट की उपासना नहीं कर रहे हो। ये सब मनुष्य, ये सब पशु ही तुम्हारे ईश्वर हैं और तुम्हारे स्वदेश निवासी गण ही तुम्हारे प्रथम उपास्य हैं।[1]

स्वामी विवेकानन्द भारतीय प्राचीन धरोहर आध्यात्मिकता पर गर्व रखते हैं तथा इसको सुरक्षित रखना प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य समझते हैं। अपनी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति को बनाये रखते हुए भौतिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने की प्रेरणा वह जनता को देते हैं। वह कहते हैं कि आज संसार हमसे जिस एक और विराट प्रेरणा की आशा करता है वह निखिल विश्व की आध्यात्मिकता की प्रेरणा है। वही एक चिर यथार्थ है। यह तुम में ही नहीं वरन् प्राणी मात्र की अन्तरात्मा में वास करती है। आत्मा की अखण्ड अभिन्नता ही इस चिर सत्य को जन्म देती है कि तुम और मैं भाई-भाई ही नहीं यथार्थ में एक ही हैं। इस सत्य की आज हमारे देश को ही नहीं, यूरोप को भी आकांक्षा है। आज भी जाने अनजाने यही सिद्धान्त इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस और अमेरिका के नवीन राजनैतिक-सामाजिक उन्वेशों को आधार दे रहा है।[2]

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी ओजस्वी वाणी से सोयी हुई जनता में नवीन संचार उत्पन्न किया। उन्होंने जनता के मन में व्याप्त हीनता की भावना को, जिसके कारण वह जड़वत् हो गयी थी, समाप्त करने का अथक प्रयास किया। जनता के समक्ष उन्होंने अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए कहा कि मैंने यह आलोचना

1. श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार— 'विवेकानन्द चरित', श्री रामकृष्ण मिशन, नागपुर, 1967, पृ. 340, 343

2. रोमा रोलाँ— विवेकानन्द, अनुवादक स. ही. वा. अज्ञेय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1974, पृष्ठ 111

सुनी है कि मैं अद्वैत का अत्यधिक व द्वैत का अल्पतम प्रचार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि द्वैत विचार के तल में परमानन्द के दिव्य प्रेम के प्रभामय स्रोत छिपे हुए हैं परन्तु आज हमारे द्रवित होने का समय नहीं है। हमारी चिरनिद्रा ने हमें निरीह कर डाला है। देश आज हमसे लौहे की पेशियाँ और इस्पात के स्नायु माँग रहा है। हमें वह अदम्य मनोबल चाहिए जो कभी समाप्त न हो और अतल सागर के अन्तर को भेदकर, मृत्यु से भी मुकाबला करके अपना लक्ष्य सिद्ध कर दिखाये। यही आज हमारा अभीष्ट है और इसे हम प्राणी मात्र की अनन्यता का तथा अद्वैत का आदर्श हृदयंगम करके ही अपने में विकसित और परिपुष्ट कर सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि हमें सर्वप्रथम स्वयं में आस्था व विश्वास होना चाहिए। यदि तैंतीस कोटि देवताओं में आस्था हो और अपने में आस्था न हो, तो भी तुम्हारा निर्वाण असम्भव है। इसलिए अपने में आस्था रखकर आत्मबल के सहारे खड़े हो जाओ। हम करोड़ों जन गत सहस्र वर्षों से विदेशी आक्रान्तों के मुट्ठी भर व्यक्तियों द्वारा शासित होते रहे क्योंकि उनमें आत्मबल था और हममें नहीं था। 'स्वामी जी भारतीयों की हीनता की भावना से बहुत दुखी थे। वह कहते हैं कि मैं समाचार-पत्रों में पढ़ता हूँ कि जब कोई अंग्रेज़ हमारे किसी दीन-हीन भाई को मार डालता है तो सारा देश चीत्कार कर उठता है यह पढ़कर मुझे बड़ा दुःख होता है। परन्तु इसके उत्तरदायी हमारे देश के ऐश्वर्यशाली पूर्वज हैं जो साधारण जन को इतने दिनों से पाँव तले रौंदते चले आ रहे हैं कि वह निरुपाय हो गया है, अत्याचार सहते-सहते दरिद्र यह भूल ही गया है कि वह मनुष्य है। शताब्दियों से अभिशप्त जो मनुष्य लकड़ी चीरता और पानी भरता चला आ रहा है वह आज मानने लगा है कि वह जन्म का दास है, लकड़ी चीरने व पानी भरने को ही जन्मा है। स्वामी विवेकानन्द अपनी ओजस्वी वाणी से प्रह्लादिनी शक्ति नागरिकों में उड़ेलते हुए कहते हैं कि सभी जाति, कुलों के नर-नारी और शिशु आज सुनें और समझें कि क्षुद्र, श्रेष्ठ, धनी, निर्धन, सभी के अन्तर्तम में उसी एक परमब्रह्म का निवास है। वह सबको एक समान आत्मोन्नयन की सामर्थ्य देता है। आज हम मनुष्य मात्र का आह्वाहन करें कि उठो, जागो और इस मोह-निद्रा को त्यागो। इस सृष्टि में कोई असहाय नहीं है। आत्मा तो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और अव्यय है। इसलिए सिर उठाओ और अपने आत्मबल को पहचानो, उससे विमुख मत होओ।[1]

स्वामी विवेकानन्द धर्म को भारतीय नागरिकों के जीवन की समस्त

---

1. रोमा रोलाँ— 'विवेकानन्द', अनुवादक स. ही. वा. अज्ञेय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1974, पृष्ठ 111

क्रियाओं का प्रेरणा स्रोत मानते हैं। अतः उनका विचार है कि समस्त सामाजिक परिवर्तन धर्म द्वारा ही लाये जा सकते हैं। वह कहते हैं कि प्राच्य व पाश्चात्य देशों में घूमकर मुझे दुनियाँ की कुछ अभिज्ञता मिली है। मैंने देखा है कि सर्वत्र सब जातियों का कोई न कोई ऐसा आदर्श जरूर है जिसे इस जाति का मेरुदण्ड कह सकते हैं। हमारी मातृभूमि भारतवर्ष का मेरुदण्ड धर्म है। धर्म के आधार पर हमारी जाति के जीवन का प्रासाद खड़ा है। संसार के अन्य देशों में धर्म तो केवल कई बातों में से एक है। वास्तव में वहाँ वह एक छोटी सी चीज गिना जाता है। उदाहरणार्थ इंग्लैंड में धर्म राजनीति का केवल एक विशेष अंग है। इंग्लिश चर्च शाही घराने की चीज़ है। इसलिए चाहे उनकी श्रद्धा उसमें हो या न हो, वह इसके सहायक बने रहेंगे। भारतवर्ष में धर्म ही राष्ट्र के हृदय का मर्मस्थल है। यही राष्ट्र की नींव है जिस पर देश की इमारत खड़ी है। हमारी जाति की जीवन शक्ति धर्म में ही केन्द्रीभूत है, हम इसे बदल नहीं सकते और न विनष्ट ही कर सकते हैं। भारत में हज़ारों वर्षों से धार्मिक आदर्श की धारा प्रवाहित हो रही है। भारत का वायुमण्डल धार्मिक आदर्शों से बीसियों सदियों तक पूर्ण रहकर जगमगाता रहा है। हम उसी धार्मिक आदर्श में पैदा हुए और पले हैं। यहाँ तक कि वह अब हमारे रक्त में मिल गया है, हमारे रोम-रोम में वही धार्मिक आदर्श रम गया है, वह हमारे शरीर की बनावट का अंश हमारी जीवन शक्ति बन गया है। जिस रास्ते में बाधाएँ कम हों उसी रास्ते से हम काम कर सकते हैं और भारत के लिए धर्म का मार्ग ही स्वल्पतम बाधा वाला मार्ग है। धर्म के पथ का अनुसरण करने पर ही हमारी उन्नति में वृद्धि होना संभव है।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर

रवीन्द्रनाथ टैगोर परम पुरुष में आस्था रखते थे और विश्व की सर्वोच्च शक्ति के रूप में परम पुरुष को स्वीकार करते थे। उनके लिए यह महापुरुष सत्य, शिवम् व अद्वैतम् का प्रतीक है। अद्वैतवादी और ब्रह्मवादी होते हुए भी वह सर्वोच्च सत्ता को व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। वह कहते हैं कि मैंने ईश्वर, मनुष्य तथा प्रकृति को कभी भी ऐसी समस्यायें नहीं समझा जिन पर अलग-अलग विचार किया जा सके और कभी भी इस बात की कल्पना नहीं की कि ये तीनों भिन्न वस्तुएँ हैं। वह कहते हैं कि हमें ईश्वर को इसी प्रकार अनुभव करना चाहिए जिस प्रकार हम प्रकाश का अनुभव करते हैं। क्योंकि ईश्वर की छवि को हम अपनी मानसिक गहराइयों में ही जान सकते हैं, मस्तिष्क इसकी व्याख्या नहीं कर सकता। ईश्वर मानव से अधिक सत्य है और अत्यधिक सूक्ष्म अमूर्त व्यक्तित्व के रूप में हमारे अन्दर रहता है। उसके

उद्देश्य को समझना तथा उसके ध्यान में रहना ही पूर्ण सत्य को प्राप्त करना है। हम लोग उसकी सृष्टि में स्थान रखते हैं भले ही हम उससे एकात्मकता स्थापित करें या न करें, किन्तु यदि हम उसकी प्राप्ति के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते हैं तो हम स्वयं ही अपनी भाग्यहीनता को निमंत्रण देते हैं। हम अपने सत्य धर्म को तभी प्राप्त कर सकते हैं जबकि हम चेतनात्मक रूप से उससे सहयोग कर लें।[1]

टैगोर आत्मा को पूर्ण व स्वतन्त्र सत्य मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी ही चाहिए। क्योंकि एक स्वतन्त्र वस्तु ही दूसरी स्वतन्त्र वस्तु से सम्बन्ध रख सकती है। ईश्वर ने हमें यह स्वतन्त्रता और समझदारी दी है, और बताया है कि मेरे पास स्वतन्त्र बनकर आओ। वह कोई भी वस्तु जो परतन्त्र है मेरे समीप नहीं आ सकती। गुरुदेव प्राचीन साहित्य से पूर्णतः प्रभावित थे और उपनिषदों के सिद्धान्त उनको मान्य थे। उपनिषदों के तीन सिद्धान्त उनकी दार्शनिक विचारधारा का आधार है जो निम्न प्रकार से हैं :—

1. प्रथम सिद्धान्त आत्म ज्ञान प्राप्त करने का है। इसको आत्म शुद्धिकरण के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रख कर, विषय वासना, क्रोध, लालच पर विजय प्राप्त करके तथा अपने अहंकार को ज्ञान द्वारा समाप्त करके व्यक्ति अपनी आत्मा को तेजस्वी बना सकता है। प्रत्येक व्यक्ति में तेजस्वी आत्मा उसी प्रकार छिपी है जिस प्रकार धुएँ में अग्नि छिपी है अथवा एक दर्पण जो धूल से ढका हुआ है। इसलिये अचेतनता को समाप्त किया जाना चाहिए, तब आत्मा सूर्य के समान प्रकाशमान हो जायगी। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप व्यक्ति समानता और भ्रातृत्व सीख लेगा और उसका निवास ज्ञान के क्षेत्र में होगा।

2. द्वितीय सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति इस आत्म चेतना को प्राप्त करने पर समस्त राष्ट्रीय व देशगत भावनाओं से ऊपर उठकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से एकात्मकता का अनुभव करेगा। एक चेतन आत्मा सम्पूर्ण जीवों में एक आत्मा को देखती है और उनको आत्म स्वरूप मानती है।

3. तीसरा सिद्धान्त प्रत्येक में ईश्वर का अस्तित्व देखना है और प्रत्येक वस्तु को ईश्वर में देखना है।[2]

---

1. Tagore— A Poet's School (available in the religion of man) Visva Bharti, Santiniketan, p. 26.

2. Sunil Chandra Sarkar— Tagore's Educational Philosophy and Experiments, Published by Ranjit Roy, Visva Bharti Research Publication, Santiniketan 1961, p. 106

गुरुदेव टैगोर मनुष्य और प्रकृति के बीच निकट सम्बन्ध पाते हैं। प्रकृति और मनुष्य सत्य के आवश्यक अंग हैं। यदि मनुष्य केवल मानवता के रास्ते पर ही चलता रहे और प्रकृति की अवहेलना करे तो यह निश्चय ही अपना संतुलन खो देगा। वह कहते हैं कि जब मनुष्य प्रकृति के साथ संबंध का अनुभव नहीं करता उस समय वह कारागार में बन्द एक ऐसे कैदी के समान रहता है जिसे कारागार की दीवारें भी अपरिचित लगती हैं। टैगोर प्रकृति और मनुष्य दोनों में ही जीवनी शक्ति मानते हैं फिर भी मानव को संसार में सर्वोच्च स्थान देते हैं। उनके अनुसार समस्त सृष्टि में मनुष्य अद्वितीय है। मानव अपूर्व है क्योंकि उसमें ईश्वर विशेष रूप से प्राप्त है। अनन्त का ज्ञान और शक्ति आकाश के तारों की अपेक्षा मनुष्य की आत्मा में अधिक मिलती है। वह यहाँ तक कहते हैं कि ईश्वर, सृष्टि को पूर्ण बनाने के लिए मनुष्य का सहारा लेता है, वह अपने को मनुष्य की आँखों में देखने पर और मनुष्य के हाथों के स्पर्श से अनुभव करता है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर मनुष्य के अहं भाव को उसकी प्रकृति के विपरीत बताते हैं। प्रेम ही इस संसार का मूल आधार है। मनुष्य को सुख प्राप्त करने के लिए स्वार्थ की भावना से ऊपर उठना होगा। वह कहते हैं कि आत्मा अपने सत्य स्वरूप का दर्शन केवल दूसरों से अपने मिलन में ही पा सकती है और तभी उसे वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होगी। प्रत्येक पग पर हमें दूसरों का ध्यान रखना है, क्योंकि केवल मृत्यु में ही हम अकेले हैं। जीवन को पूर्णतः निजी स्वार्थ पर आधारित समझने का अर्थ मानव जाति की एकता को भूल जाना है। वह लिखते हैं कि हमारी तर्क शक्ति सच्ची मानवीय एकता के सत्य को क्या नाम दे सकती है? इस तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि जब हम स्वयं को दूसरों में अनुभव करते हैं तब हम अपने सर्वोच्च स्वरूप को प्राप्त करते हैं, और यही प्रेम की परिभाषा है। यह प्रेम हमको पूर्ण तथा अन्तिम सत्य प्रदान करता है। प्रेम हमको वह क्षेत्र प्रदान करता है जहाँ हम मानवीय आत्मा के सर्वोच्च धन को, सहानुभूति व सहयोग द्वारा, पूर्ण ज्ञान तथा सेवा के सर्वोच्च मूल्य द्वारा प्राप्त करते हैं। प्रेम किसी प्रकार का जाति-भेद या रंग-भेद नहीं जानता। प्रेम की भावना विभिन्नता के अनावश्यक बन्धनों से स्वतंत्रता प्रदान करती है तथा हमारी चेतना को आंतरिक शक्ति देती है, यही नागरिकता की उच्च भावना है।[1]

गुरुदेव टैगोर राष्ट्रीय सृजन और सामाजिक सुधार कार्यों में गाँवों को

1. Sunil Chandra Sarkar— Tagore's Educational Philosophy and Experiments, Published by Ranjit Roy, Visva Bharti Research Publication, Santiniketan 1961, p. 26

प्रमुखतम स्थान देते थे। देश सेवा का महत्त्वपूर्ण कार्य ग्राम सेवा है किन्तु यह सेवा ग्रामीणों पर कृपा के रूप में नहीं होनी चाहिए वरन् उनको पूर्ण सम्मान दिया जाना चाहिए। टैगोर देश से गरीबी, अशिक्षा और बीमारियों को दूर करना चाहते थे इसके लिए वह प्रेम, व सद्भाव से एकजुट होकर प्रयास करने का उपदेश देते थे। रवीन्द्रनाथ जन्म शताब्दी पर आयोजित गोष्ठी में हुमायूँ कबीर ने कहा कि टैगोर के विषय में एक बात बड़ी रुचिपूर्ण है कि वह जबकि अपने आत्मिक स्वरूप में एक कवि हैं जो भावों को समर्पित है और जिनका उद्देश्य सौंदर्य की प्राप्ति है उसी समय दूसरी ओर वह कहते हैं कि मानवीय एकता और सौहार्द का आधार बौद्धिक होना चाहिए, जो कुछ निश्चित सार्वभौमिक सिद्धान्तों पर आधारित हो। टैगोर बार-बार उपनिषदों में उचित विधि की व्याख्या करते हैं जो पूर्णतः व्यवस्थित और अन्तिम है तथा जिस पर परिवर्तनशील तत्वों की चंचलता का प्रभाव नहीं पड़ता है। इस अन्तिम सत्य में आस्था के कारण ही यूरोप के देशों ने वैज्ञानिक उन्नति की है तथा पूर्ण आत्म-विश्वास को प्राप्त करके बीमारी, दरिद्रता व अज्ञानता पर विजय प्राप्त की है। यही आत्मविश्वास व्यक्ति को वैयक्तिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना स्थापित करने में सन्तोषपूर्ण फल प्रदान करेगा। इसलिए सत्ता और प्रतियोगिता के समस्त भय समाप्त हो जाने चाहिए। हमको पूर्वाग्रहों को समाप्त कर देना चाहिए और प्रत्येक क्षेत्र में सार्वभौमिक सिद्धांतों की खोज करनी चाहिए। टैगोर विश्वास करते हैं कि यदि हम मानवता का विकास कर लेंगे तब यह कार्य आसानी से कर सकते हैं।

गुरुदेव टैगोर का यह सन्देश था कि प्रत्येक व्यक्ति व प्रत्येक देश को स्वयं को अभिव्यक्त करना चाहिए और यह अभिव्यक्ति किसी दबाव के द्वारा नहीं वरन् अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास द्वारा, अपने चरित्र और सांस्कृतिक सत्ता द्वारा होनी चाहिए। प्रत्येक को अपनी आत्मा का अनुभव करना चाहिए तथा आपसी सद्भावना व सहयोग द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक विभिन्न तत्त्वों का आदान-प्रदान करना चाहिए। मानव तब तक स्वतंत्रता नहीं प्राप्त कर सकेगा तथा मानवीय ज्ञान तब तक बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकेगा जब तक समस्त भौतिक व आत्मिक मूल्य, विज्ञान व शिक्षा में सभी देशों, वर्गों व मनुष्यों का योगदान नहीं होगा।[1]

---

1. Rabindra Nath Tagore's Birth Centenary Celebrations, Proceedings Conferences, Vol. 1, Education-Editor Sunil Chandra Sarkar, Published by Ranajit Ray, Visva Bharti, Santiniketan, 1961, p. 24.

पण्डित मदन मोहन मालवीय

पं० मदन मोहन मालवीय एक प्रबुद्ध शिक्षाविद् तथा श्रेष्ठ अध्यापक थे। प्रयाग में शिक्षण कार्य के साथ-साथ मालवीय जी ने पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख आदि भी लिखे। पं० बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी प्रदीप' में हिन्दी के विषय में उन्होंने बहुत कुछ लिखा। इलाहाबाद में हिन्दू जाति के विकास के लिए सन् 1884 में 'हिन्दू समाज' संस्था गठित की तथा साथ ही हिन्दी भाषा के विकास के लिए 'साहित्यिक संस्थान' का गठन भी किया। मालवीय जी अत्यन्त सत्यनिष्ठ और पक्षपातहीन आलोचक थे। किसी भी उचित और सत्य पक्ष का समर्थन करने में वह किसी के सामने नहीं झुके। उनकी आलोचना पद्धति का सबसे बड़ा गुण यह था कि उन्होंने कभी किसी व्यक्ति, वर्ग या संस्था के विरुद्ध किसी प्रकार के अपशब्द, व्यंग या अशिष्ट भाषा का प्रयोग नहीं किया और सदा सम्पादकीय शालीनता, औचित्य और महत्ता का उच्च स्तर बनाये रखा।

कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन के अवसर पर कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह से उनका परिचय हुआ तथा मालवीय जी के भाषण से प्रभावित होकर राजा साहब ने उन्हें दैनिक 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक बनने पर राजी कर लिया। यह उनके यशस्वी जीवन का शुभ श्रीगणेश सिद्ध हुआ। जनता में विश्वविद्यालय की भावना को प्रसारित करने के लिए मालवीय जी ने हिन्दी साप्ताहिक प्रकाशित करने का निश्चय किया और तदनुसार सन् 1907 में साप्ताहिक 'अभ्युदय' प्रारंभ कर दिया।

लॉर्ड कर्जन द्वारा बंगाल को दो भागों में विभाजित करने पर जनता में जो तनाव उत्पन्न हो गया था उसको दूर करने के लिए तथा देशभक्ति की भावना भरने व अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने अंग्रेजी पत्र की आवश्यकता को महसूस किया। फलतः उनके प्रयास से 24 अक्टूबर सन् 1909 में 'लीडर' का जन्म हुआ। जनता में धार्मिक शिक्षा के प्रसार के लिए सन् 1933 में गुरु-पूर्णिमा के पवित्र दिन साप्ताहिक पत्र 'सनातन धर्म' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ।

मालवीय जी कट्टर हिन्दू थे। किन्तु हिन्दू शब्द उनके लिए धर्म का द्योतक न होकर जाति का द्योतक था। वह मानते थे कि भारत में रहने वाले सनातन धर्मी, आर्य समाजी, जैन, बौद्ध, सिक्ख, पारसी, ईसाई, मुसलमान आदि सभी हिन्दू हैं। वह सभी धर्मों का आदर करते थे और सभी धर्मों के लोगों को अपने-अपने धर्म के अनुसार आचरण करने की प्रेरणा देते थे। मौलाना शाहिद फ़ाखरी ने लिखा है कि उन्होंने मुझे बुलाकर मेरी पीठ ठोकी और कहा कि यह मैं कब कहता हूँ कि मुसलमान अपने मजहब का पालन न करें।

इसके विपरीत मैं तो हिन्दू और मुसलमान दोनों से ही कहता हूँ कि अपने-अपने मजहब और धर्म पर दृढ़ रहो, तभी सबकी दोस्ती सच्ची और पक्की होगी। मेरी मुखालिफत तो छुरी कांटे वाली दोस्ती से है, वह कभी नहीं चलेगी।[1]

मालवीय जी सनातन धर्म की दुर्दशा देखकर बड़े खिन्न थे, और इस धर्म के अनुयायियों को उन्होंने विशेष रूप से जागृत होने का सन्देश दिया। उनका अपना आचरण धर्मानुकूल था और वह हिन्दू विश्वविद्यालय के सभी भवनों को 'हिन्दू शिल्प शास्त्र' के अनुसार ही बनाने का आग्रह करते थे। मालवीय जी का हिन्दुत्व संकुचित जातीयता की परिधि से बहुत ऊपर और उदार था। उनका हिन्दुत्व वास्तव में देशभक्ति का पर्याय था जिसके अन्तर्गत भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाले और पोषित होने वाले सब मत और सम्प्रदाय तथा भारत की प्रत्येक वस्तु समाविष्ट थी। 28 जून सन् 1935 को लाहौर में मुसलमानों की सभा में उन्होंने उर्दू में जो प्रभावशाली भाषण दिया था, उसने श्रोताओं को मंत्रमुग्ध और द्रवित कर दिया था। उन्होंने कहा कि हिन्दू और मुसलमानों की एकता को स्वतंत्रता की ओर ले जाने वाला पहला चरण समझना चाहिए। यह हम लोगों के लिए कम लज्जा की बात नहीं है कि हमें अपनी सुरक्षा और हित के लिए विदेशियों का मुख ताकना पड़े। मुझे अपने धर्म में बड़ी प्रबल आस्था है किन्तु जब मैं किसी गिरजाघर या मस्जिद के सामने से निकलता हूँ तो मेरा सिर स्वयं श्रद्धा से झुक जाता है।[2]

मालवीय जी की कामना थी कि स्वतन्त्र भारत में गौ-वध कानूनन बन्द हो जाय। वह गौ-भक्त ब्राह्मण थे, और अनेक गौ-सेवी संस्थाएँ उनकी प्रेरणा से स्थापित हुई थीं। मालवीय जी आतिथ्य सत्कार के लिए प्रसिद्ध थे। उनका पुराणों में विश्वास था और श्रीमद्भागवत के श्लोकों को वह भाव-विभोर होकर पढ़ते थे। मालवीय जी ने अपने व्यक्तिगत जीवन में पवित्रता की रक्षा की, भोजन के विषय में भी वह स्पर्शास्पर्श का विचार रखते थे। विदेश जाते समय यहाँ से गंगाजल तथा मिट्टी तक लेकर गये थे। किन्तु सामाजिक जीवन में वह हरिजनों के साथ समानता का व्यवहार करते थे। काशी में उन्होंने हरिजनों को ॐ नमः शिवाय का मंत्र दिया था। हरिजनों को दीक्षित करने का काशी के तत्कालीन पंडितों ने घोर विरोध

---

1. पद्मकान्त मालवीय— 'मालवीय जी— जीवन झलकियाँ' नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1967, पृष्ठ 53

2. सीताराम चतुर्वेदी— 'आधुनिक भारत के निर्माता पं. मदनमोहन मालवीय', भारत सरकार प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली 1980, पृष्ठ 52

किया था किन्तु पंडित नामदेव मित्र आदि विद्वानों के विरोध के बावजूद मालवीय जी ने अछूतों को मंत्र दीक्षा दी थी। समाज सेवा के कार्यों में भी वह अग्रणी रहे। सन् 1918 में प्रयाग में अखिल भारतीय सेवा समिति 'बॉय स्काउट एसोसियेशन' की स्थापना की गयी, जिसके चीफ स्काउट मालवीय जी बने। मालवीय जी के समाज सेवा कार्यों को याद करते हुए गांधीजी ने अपने संस्मरण में लिखा है कि पंडित मालवीय जी ने बड़ी कृपा करके अपने ही कक्ष में मुझे शरण दी थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर मैं उनके जीवन की सरलता की झांकी प्राप्त कर पाया था। मैं बहुत समीप से उनका दैनिक कार्यक्रम देख सका था क्योंकि मैं उन्हीं के कक्ष में ठहरा हुआ था और मैं वह सब देखकर स्तब्ध रह गया कि उनका घर प्रत्येक दीन, दुखी और आर्त व्यक्ति के लिए धर्मशाला बना हुआ था। वह इतना ठसाठस भरा हुआ था कि एक कोने से दूसरे कोने में जाना भी संभव नहीं था। किसी भी व्यक्ति को, किसी भी समय, उनका कितना भी समय लेने पर कोई अंकुश नहीं था। मेरा पलंग बड़े सम्मान के साथ उसी कमरे में लगा हुआ था। इस प्रकार मैं प्रतिदिन उनसे बातचीत करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त कर लेता था। वह बड़े प्रेम और आदर से बड़े भाई के समान मुझे अपना पक्ष समझाया करते थे, यद्यपि अनेक बातों में मेरा उनसे मतभेद बना रहता था।[1]

मालवीय जी के समय में अंग्रेजी का अत्यधिक बोलबाला था। स्वयं मालवीय जी अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता थे। किन्तु उन्हें यह बात बड़ी असंगत लगती थी कि अंग्रेजी ही उच्च शिक्षा का माध्यम बनी रहे। उनकी यह कामना थी कि यह पद हिन्दी को मिलना चाहिए। वह यह भी अनुभव करते थे कि उच्च कोटि की शिक्षा मात्र भाषा से ही सम्भव है। राजकीय भाषा के रूप में वह हिन्दी को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। मालवीय जी के समय में सरकारी कार्यालयों व कचहरियों में केवल उर्दू भाषा में काम होता था। बड़े कार्यालयों व बड़े न्यायालयों में यह काम अंग्रेजी में होता था। छोटे कार्यालयों में उर्दू चलती थी परन्तु अधिकांश जनता उर्दू नहीं जानती थी। उन्होंने इस सम्बन्ध में आँकड़े एकत्रित किये और तर्कों के आधार पर शासकों को स्मृति पत्र दिया। संयुक्त प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर सर एण्टनी मैकडॉनल को 9 मार्च सन् 1889 को उन्होंने पत्र लिखा कि पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध की जनता में शिक्षा का फैलना इस समय सबसे अधिक आवश्यक कार्य है और गुरुतर प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है कि इस कार्य में सफलता तभी प्राप्त होगी

---

1. सीताराम चतुर्वेदी— आधुनिक भारत के निर्माता पं. मदन मोहन मालवीय, भारत सरकार प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1980, पृ. 129

जब कचहरियों और कार्यालयों में नागरी अक्षर जारी किए जायेंगे। अतएव आज इस शुभ कार्य में जरा सा भी विलम्ब नहीं होना चाहिए। हमें आशा है कि वे बुद्धिमान और दूरदर्शी शासक, जिनके प्रबल प्रताप से लाखों जीवों ने इस घोर अकाल रूपी काल से रक्षा पायी है, अब नागरी अक्षरों को जारी करके इन लोगों की भावी उन्नति और वृद्धि का बीज बोयेंगे और विद्या के सुखकर प्रभाव के अवरोधों को अपनी क्षमता से दूर करेंगे।

मालवीय जी के प्रयास से हिन्दी को सन् 1900 में सरकारी कामकाज में स्थान मिला। सन् 1910 में उन्होंने 'अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन' की स्थापना की। सन् 1916 में काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की नींव डाली और सन् 1919 से 1938 तक इसके कुलपति पद को सम्भाला तथा बाद में इसके संरक्षक रहे। प्रयाग विश्वविद्यालय हिन्दू छात्रावास, भारतीय भवन और मिण्टो पार्क, मालवीय जी के अमर सृजन हैं। भारत के गौरव, विद्वान्, वक्ता और लेखक महान् शिक्षा शास्त्री पं० मालवीय जी ने सन् 1946 में अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया।

महायोगी श्री अरविन्द

श्री अरविन्द वर्तमान युग के सर्वोदय साधक एवं भारतीय ऋषि परम्परा की उज्ज्वल कड़ी हैं। उनका दर्शन उपनिषदों के दर्शन के समकक्ष है। वे उपनिषदों के भाष्यकार नहीं हैं वरन् स्वयं उपनिषदिक सत्य के दृष्टा हैं। उनका महान् ग्रंथ 'द डिवाइन लाइफ' सत्य के साक्षात्कार का वर्णन है। वह लिखते हैं कि विश्व के अन्दर इस सद्वस्तु का सर्वोच्च अनुभव यह सिद्ध करता है कि वह केवल चिन्मय सतमात्र ही नहीं है, अपितु परम प्रज्ञा और शक्ति तथा स्वयंभू आनन्द भी हैं, और विश्व के भी परे वह कोई अन्य अज्ञेय सत्ता, कोई अत्यान्तिक और अनिर्वचनीय सत्ता है।[1]

श्री अरविन्द के अनुसार ब्रह्म संसार में है और संसार से परे भी है, जिसे दर्शन में ब्रह्म कहा जाता है, उसे ही धर्म में ईश्वर कहना चाहिए। ईश्वर सृष्टा, पालनकर्ता और संहारक है। ईश्वर सृष्टि का सार, पूर्ण मुक्त, सनातन और सर्वात्मा है। ब्रह्म परम पुरुष है और निरपेक्ष सत्ता है। किन्तु अन्ततः ईश्वर व ब्रह्म एक ही है। वह लिखते हैं कि सभी स्वीकार का निषेध केवल उसी सद्वस्तु के एक वृहत्तर स्वीकार की ओर ले जाने के लिए होता है। सभी विरोध परस्पर विरुद्ध पक्षों में एक सत्य को पहचानने और संघर्ष के मार्ग से

---

1. Sri Aurobindo— The Life Divine, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1955, p. 49

उनकी पारस्परिक एकता को आत्मसात् करने के लिए ही एक दूसरे का विरोध करते हैं।[1] वह आगे लिखते हैं कि एक सार्वभौमिक शक्ति का एक रूप, उसका एक गतिशील प्रक्षेप अथवा धारा, स्वीकारात्मक अथवा निषेधात्मक रूप, उस शक्ति की सतत क्रीड़ा है जोकि रूपों को बनाती है और उनके सार के विश्रृंखलन और प्रतिष्ठापन की सतत प्रक्रिया के द्वारा उसको अनुप्राणित करती है।[2]

श्री अरविन्द शंकराचार्य के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि विश्व ब्रह्म की लीला है, शिव का उन्मुक्त नृत्य है, यह माया नहीं है। यह उस असीम शक्ति की गति का परिणाम है। संसार की सृष्टि करने वाली शक्ति चित् है। यह चेतन शक्ति शुद्ध सत्ता का एक भाग है। वह कहते हैं कि असीम सत्ता की चेतना, हमारी मानसिक चेतना और ऐन्द्रिक चेतना से भिन्न है, वह अधिक महान और महत है क्योंकि वह हमारी चेतना को अपने कार्य के निम्न अंग के रूप में सम्मिलित कर लेती है। असीम सत्ता का तर्क हमारे अपने बौद्धिक तर्क से भिन्न है। गौण तथ्यों से निकले हुए विचारों और शब्दों से सम्बन्ध रखने वाले हमारे मानसिक दृष्टिकोण के लिए जो कुछ असंगत और विरोधी तत्त्व हैं उनको वह असीम सत्ता अपने महान मौलिक सत् के तथ्यों में सुसंगत कर देती है।[3] श्री अरविन्द का विचार है कि सर्वोच्च शक्ति गतिशील भी है और स्थिर भी। वह सृजनकर्त्ता तत्त्व है तथा तत्त्व, संसार और जीव— इन तीनों शक्तियों में अवतरित होती है। श्री अरविन्द मानते हैं कि वह एक वृहत्तर बुद्धि है, एक वृहत्तर तर्क है, क्योंकि वह अपनी क्रियाओं में अधिक विस्तृत, सूक्ष्म और गहन है। वह उन समस्त तत्त्वों को देखता है जिनको पकड़ने में हमारा निरीक्षण असफल होता है, वह उनसे ऐसे परिणाम निकालता है जिनको न तो हमारा निगमन और न आगमन ही आशा करता है क्योंकि हमारे निर्णयों व अनुभवों की नींव वहुत संक्षिप्त है और वे व्यर्थ होने तथा विसर जाने योग्य हैं।

विश्व की सृष्टि का कारण बताते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि ईश्वर ने अपने आनन्द के लिए इस संसार की रचना की है। यह विश्व सच्चिदानन्द की लीला है। वह लिखते हैं कि जब हम अपनी दृष्टि को सीमित तथा क्षणिक स्वार्थों से, अपनी अहंभावमयी व्यस्तता से हटाते हैं और केवल परम सत्य की खोज करने वाली रागद्वेषशून्य तथा कौतूहलपूर्ण दृष्टि के साथ संसार का अवलोकन करते हैं, तो इसके परिणामस्वरूप जो सर्वप्रथम प्राप्ति होती है वह है अनन्त सत्ता, अनन्त

1. Sri Aurobindo— The Life Divine, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1945, p. 41

2. –ibid– ,, p. 213

3. –ibid– ,, p. 101

गति, अनन्त क्रिया की एक ऐसी अपार शक्ति का बोध, जोकि असीम देश में, नित्य काल में, अपने आप को उडेल रही है। वह आगे लिखते हैं कि यदि गति करने अथवा नित्य निश्चल रखने में, अपने आपको रूपों में प्रकट कर डालने या रूप की गर्भित शक्ति को अपने अन्दर धारित रखने में स्वतन्त्र होता हुआ भी— ब्रह्म, गति तथा रचना की अपनी शक्ति को तृप्त करता है तो ऐसा केवल एक ही हेतु से हो सकता है— आनन्द के हेतु से ।[1]

श्री अरविन्द का विचार है कि सृष्टि में विरोध नहीं है वरन् विकास के स्तरों का ही अन्तर है । ज्ञान और अज्ञान भी परस्पर विरोधी नहीं हैं । अज्ञान का स्वाभाविक गन्तव्य ज्ञान ही है । अविद्या में विद्या, भोग में त्याग, संसार से संन्यास की उपलब्धि ज्ञान है। वह कहते हैं कि यदि हमें उस ज्ञान की महान् शक्ति पर शासन करना है, तो हमारे ज्ञान और कर्म की प्रणालियाँ और साधन निश्चय ही हमारी चेतना की प्रकृति के अनुरूप होने चाहिएँ तथा चेतना ही परिवर्तित होनी चाहिए । उन्होंने विकास के सिद्धान्त का गम्भीर विवेचन किया है । उनके अनुसार जब परम सभा पार्थिव सभा में उतरती है तब यह जगत प्रकट होता है । यह अवरोहण है । पार्थिव सभा जब परम की ओर आरोहण करती है तब विकास को प्राप्त करती है । समस्त पृथ्वी का रूपान्तर विकास है । विकास का निर्देशन अन्त से होता है आदि से नहीं । गन्तव्य का निर्धारण अन्तस्थ सच्चिदानन्द द्वारा होता है तथा मानव विकास की अगली अवस्था में अतिमानस का अवतरण होता है । वह लिखते हैं कि मानस अति-मानस की एक गौण शक्ति है जोकि यहाँ पर एकता को भूलकर विभाजन के स्तर पर आधारित है, यद्यपि अतिमानस से ज्योति पाकर वह उस पर लौट सकता है । उस प्रकार जीवन भी सच्चिदानन्द के शक्ति पक्ष की एक गौण शक्ति है । वह मानस से उत्पन्न भेदों के दृष्टिकोण से चेतन शक्ति की क्रीड़ा तथा रूप को कार्यान्वित करने वाली शक्ति है । जड़ तत्व सत् के तत्त्व का वह रूप है जिसको सच्चिदानन्द की सभा उस समय धारण करती है जबकि वह स्वयं अपनी चेतना और शक्ति की प्रपंचात्मक क्रिया के अधीन हो जाती है ।[2]

पृथ्वी पर दिव्य जीवन की प्राप्ति और वैयक्तिक जीवन के विकास के लिए श्री अरविन्द योग को आवश्यक मानते हैं और इसके लिए वह 'गीता' को बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मानते हैं । अपने एक पत्र में वह लिखते हैं कि मैंने अपने योग की साधना बिना किसी गुरु की सहायता के सन् 1904 में प्रारंभ की । सन् 1908 में मुझे एक योगी से महत्त्वपूर्ण सहायता मिली और मैंने अपनी

1. Sri Aurobindo— The life Divine, Sri Aurobindo Ashram Pondi-cherry, 1955, p. 108, 137

2. –*ibid.* ,, p. 318

साधना का आधार प्राप्त किया। परन्तु उसके पश्चात् श्री मां के भारत आने तक मुझे कहीं से कोई सहायता नहीं मिली। मेरी साधना पुस्तकों पर आधारित नहीं थी वरन् मेरे व्यक्तिगत अनुभवों पर ही आधारित थी। परन्तु जेल में 'गीता' और 'उपनिषद्' मेरे पास थे इसलिए मैंने गीता से योग की शिक्षा पायी और उपनिषदों से ध्यान धारणा का ज्ञान प्राप्त किया। इन्हीं दोनों पुस्तकों ने मेरा मार्गदर्शन किया। बहुत समय बाद पांडिचेरी जाने पर जब मैंने वेदों को पढ़ा, तब मैंने वेदों में दी गयी यौगिक शिक्षा का वही रूप पाया, जिसका मुझे अनुभव था। उसके बाद भी जब मेरे सम्मुख कोई कठिनाई आयी या मुझे सहायता की आवश्यकता पड़ी तब मैंने 'गीता' से उसका उत्तर पाया है।[1]

श्री अरविन्द कहते हैं कि जिस योग की साधना हम करते हैं वह केवल हमारे लिये ही नहीं, प्रत्युत् भगवान के लिये है। इसका उद्देश्य इस जगत में ईश्वर की इच्छा कार्यान्वित करना, एक आध्यात्मिक रूपान्तर साधन करना और मनुष्य जाति के मनोयोग, प्राणमय और अन्नमय जीवन में दिव्य प्रगति और दिव्य जीवन को उतार लाना है। इसका उद्देश्य मानव सत्ता की मुक्ति और रूपान्तर को सिद्ध करना है।

उनका विचार है कि सामाजिक विकास, राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति के लेये मनुष्य को आत्मिक विकास करना आवश्यक है। इसी के द्वारा वह गानव मूल्यों को प्राप्त कर सकता है, तथा आपसी राग द्वेष समाप्त करके प्रेम I सौहार्दपूर्ण जीवन की कल्पना को साकार कर सकता है। वह लिखते हैं कि 'अपने आत्मिक क्षेत्र में रखकर व्यक्ति मानवीय एकता और मानव के व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकता है। उसमें तीन कियाएँ प्रमुख हैं--- ाथम, मानवीय प्रजाति की आंतरिक एकता, जिसमें केवल आवश्यकताओं पर ाधारित बाह्य संबंध नहीं होंगे। द्वितीय, मानव का पशुवत् और घोर आर्थिक ीवन से मात्र बौद्धिक या कलात्मक जीवन से एक आनन्दपूर्ण व आध्यात्मिक मस्तित्व के रूप में पुनः उद्गम। तृतीय, इस आध्यात्मिक शक्ति को मौलिक व मानसिक शक्तियों में भरना, जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास अतिमानस के स्तर तक कर सके तथा उस पशुवत् जीवन से आगे बढ़ सके जो हमें मिला है और जिसके विषय में विज्ञान हमें बताता है।"[2]

1: Sri Aurobindo Centenary Souvenir, Edited by L.P. Sharma, A.C.S. Delhi, 1972, p. 43

2. Sri Aurobindo— Ideal and Progress p. 67–68, Quoted from 'Sri Aurobindo and the Future of Man', Sanat Kumar Banerjee, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1974, p. 9

जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष न मानकर श्री अरविन्द ने मानव व समाज का सर्वांगीण विकास माना है। नैतिक मूल्यों की प्राप्ति, भौतिक उन्नति, सामाजिक जागृति तथा सौंदर्यात्मक विकास करना ही मानव जीवन का ध्येय होना चाहिए। इसी विकास क्रम में आगे बढ़ता हुआ वह सर्वोच्च सत्ता को प्राप्त कर सकता है। श्री अरविन्द मानव को विश्व की सर्वोत्कृष्ट रचना मानते हैं जिसको विकसित होकर अतिमानस स्तर तक पहुँचना है। वह लिखते हैं कि आधारभूत विचार यह है कि मानव जाति में ही ईश्वरत्व है। व्यक्ति को इसी की उपासना व सेवा करनी चाहिए मानव जाति का आदर व सेवा करना तथा व्यक्ति व समाज की उन्नति करना ही मानवीय आत्मा का मुख्य उद्देश्य है। अन्य कोई भी आदर्श, राष्ट्र, प्रदेश, परिवार या अन्य कोई चीज इसका स्थान नहीं ले सकती है। ये समस्त चीजें इसीलिए आदर की पात्र हैं क्योंकि ये मानवीय आत्मा की कल्पना हैं तथा उसके अस्तित्व को प्रकाश देती हैं तथा उसके विकास में सहायता करती हैं।[1]

महात्मा गांधी

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक 50 वर्षों में भारतीय जन-जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव महात्मा गांधी का पड़ा क्योंकि उनका तत्वचिन्तन केवल वैचारिक न होकर स्वतः अनुभूति तथा प्रयोग पर आधारित था। सर्वोदय दर्शन वेदान्त दर्शन की एक और न्यून शाखा है। इसमें केन्द्र बिन्दु व्यक्ति से बढ़कर समष्टि हो गया है। "आत्मोदय के साथ सबका उदय हो।" यदि सबका उदय होता है तो व्यक्ति का उदय स्वतः हो जायगा, यह विचारधारा साम्यवादी हो सकती है, सर्वोदयी नहीं। सर्वोदय उसको उलट कर कहता है "यदि प्रत्येक व्यक्ति का उदय होता है तो समाज का उदय होता है।" गांधी जी प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक गाँव तथा प्रत्येक इकाई का सर्वांगीण विकास चाहते हैं। वह लिखते हैं कि सर्वोदयी योजना में प्रत्येक गाँव एक लोकतंत्र होगा और ग्राम पंचायत के पास पूरे अधिकार होंगे। प्रत्येक गाँव आत्मनिर्भर होगा और अपनी आवश्यकताओं की व्यवस्था खुद करेगा, यहाँ तक कि संसार के सम्मुख अपनी सुरक्षा करने में भी स्वयं सक्षम होगा। प्रत्येक गाँव में प्रशिक्षण दिया जाएगा और उसे आत्म-सुरक्षा के लिए तैयार किया जाएगा, जिससे वह किसी भी बाहरी विपत्ति का सामना कर सके। ऐसा समाज अवश्य ही उच्च सांस्कृतिक मूल्यों वाला और शिक्षित होगा, जिसमें प्रत्येक पुरुष व स्त्री यह जान सकेंगे कि वह क्या चाहते हैं

---

1. Sri Aurobindo— 'The Human Cycle', Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, p. 362

और क्या प्राप्त कर सकते हैं? एक समान श्रम करने वाला कोई भी व्यक्ति उस वस्तु की अभिलाषा नहीं करेगा, जो दूसरे नहीं रखते हैं।"[1]

गांधी जी समस्त सृष्टि को ईश्वर की कृति मानते हैं। ईश्वर सबसे ऊँचा व श्रेष्ठ है, वह सत्य है जो समस्त संसार पर छाया हुआ है। ईश्वर को समझना हमारी बुद्धि से बाहर की बात है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वगुणसम्पन्न, सृजनकर्ता है। ईश्वर सत्यं, शिवम् व सुन्दरम् है। अतः उसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य को भी सत्यं, शिवम् व सुन्दरम होना होगा। वह लिखते हैं कि मेरे लिए ईश्वर सत्य है और प्रेम है, ईश्वर प्रकाश का स्रोत है और जीवन है, वह इन सबसे भी ऊपर है। ईश्वर उन लोगों के लिए वैयक्तिक है, जो उसकी व्यक्तिगत उपस्थिति चाहते हैं, वह उनमें व्याप्त है जो उसमें विश्वास रखते हैं। वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए सब कुछ है। वह हम सब में है और हम सबसे परे भी है।[2] ईश्वर को प्राप्त करने का साधन उन्होंने मानव-सेवा को माना है। वह लिखते हैं कि व्यक्ति का अन्तिम उद्देश्य ईश्वर से साक्षात्कार करना है और उसकी समस्त सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक-क्रियायें उसी एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निर्देशित होनी चाहियें। मानव जाति की सेवा इस प्रयास का ही एक आवश्यक अंग है क्योंकि ईश्वर को पाने का सबसे सरल मार्ग उसकी सृष्टि में ही उसको देखना व उससे एकात्मकता स्थापित करना है। यह कार्य सबकी सेवा द्वारा ही हो सकता है। मैं भी उस सृष्टि का ही एक अंश हूँ और मैं उसको मानवता के क्षेत्र से अलग नहीं पा सकता हूँ।[3]

मानवीय जीवन का परम लक्ष्य गांधी जी मोक्ष-प्राप्ति को मानते हैं, किन्तु मोक्ष-संबंधी विचारधारा, प्राचीन विचारधारा से भिन्न है। उनके मत से मोक्ष-प्राप्ति के लिए हिमालय की गुफाओं में रहकर साधना करना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि समाज में रहकर मानव-जाति की सेवा करना। समाज में रहकर व्यक्ति अपनी आत्मा को पहचान सकता है। अच्छे जीवन की प्राप्ति के लिए स्वस्थ शरीर और स्वस्थ आत्मा दोनों की आवश्यकता है। एक भौतिक शरीरधारी होने के कारण व्यक्ति का समाज में रहना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुणों व क्षमतानुसार समाज की सेवा करनी चाहिए। प्राचीन वर्ण व्यवस्था के किये गये श्रम विभाजन को वह स्वीकार करते हैं। वह कहते हैं कि मैं विश्वास करता हूँ कि इस सृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति कुछ निश्चित सीमाओं

1. Gandhi Centenary Papers Vol. 4, Edited by K. S. Sexena, Oriental Research, Bhopal, 1972, p. 90

2. Young India, Vol. II 1924–26, Ganesan, Madras, 1927, Dated 12–3–1925

3. Harijan (weekly), Navajivan Press, 29–8–1936

को लेकर जन्म लेता है जिनको वह समाप्त नहीं कर सकता। इन सीमाओं का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने पर वर्ण व्यवस्था का नियम प्राप्त होता है। इस व्यवस्था में कुछ निश्चित व्यक्तियों के लिए, जिनकी निश्चित विशेषतायें हैं, कुछ निश्चित कार्य बताये गये हैं। यह व्यवस्था समस्त अनावश्यक प्रतियोगिता को समाप्त कर देती है। इन सीमाओं का निर्धारण करते समय पूर्ण व्यवस्था का नियम उच्च व निम्न का कोई विभाजन नहीं करता है। एक ओर यह प्रत्येक को उसके कार्य का फल प्रदान करने की गारंटी लेता है। दूसरी ओर अपने पड़ौसी के दबाव से उसे सुरक्षा प्रदान करता है।[1]

वर्तमान जाति व्यवस्था तथा भेदभाव के विरुद्ध गांधी जी ने अपना स्वर बुलन्द किया। अछूतोद्धार के लिए भी उन्होंने अथक प्रयास किया। वह लिखते हैं कि मैं ईश्वर की अमूर्त एकता में विश्वास करता हूँ इसलिए मानव की एकात्मकता में भी विश्वास करता हूँ। भले ही हम अलग-अलग शरीर रखते हों परन्तु हम सबमें एक ही आत्मा का वास है। सूर्य की किरणें परावर्तन के कारण बहुत-सी दिखाई पड़ती हैं परन्तु उनका स्रोत एक ही है। इसलिए मैं भी न तो स्वयं को हीन आत्माओं से संबंधित कर सकता हूँ और न ही महान् आत्माओं से कर सकता हूँ। अतः यदि हम सब एक समान हैं और एक ही ईश्वर की सन्तानें हैं तो हमें प्रत्येक के कार्य में हाथ बँटाना चाहिए भले ही वह हमारी प्रजाति से संबंधित हो या किसी अन्य से।[2]

अधिकार और कर्त्तव्य भावना में से गांधी जी ने कर्त्तव्य को ही प्रमुखता दी है। उन्होंने मानव जाति को 'श्रम' के महत्त्व से अवगत कराया तथा अपने जीविका निर्वाह के क्षेत्र में स्वावलम्बी होने का उपदेश दिया। 27 अप्रैल, सन् 1915 को Y.M.C.A. मद्रास में अपना भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि हमारे धर्म में अधिकारों की व्याख्या नहीं है वरन् वह कर्म पर आधारित है और यदि तुम यह विश्वास करते हो कि जो कुछ भी तुम प्राप्त करना चाहते हो वह अच्छे कार्यों के प्रदर्शन द्वारा प्राप्त कर सकते हो, तो हमेशा अपने कर्त्तव्यों का ध्यान रखो और इसके लिए संघर्ष करो, तुमको केवल ईश्वर से भय रखना है, किसी व्यक्ति से नहीं। यही सन्देश मेरे गुरू गोपाल कृष्ण गोखले का है जिन्हें मैं तुम्हारा भी गुरू कह सकता हूँ। उनका सन्देश भारतीय मज़दूरों का संविधान है और इसी सन्देश द्वारा मैंने अपने जीवन को निर्देशित करना चाहा है। यह सन्देश राजनैतिक जीवन और राजनैतिक संस्थाओं का

---

1. Gandhi Centenary Papers, Vol. 4, Edited by K. S. Saxena, Oriental Research, Bhopal, 1972, p. 31

2. *Ibid.* ,, p. 13

आध्यात्मीकरण करने का है। हमको इसे शीघ्रता से अपने जीवन में प्रयोग करना चाहिए।[1]

गांधी जी आर्थिक व राजनैतिक शक्ति के कुछ दलों के हाथों में केन्द्रित होने के विरोधी हैं। वह समाज की प्रत्येक इकाई को समृद्ध देखना चाहते हैं। उनका कथन है कि वह समाजवाद भी जो क्रान्ति की हिंसात्मक पद्धति द्वारा प्राप्त हो मुझे ग्राह्य नहीं है। आर्थिक क्षेत्र में भी वह धन व पूँजी के विकेन्द्रीकरण के आधार पर आर्थिक ढाँचा खड़ा करना चाहते हैं। लघु व कुटीर उद्योगों को विकसित करके देश को स्वावलम्बी बनाया जा सकता है, ऐसा' उनका विश्वास था। वह पूँजीपतियों को सलाह देते थे कि वह अपने को जन के धन को धरोहर रखने वाला समझें तथा इस धन को जन कल्याण में ही व्यय करें। गांधी जी ने अहिंसा के व्यक्तिवादी नैतिक आधार को सामाजिक रूप प्रदान किया। अहिंसा व्यक्ति का ही धर्म नहीं है वरन् इसकी व्याप्ति राजनीति, अर्थनीति, शिक्षा विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में होनी चाहिए। गांधी जी का समग्र दर्शन सत्य और अहिंसा के आधारों पर अवलम्बित है। सत्य और अहिंसा के आधार पर जिन उपलब्धियों का आविर्भाव हुआ उन्हें संक्षिप्त रूप से इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है —

1. आयुद्ध की अपेक्षा प्रेम की शक्ति अधिक होती है। शिक्षा के क्षेत्र में दण्ड की अपेक्षाकृत प्रेम अधिक प्रभावोत्पादक होता है।
2. मानव के हृदय में देवत्व का वास होता है। यदि इस सुषुप्त देवत्व को प्रकाश में लाया जा सके तो मनुष्य का व्यवहार न्यायपूर्ण होगा। मानवीय अन्तःकरण को पवित्र दैवीय भावना को जगाकर समाज से शोषण को मिटाया जा सकता है। शोषण को मिटाने के लिए संघर्ष, हिंसा तथा दण्ड शक्ति की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य के हृदय को बदला जा सकता है।
3. पारस्परिक सद्भाव तथा सहमति द्वारा समाज की अनेक समस्याओं का हल किया जा सकता है।
4. नकारात्मक विरोध की अपेक्षा विधेयात्मक व रचनात्मक कार्य की दबावयुक्ति अधिक प्रभावोत्पादक होती है।
5. इच्छाओं की निरन्तर वृद्धि से न तो व्यक्ति को सन्तोष मिलता है और न समाज से शोषण को मिटाया जा सकता है। शोषण रहित समाज की स्थापना के लिए इच्छाओं पर नियंत्रण करना आवश्यक है।

---

1. B. K. Ahluwalia— M. K. Gandhi— Selected Speeches, Sagar Publication, New Delhi, 1969, p. 19

6. साधन व साध्य के बीच समरसता होनी चाहिए। अपवित्र साधन द्वारा पवित्र लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकती।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

डॉ० राधाकृष्णन हिन्दू धर्म के महान पोषकों में से एक हैं। उनके अनुसार धर्म को हम जिस रूप में देखते हैं वही दर्शन होता है। धार्मिक अनुभव के अभाव में धर्म के दर्शन की उत्पत्ति संभव नहीं है। डॉ० राधाकृष्णन के विचारानुसार वास्तविकता के प्रति मनुष्य ने जो प्रतिक्रिया की है वही आध्यात्मिक अनुभव है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण बौद्धिक, संवेगात्मक और नैतिक क्रियाएँ आती हैं। यह मनुष्य द्वारा अर्जित ज्ञान है। यह एक ऐसा अन्तर्ज्ञान है जो अपने आप में विश्वसनीय होता है। इसमें हमें एक ऐसे प्राणी का बोध होता है जो विचार और अभिव्यक्तिकरण के परे होता है। वह सम्पूर्ण और अनन्त होता है। भारतीय सिद्ध पुरुषों ने इस वास्तविकता अर्थात् ईश्वर को सच्चिदानन्द कहा है। जब मनुष्य को सच्चे अर्थों में आत्मज्ञान हो जाता है तब आत्मा और परमात्मा के बीच की खाई समाप्त हो जाती है। हिन्दू रहस्यवाद, नियोप्लेटोनिक रहस्यवाद, सूफीवाद और ईसाई रहस्यवाद सभी में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है। विश्व के सभी धर्मों का उद्देश्य आत्म-ज्ञान के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करना होता है। यदि धर्म सर्वप्रभुत्व सम्पन्न है तो अन्य सभी ज्ञान-विज्ञान अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होते हुए भी इसके अधीन हैं। डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं कि राजनैतिक समानता अथवा वैज्ञानिक व्यवस्था की केवल नियम सम्मत घोषणा ही पर्याप्त नहीं है। राजनीतिक समानता की रक्षा केवल तभी संभव है जब उन सब सम्प्रदायों को जिन्हें मताधिकार प्राप्त है आत्म विकास के लिए उचित अवसर दिये जायें।[1]

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार विशुद्ध चेतना, विशुद्ध स्वतंत्रता और अनन्त संभावना ईश्वर की विशेषताएँ हैं। ईश्वर के इसी रूप को समझना ही संसार का अनुभव करना है। अनन्त ईश्वर अपने को अभिव्यक्त करने के लिए ही सीमाओं में बंधता है। हिन्दू दार्शनिकों ने ईश्वर की इसी आत्म बंधन की शक्ति को ही माया की संज्ञा दी है। आत्मा और पदार्थ ईश्वर और माया के ही अभिव्यक्त रूप हैं, दूसरे शब्दों में आत्मन और अनात्मन ईश्वर के ही दो अभिन्न रूप हैं। इनके मध्य संघर्ष के ही फलस्वरूप संसार में विभिन्न स्तर के

---

1. डॉ. राधाकृष्णन— स्वतंत्रता और संस्कृति, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृष्ठ 76

प्राणियों की उत्पत्ति हुई है। सबसे निम्न स्तर पर ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनमें आत्मा व्यक्त नहीं होती। द्वितीय स्तर की वस्तुएँ पेड़-पौधों के रूप में हमारे सामने आती हैं। इस कोटि की वस्तुओं में जीवन के रूप में आत्मा अभिव्यक्त होती है। जीव पदार्थ का उपभोग अपने हित में करता है। जब हम ऐसे प्राणियों के संसार में आते हैं जिनमें जीवन के अतिरिक्त मस्तिष्क, जोकि आत्मा का ही एक रूप है, भी दिखलाई पड़ता है। इस कोटि के प्राणियों को पशु कहा जाता है। पशु से उच्च स्तर का प्राणी मनुष्य होता है। जिसमें स्वतंत्र इच्छा और तर्क पाया जाता है। मनुष्य अपने में ही निहित सौंदर्य, सत्य आदि आत्मिक गुणों को विकसित कर देवता के तुल्य हो जाता है। ईश्वर आत्मिक गुणों के साथ ही पूर्ण भी होता है। मनुष्य स्वयं में इन गुणों को जिस मात्रा में विकसित करता है उसी मात्रा में वह देवत्व को प्राप्त करता है। इन गुणों के विकास की अन्तिम सीमा तब होती है जब समस्त पदार्थ आत्मा में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार ईश्वर अपनी मौलिक एकता को प्राप्त हो जाता है और यही ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया का इतिहास है।

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार मनुष्य की सच्ची उन्नति इस बात में होती है कि वह अपनी योग्यता और क्षमता को सबके हित में प्रयुक्त करे। मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माण ज्ञान, कला व नैतिकता के सहारे करना चाहिए। आपके विचार से पुनर्जन्म के सिद्धान्त को न स्वीकार करने की अपेक्षा उसे स्वीकार करना अधिक तर्कसंगत है। प्रकृति का रास्ता ही अविच्छिन्नता का रास्ता है। आपके मत से मानव आत्मा चाहे जितनी पतित हो जाये, पर उसके पशु शरीर में जाने की सम्भावना नहीं है। मृत्यु के पश्चात् आत्मा जिस स्वरूप को ग्रहण करती है वह उस शरीर में पूर्णतया भिन्न हो सकता है जिसको कि उसने मृत्यु के फलस्वरूप छोड़ा है। मोक्ष प्राप्त आत्मा को भी तब तक क्रियारत रहना होगा जब तक कि ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया चलती रहेगी। सच्चे मोक्ष की प्राप्ति के लिए केवल आत्मा में ही सामंजस्य की आवश्यकता नहीं होती वरन् वातावरण के साथ भी होती है। इसलिए वातावरण में जब तक कोई भी तत्त्व ऐसा होगा जोकि मुक्त न हो तब तक आत्मा को क्रियाशील होना पड़ेगा। यह जगत परिवर्तनशील है। इसमें जीवन को सफल बनाने के लिए स्वयं को परिस्थिति के साथ समायोजित करने की क्षमता व्यक्ति में होनी चाहिए। वह लिखते हैं कि केवल सत्य ही हमारा पथ-प्रदर्शक नक्षत्र है। सत्याश्रयहीन, मृतप्राय प्रथाओं को अतीत गौरव और श्रद्धास्पदता के नाम पर जीवित रखना, उस रोगी के कष्ट की अवधि को बढ़ाना है जो सड़े गले अतीत के विष से पीड़ित है। हमें परिवर्तन से घबराना नहीं चाहिए। हमारा दर्शन

कहता है कि नित्य केवल भगवान् है, जीवन तो नित्य परिवर्तनशील है।[1]

संसार सत्य और माया दोनों का सम्मिश्रण है जिसमें जीव और पदार्थ दोनों तत्त्व पाये जाते हैं। इसमें यदि कोई वस्तु वास्तविक है तो वह आध्यात्मिक मान्यता है। डॉ० राधाकृष्णन का विश्वास है कि जब जीवन का उद्देश्य भौतिकता की प्राप्ति हो जाता है तो जीवन जीने योग्य नहीं रह जाता। इसलिए उनका कथन है कि संसार के सभी बुद्धिजीवियों को चाहिए कि वे एक ऐसे संसार की स्थापना करें जिसमें सामान्य वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ ही सामान्य आध्यात्मिक उद्देश्य भी हो। एक नये संसार की रचना तब होगी जब ईश्वर का साक्षात्कार कुछ व्यक्ति न करके सम्पूर्ण मानवता करेगी। वह लिखते हैं कि वास्तविक स्वतन्त्रता तो आध्यात्मिक स्वतन्त्रता है। सच्चा स्वराज्य मनुष्य की आत्मा का स्वराज्य है। व्यक्ति ही संसार का केन्द्र है। जीवन की अभिव्यक्ति व्यक्ति में होती है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वप्न देखने, स्नेह करने तथा ध्यान धरने की आजादी होनी चाहिए। आप व्यक्तियों को समूह मुक्त कर सकते हैं, उन्हें भेद-विहीन एकत्व नहीं दे सकते। मानव इतिहास में जब कभी जो भी उन्नति हुई है उन सबका श्रेय मनुष्य की आत्मा को ही है। यह अज्ञेय आत्मा जो विविध नामरूपों का आधार है जो मनुष्य के अनवरत् प्रयासों, महत्त्वाकांक्षाओं तथा सिद्धियों का मूल है, आशायुक्त, प्रयास निरत, असफल होकर भी प्रगतिशील, कुछ पाकर अधिक पाने को आगे बढ़ने वाली मनुष्य की यही आत्मा मानव इतिहास का केन्द्र बिन्दु है। इसको हानि पहुँचाना, इसका दमन करना, मनुष्य को जानवर बना देता है।[2]

इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक समस्याओं के समाधानार्थ हिन्दुओं ने जो मार्ग बतलाया है उसे संसार को एक आदर्श पाठ के रूप में अपनाना चाहिए क्योंकि हिन्दू धर्म भी अंग्रेजों द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रमण्डल के ही समान है। हिन्दू धर्म एक सामान्य खोज में एकता ढूंढता है न कि एक सामान्य धर्म में। इसका विश्वास संस्था की एकता में न होकर आत्मा की एकता में है। डॉ० राधाकृष्णन ने बौद्ध धर्म की भी विवेचना की। उनके लिए बुद्ध एक शिक्षक थे। उनकी शिक्षा का आधार उपनिषदों का दर्शन था। उन्होंने उपनिषदों की शिक्षा को ही लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। आपने उपनिषदों के आध्यात्मवाद और उस पर आधारित भारतीय दर्शन के विषय में पाश्चात्य जगत में फैली

1. डॉ० राधाकृष्णन— स्वतन्त्रता और संस्कृति, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृ. 16

2. डॉ० राधाकृष्णन— स्वतन्त्रता और संस्कृति, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृ० 160

हुई भ्रांतियों में से कुछ का स्पष्टीकरण भी कर दिया है। आध्यात्मिक परम्पराओं के अनुसार अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन में परिवर्तन लाते समय हमें कतिपय सामान्य नियमों का अनुसरण करना चाहिए। डॉ० राधाकृष्णन द्वारा प्रतिपादित इन नियमों को निम्न ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है :—

1. यह संसार मनुष्य की स्वतन्त्रता के द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए कार्यरत है। अतएव यह संसार निरुद्देश्य नहीं है। इसलिए हमारे जीवन में जो संस्थाएँ हों, जो हमारे आदर्श, रीतिरिवाज, उत्सव और कानून हों उन सबमें इस ईश्वराभिमुख प्रवृत्ति की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का भाव निहित होना चाहिए।

2. आत्मा के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उन सभी नियमों, रीतिरिवाजों और मान्यताओं को, जोकि समय व परिस्थिति के अनुकूल न हों, बदल कर नए नियमों, रीति-रिवाजों और मान्यताओं की प्रतिष्ठा की जाय। सत्य तो यह है कि सामाजिक परिवर्तनशीलता हिन्दू धर्म की एक प्रमुख विशेषता रही है। वह लिखते हैं कि ऐसा प्रतीत होने लगा है जैसे देश शान्त, शिथिल हो गया हो। आजकल हम ऐसे युग में होकर गुजर रहे हैं, जब मानव समाज प्रतिक्रिया की शक्तियों की ठोकरें खाकर आगे की ओर नए वेग से पग बढ़ाने को ही है। चारों ओर दम घुटने की सी हालत है। प्रतिबन्ध की दीवारों को गिराने की आवश्यकता की अनुभूति हम करते हैं जिससे हम स्वतन्त्रतापूर्वक साँस ले सकें तथा खुले हुए विस्तृत आकाश को आँख भरकर देख सकें।[1]

3. हमें चाहिए कि हम वर्तमान समय में मानव प्रतिष्ठा, स्वतंत्रता और न्याय की रक्षा के लिए अपने अतीत के इतिहास में विकसित नित्य सिद्धान्तों का अध्ययन करके ही नये नियमों की प्रतिष्ठा करें। वह लिखते हैं कि इतिहास एक स्वच्छ दर्पण है जिसमें हम अपने आपको प्रतिबिम्बित देख सकते हैं। साधारण दर्पण की भाँति वह केवल हमारे बाह्य स्वरूप का ही दर्शन नहीं कराता वरन् हमारे हृदय के स्पष्ट नग्न रूप को भी हमारे सम्मुख ला उपस्थित करता है। उसमें हम अपनी शक्ति के साथ ही साथ अपनी दुर्बलताओं को भी देख सकते हैं। जीवन, विकास तथा स्वास्थ्य के साथ ही साथ हम उन बीमारियों का भी दर्शन कर सकते हैं, जिनके हम शिकार हैं।[2]

पाश्चात्य भौतिक व वैज्ञानिक प्रगति से डॉ० राधाकृष्णन प्रभावित हैं तथा भारतीय जागरण के लिए उसे आवश्यक समझते हैं लेकिन भारतीय

---

1. डॉ० राधाकृष्णन— 'स्वतंत्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृ. 13

2. –वही– पृ. 15

आध्यात्मिक व सांस्कृतिक परम्परा के सुदृढ़ आधार पर उन मूल्यों को बनाये रखकर इस प्रकार का विकास चाहते हैं। वह कहते हैं कि जिस प्रकार पश्चिमी राष्ट्रों ने नवजागृति के समय प्राचीन सांस्कृतिक सम्पत्ति को अपनाकर अपना चौला ही बदल दिया है। ठीक उसी प्रकार हमें श्रमसाध्य पथ का अनुसरण करना होगा एवं अपने इतिहास व दर्शन से नवजागृतिकालीन यूरोपीय जातियों की मानसिक अवस्थाओं के समकक्ष मानसिक दशाओं का सार खींच लेना होगा। दूसरे देशों में, भिन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप विकसित सभ्यता हमारी अपनी सभ्यता कभी नहीं हो सकती। अपनी संस्कृति को उर्वरक बनाने के लिए हमें प्रत्येक नूतन प्रयास को अपने अतीत से सम्बद्ध कर लेना होगा। पाश्चात्य विज्ञान के भाव तथा पद्धति को ग्रहण करना होगा, उसके निष्कर्षों को नहीं। केवल उसी प्रकार हम संसार के समस्त ज्ञान भण्डार को विशिष्ट भारतीय सहायता दे सकते हैं।[1]

4. हमें अपूर्ण पर विजय प्राप्त करने के लिए अनवरत प्रयास करते हुए दृढ़तापूर्वक अपने आदर्श की ओर अग्रसर होना चाहिए और न कि असंभव मानकर स्वयं को ही समाप्त कर देना चाहिए। वह आशा करते हैं कि विज्ञान की विजय को मानव दशा में सुधार का अधिभौतिक मार्ग बताकर उपहास करने वालों की संख्या अधिक नहीं है। दरिद्रता तथा बीमारी या आदमी के द्वारा खींची जाने वाली रिक्शा की मौजूदगी ही आध्यात्मिक सभ्यता का लक्षण नहीं है। यह कहना कि ज्ञान का मूल्य रत्नों की अपेक्षा अधिक है, एवं ज्ञानी प्रत्येक परिस्थिति में सुखी रहता है एक बात है, घोर दरिद्रता एवं अस्वास्थ्य की आध्यात्मिक उन्नति का अनिवार्य साधन बताना बिल्कुल दूसरी।[2]

5. हमें नैतिक नियमों का अनुसरण करते हुए भी यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारा आदर्श नैतिक नियमों से अधिक पवित्र है, सही से भी अधिक सुन्दर है, पर्याप्त से भी अधिक पूर्ण है, कानून से भी अधिक प्रिय है।

6. मानवीय संबंधों की सर्वोच्च व्यवस्था जनतंत्रात्मक व्यवस्था है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी सर्वोच्च पूर्णता को प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र है। यह व्यवस्था समानता, सौहार्द, न्याय और विश्वबंधुत्व के सिद्धान्तों को मान्यता देती है। यह इसी के आधार पर अवलंबित है। वह कहते हैं कि निस्सन्देह संसदीय प्रजातंत्र सरकार का सर्वाधिक सभ्य रूप है। इसमें हम शान्तिपूर्ण उपायों से शीघ्र और क्रांतिकारी सामाजिक आर्थिक परिवर्तन

---

1. डॉ० राधाकृष्णन— 'स्वतंत्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृ. 78

2. –वही– पृ. 19

उत्पन्न कर सकते हैं। प्रजातंत्र में विश्वास करने पर हमारी जिम्मेदारी हो जाती है कि हम राष्ट्रों के बीच सामाजिक न्याय स्थापित करें और अन्य राष्ट्रों को प्रजातांत्रिक अधिकार प्राप्त करने में सहायक हों। पक्षपातहीन प्रजातंत्र का नारा लगाया जाना आसान है। उसका पालन करना कठिन है। यदि प्रजातांत्रिक देशों में उद्देश्य के प्रति ईमानदारी और आस्था का उत्साह पैदा हो जाये तो वे शोषित राष्ट्रों को स्वतंत्र कर देंगे, जातीय भेदभाव मिटाने का प्रयत्न करेंगे और पिछड़े हुए देशों की आर्थिक प्रगति में सहायक होंगे। यदि संसार के प्रजातांत्रिक राष्ट्रों की प्रजातंत्र के प्रति दृढ़ आस्था स्थापित हो सके तो प्रजातांत्रिक राष्ट्रों का विरोध कम हो जाएगा। औपनिवेशिक देशों के अरबों निवासियों और संसार भर के करोड़ों कामगारों को साम्यवादी व्यवस्था में सामाजिक समानता, राजनैतिक स्वतंत्रता और आर्थिक विशेषाधिकार के उन्मूलन की संभावनाएँ दीखती हैं। ये सारी बातें ही प्रजातंत्र का उद्देश्य हैं।[1]

7. अहिंसा की चर्चा करते हुए डा० राधाकृष्णन कहते हैं कि यह एक मानसिक व्यवहार है न कि कोई शारीरिक स्थिति। प्रेम व घृणा का अभाव इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में भी हमें उसी सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए। आधुनिक परिस्थिति में शुद्ध मानव सभ्यता और संस्कृति के लिए एक बहुत बड़ा खतरा है। इसके लिए हमें एक युद्धविहीन संसार की स्थापना का आदर्श सदैव अपने सामने रखना चाहिए।

आचार्य विनोबा भावे

आचार्य विनोबा अपने दार्शनिक विचारों में पूर्णतया वेदान्तिक हैं। वह ईश्वर को सर्वशक्तिमान तथा स्वयंभू मानते हैं। ईश्वर प्राप्ति के लिये ब्रह्म विद्या प्राप्त करने की ओर उनका झुकाव है। सांसारिक बन्धनों के आधार पर वह आत्मा व परमात्मा का वर्गीकरण करते हैं। पश्चिम बंगाल भेदिनीपुर में सन् 1963 में दिये गये भाषण में वह कहते हैं कि तीन प्रकार के जीव होते हैं: 1. पापात्मा, 2. मृतात्मा, 3. परमात्मा। जो वासनाओं से जकड़ा हुआ है वह पापात्मा है। उसकी पाप वासना समाप्त होने पर वह शुद्ध यानी पूतात्मा होगा। शुद्ध होने के बाद जब वह व्यापक बनेगा तब वह परमात्मा होगा।"[2]

---

1. डा० राधाकृष्णन— 'पूर्व और पश्चिम कुछ विचार', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1965, पृ० 127

2. विनोबा— 'आत्मज्ञान और विज्ञान', सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1968, पृष्ठ 24

आचार्य विनोबा परमात्मा से साक्षात्कार के लिये आत्म शुद्धि को आवश्यक मानते हैं। आत्म शुद्धि के लिये आत्मज्ञान आवश्यक है और आत्मज्ञान के लिये योग साधना आवश्यक है। व्यक्ति का लक्ष्य सुदूर ब्रह्माण्ड के ज्ञान के साथ-साथ आत्म शक्ति प्राप्त करने की ओर भी होना चाहिये। मैसूर में 1957 में दिये गये भाषण में वह कहते हैं कि हिन्दुस्तान के लोग मुक्ति को नजदीक देखते हैं और कहते हैं कि हमें आत्मज्ञान हो गया है। सिर्फ गांधी जी ही ऐसे आदमी थे जो कहते रहे कि मुझे आत्मज्ञान नहीं हुआ है। जिस प्रकार विज्ञान के सामने असंख्य ध्येय हैं उसी प्रकार आत्मज्ञान के सामने भी होना चाहिये। जैसे विज्ञान कुल ब्रह्माण्ड पर स्वामित्व चाहता है वैसे ही हमें भी कुल आत्म शक्ति पर प्रभुत्व हासिल करने की चाह रखनी चाहिये।"[1]

आत्मज्ञान प्राप्ति के निमित्त विनोबा ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग, योग मार्ग तथा कर्म मार्ग की व्यवस्था बताते हैं। मैत्री में सितम्बर 1966 में दिये गये अपने वक्तव्य में उन्होंने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि आत्मज्ञान उसको कहते हैं जिसके द्वारा पूरे ब्रह्माण्ड को अपने में पहचान सकते हैं। ब्रह्माण्ड के स्वरूप का और उसके कर्त्ता का पता लगाना संभव नहीं है। वह अत्यन्त व्यापक व सूक्ष्म है फिर भी उसे पहचानने का प्रयत्न किया जा सकता है। यह प्रयत्न बाह्य साधनों द्वारा भी किया जा सकता है। फिजिक्स विश्व का बाह्य रूप समझने में मदद करता है। मेटाफिजिक्स विश्व का आंतरिक रूप थोड़ा सा समझाता है। लेकिन इन शास्त्रों से पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये मनुष्य का चन्द्रमा पर पहुँचना बहुत मामूली बात मानी जायेगी। आकाश में इतने तारे, नक्षत्र, ग्रह हैं कि उन पर पहुँचना असंभव है। कुछ ग्रह तो इतने दूर हैं कि उनकी प्रकाश की किरणें भी अभी तक धरती पर पहुँच नहीं पायी हैं। इसका अर्थ यही है कि विज्ञान के द्वारा की गई खोजों से अर्थात् बाह्य विश्व में की गई खोजों से ब्रह्माण्ड के और उसके कर्त्ता के विषय में कुछ नहीं पा सकेंगे। शरीर के अवयवों में जो व्यवस्था है वैसी व्यवस्था हमें समाज रचना में लानी है क्योंकि जो कुछ सृष्टि में है वही पिण्ड में है और वही ब्रह्माण्ड में है। परन्तु यह बहुत दूर है। इतना दूर कि इसको समझना आसान नहीं है और उसका कर्त्ता कौन है यह समझना तथा उसको प्राप्त करना और भी अधिक दुर्लभ है। इसलिए उसको समझने का आसान तरीका है— उसे पिण्ड में जानना, वही अध्यात्म है। इसके लिये मुख्य चार मार्ग हैं— ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग, योग मार्ग और भक्ति मार्ग।[2]

---

1. –वही– पृष्ठ 25
2. –वही– पृष्ठ 30

आचार्य विनोबा का सर्वोदय दर्शन गांधी जी के सर्वोदय सिद्धान्तों पर आधारित है। वस्तुतः सर्वोदय की भावना 600 ई० पू० के भारत में भी विद्यमान थी। जैन धर्मों के ग्रन्थों में सर्वोदय तीर्थ शीर्षक से आज के सर्वोदय विचार मिलते हैं। गांधी जी ने इसी सर्वोदय के व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया तथा विनोबा जी ने अध्यवसाय द्वारा उसे एक सीमा तक कार्यरूप में परिणत कर दिखाया। सर्वोदय का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है इसमें वह सभी बातें आ जाती हैं जिनका सम्बन्ध, मनुष्य, समाज, सरकार तथा सम्पूर्ण सृष्टि से है। जहाँ तक सर्वोदय के सामाजिक पक्ष का सम्बन्ध है उसमें ऊँच-नीच, जात-पांति और वर्ग विभेद के लिए कोई स्थान नहीं है। वह एक ऐसे सर्व-हितकारी समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें सभी मनुष्य परस्पर प्रेम से बँधे हों और हर प्रकार की सुविधाओं का समान रूप से उपभोग करते हों। विनोबा जी का कथन है कि सभी धर्मों के बुनियादी सिद्धान्त वही हैं। प्रत्येक धर्म में सेवा और त्याग का उपदेश है और यह भी उपदेश है कि दूसरों को हानि न पहुँचाओ। समाज की ताकत एकता में है। किसी वाद्य से तभी मधुर संगीत निकल सकता है जब उसके सारे स्वर सुसंवादी होंगे। अगर किसी वाद्य में केवल एक ही सुर होगा तो उसमें वह स्वर माधुरी नहीं होगी। हिन्दुओं और मुसलमानों का पूजा प्रार्थना का तरीका अलग-अलग है। ईसाइयों का तरीका भी अलग है। परन्तु ये सभी धर्म उसी एक ईश्वर की पूजा करते हैं, जो सत्य, प्रेम और करुणा है। सच्चा धर्म तो चाहता है कि मनुष्य मात्र शान्ति से रहे। इसलिए जो भी द्वेष, झूठ और भेदभाव की बात करते हैं वे धर्म और अध्यात्म के दुश्मन हैं।[1]

सर्वोदय जनतंत्रात्मक शासन पद्धति का समर्थक है। जनतांत्रिक सिद्धान्तों पर आधारित सरकार ही सर्वहितकारी समाज का कल्याण करने में सक्षम है। मानसिक जगत में सर्वोदय इन्द्रिय विग्रह तथा मानव जाति के आध्यात्मिक विकास पर बल देता है। सर्वोदय सृष्टि को प्रकृति को पर्यायवाची मानता है। सर्वोदय दर्शन के अनुसार मनुष्य के दुःखों का कारण उसका प्रकृति से दूर रहना है। उसके दुःखों का निवारण प्रकृति की शरण से ही हो सकता है। सर्वोदय वैज्ञानिक प्रगति का भी विरोधी नहीं है वह वैज्ञानिक प्रगति से मनुष्य को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाना चाहता है। कृषि का आधार प्रकृति है अतः कृषि की उन्नति के लिए प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान परमावश्यक है। सन् 1957 में मैसूर में दिये गए अपने भाषण में वह कहते

1. श्रीमन्नारायण— 'ऋषि विनोबा', सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1972, पृ० 174

हैं कि अहिंसात्मक और सहयोगी ये दोनों पद्धतियाँ हमारे सर्वोदय के मार्ग में जुट जाती हैं। अहिंसात्मक पद्धति आत्मा की एकता के अनुभव पर आधारित है यह आध्यात्मिक विचार है। सहयोगी पद्धति विज्ञान पर आधारित है। इस प्रकार आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दोनों का योग सर्वोदय में हुआ है। कुछ लोग समझते हैं कि सर्वोदय का अर्थ दकियानूस है। किसी तरह के वैज्ञानिक शोधों की कीमत ही नहीं समझते। मिल की अपेक्षा चरखे को पसन्द करेंगे, चरखे की अपेक्षा तकली को पसन्द करेंगे, और इससे भी आगे बढ़कर अगर हाथ से सूत कातें तो वे सबसे अधिक पसन्द करेंगे। सर्वोदय की आध्यात्मिकता के विषय में तो किसी को शक नहीं था, किन्तु इसकी वैज्ञानिकता के विषय में सन्देह अवश्य था। अब दोनों विषयों में निस्संदिग्धता हो गई है और हमें विविध आशीर्वाद मिले हैं।[1]

आचार्य विनोबा के सर्वोदय का उद्देश्य किसी समाज, अथवा राष्ट्र विशेष का कल्याण न होकर मानव मात्र का कल्याण करना है। सर्वोदय समाज में जाति-पांति, धर्म का भेदभाव न होगा, शोषण का अवसर न होगा और व्यक्ति तथा समाज दोनों को अपने विकास का पूरा अवसर मिलेगा। इस उद्देश्य के लिए निम्नलिखित कार्यों का अवलम्बन किया जाएगा— 1. सामाजिक एकता स्थापित करना, 2. अस्पृश्यता को दूर करना, 3. जाति-पांति को समाप्त करना, 4. नशाबन्दी, 5. खादी व ग्रामोद्योग, 6. गाँवों की सफाई, 7. नई तालीम, 8. पुरुषों व स्त्रियों के अधिकार व प्रतिष्ठा की समानता, 9. आरोग्य व स्वच्छता, 10. भारतीय भाषाओं का विकास, 11. संकीर्ण प्रान्तीय भावों को मिटाना, 12. हिन्दुस्तानी का राष्ट्र भाषा के रूप में प्रचार करना, 13. आर्थिक समानता, 14. खेती की उन्नति, 15. मज़दूरों का संगठस, 16. आदिवासी कल्याण, 17. विद्यार्थी संगठन, 18. कुष्ठ रोगियों की सेवा, 19. अनाथ दरिद्रों की सेवा, 20. गो-सेवा, 21. प्राकृतिक चिकित्सा, 22. अन्य सेवा के कार्य।[2]

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आचार्य ने गांधी जी की भाँति साध्य व साधन दोनों की पवित्रता पर बल दिया है। सेवाग्राम सम्मेलन में उन्होंने अपने भाषण में कहा है कि सारे प्रश्नों का मध्य बिन्दु साधन शुद्धि है। दूसरी बातों में हमारे विचार अलग-अलग हो सकते हैं परन्तु यदि एक इस बुनियादी बात पर सहमत हो जाते हैं तो हमारी सारी कठिनाइयाँ हल हो जाएंगी। इस

---

1. विनोबा— 'आत्म ज्ञान और विज्ञान', सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1968, पृ० 154

2. श्री मन्नारायण— 'ऋषि विनोबा', सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1972, पृ० 163

बुनियादी बात पर यदि हम सम्मिलित मोर्चा बना लेते हैं तो सचमुच यह बड़ी सफलता होगी ।[1]

विनोबा जी कहते हैं कि हमें आदर्शों का ही ध्यान रखना चाहिए । हम मात्र बापू के नाम को लेकर न चलें वरन् उनके कार्यों को अपनाएँ । हमारी मुख्य शक्ति नैतिक व आध्यात्मिक होगी । प्रार्थना व समर्पण की भावना को लेकर हम आगे बढ़ें, इसके लिए आत्मबल का चरम विकास आवश्यक है । इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मन और बुद्धि में सामंजस्य की स्थापना, चितवृत्तियों का शुद्धिकरण और आत्म निरीक्षण की नितान्त आवश्यकता है । इसे सर्वहितकारी समाज की स्थापना में प्रथम और अन्तिम कदम समझना चाहिए । क्योंकि उक्त प्रकार के समाज की स्थापना तब तक सँभव नहीं है जब तक कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ अपनी आत्मिक एकता का अनुभव किये बिना मनुष्य वसुधैव कुटुम्बकम की भावना से ओत-प्रोत नहीं हो सकता । विनोबा जी ने अपनी उद्देश्य सिद्धि में भूदान आन्दोलन तथा सम्पत्ति दान यज्ञ जैसे रचनात्मक कदम उठाये तथा ग्रामीण क्षेत्रों को इकाई के रूप में चुना, जिससे आर्थिक वैषम्य समाप्त करने में सहायता मिल सके और व्यक्ति मानववादी गुणों से बिभूषित हो सके । □

1. श्री मन्नारायण— 'ऋषि विनोबा', सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1972, पृ० 161

३

शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर उपरोक्त भारतीय शिक्षा दार्शनिकों के विचार

1. शिक्षा का उद्देश्य
2. शिक्षा का पाठ्यक्रम
3. शिक्षण-विधि
4. शिक्षक व छात्र सम्बन्ध
5. अनुशासन
6. स्त्री शिक्षा

शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर भारतीय शिक्षा दार्शनिकों के विचार

शिक्षा का उद्देश्य

शंकराचार्य

शंकराचार्य का समस्त चिन्तन वेदान्त पर आधारित है। वेदान्त की केन्द्रीय समस्या ब्रत की धारणा है। इस दर्शन में ब्रत तत्त्व के अन्वेषण पर बल दिया जाता है। वेदान्त दर्शन को उपनिषदों की सर्वाधिक प्रामाणिक टीका माना जाता है। वेदान्त में चेतन ब्रत का प्रतिपादन बड़ी कुशलता से किया गया है। वेदान्त दर्शन के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ब्रत साक्षात्कार है। अध्यात्मोपनिषद् (63) में कहा गया है—

"एकयैवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचन"

अर्थात् इस विश्व में एक ही सत्ता है अनेक की सत्ता नहीं है। अनेकता में एकता का दर्शन करने का लक्ष्य होना चाहिए और बालक को धीरे-धीरे इस दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए कि विश्व में नानात्व माया की देन है। जीव सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है। अविद्या के कारण हम उस सर्वज्ञ को पहचान नहीं पाते। समस्त सृष्टि जो हमको दिखाई पड़ती है वह उसका सत्य रूप नहीं है क्योंकि वह नाशवान् है। अध्यास के कारण हम किसी वस्तु के गुणों को किसी अन्य वस्तु पर आरोपित कर देते हैं। पहले से देखी हुई किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु में स्मृति-रूप से आभास होना ही अध्यास है। शंकराचार्य के अनुसार यह अध्यास केवल भ्रामक प्रतीतियों में ही नहीं होता वरन् आत्मा और अनात्मा के मिथ्या तादात्म्य में भी देखा जाता है। इस प्रकार का अध्यास हमारे समस्त सांसारिक अनुभवों का एक अंग है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन ये आत्मा नहीं हो सकते क्योंकि ये वस्तुएँ उसी प्रकार हमारे ज्ञान के विषय हैं जैसे भौतिक वस्तुएँ। लेकिन फिर भी मानव सोचता है जैसे— "मैं काला हूँ" आदि। इस प्रकार भ्रान्त प्रत्यक्ष के रूप में प्रतीत होने वाला यह अनादि और अनन्त अध्यास चला आ रहा है। ब्रह्म ज्ञान द्वारा इस अध्यास का नाश ही उपनिषदों का लक्ष्य है। अध्यास एक त्रुटि है और त्रुटि बोधगम्य न होने के कारण तार्कीय व्याख्या के अनुपयुक्त है। अतः शंकराचार्य व अव्याख्येय अविद्या को अनादि मानकर तार्किक क्षेत्र से अलग रखते हैं। यद्यपि अविद्या अपने में

बुद्धिगम्य नहीं प्रतीत होती किन्तु उसकी मान्यता हमारी तर्क बुद्धि की एक बड़ी आवश्यकता को पूरा करती है।

मुण्डकोपनिषद के अनुसार ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है। जीव और ब्रह्म के एक हो जाने पर मुक्ति की अवस्था आती है और वेदान्त का परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्त हो जाता है। सत्य तो यह है कि मुक्ति अविद्या के नाश द्वारा ही सहज प्राप्य है। विद्या द्वारा इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर जीव स्वयं कह बैठता है कि "अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ। यह बृहदारण्यक का वचन है। इस महावाक्य की अनुभूति करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। शंकराचार्य ने आधुनिक विचारकों की भाँति कोई मूल्य या सिद्धान्त प्रतिस्थापित नहीं किया है किन्तु उनके द्वारा किया गया अभ्युदय और निःश्रेयस का भेद, मूल्यों के आन्तरिक और बाह्य भेद के समतुल्य माना जा सकता है। हम जिन सांसारिक वस्तुओं की आकांक्षा करते हैं और मूल्य प्रदान करते हैं वे अभ्युदय के अन्तर्गत आती हैं। इनका केवल बाह्य मूल्य समझना असंगत न होगा। इनमें से किसी वस्तु का भी स्वयं मूल्य नहीं है। शंकराचार्य के अनुसार स्वतः मूल्यवान केवल एक वस्तु है जिसकी विचारपूर्ण आकांक्षा की जा सकती है। वह पूर्ण सत्य, पूर्ण ज्ञान व पूर्ण आनन्द, ब्रह्म है। उनके ब्रह्म में सर्वमान्य आंतरिक मूल्य— सत्यं, शिवं, सुन्दरम् अपनी पूर्ण पराकाष्ठा के साथ विद्यमान है। अतः उसे निःश्रेयस कहते हैं। इसके अतिरिक्त स्वर्ग तक अभ्युदय के अंतर्गत आते हैं क्योंकि उनका मूल्य भी सापेक्षिक है।"[1]

वर्णाश्रम धर्म की दोनों व्यवस्थाएँ शंकराचार्य को मान्य थीं, किन्तु जहाँ तक ब्रह्मज्ञान का प्रश्न है, उन्होंने उसे किसी विशेष वर्ण या आश्रम में सीमित नहीं रखा है। उनका सत्य का मंदिर सबके लिए खुला है। दिव्य अनुभूति सबके लिए सर्वत्र सम्भव है। जिस किसी को अपने आत्म-दर्शन की सच्ची भूख और प्यास होती है, वह उसे प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता इसी बात की है कि वह अपने को इस योग्य बनाये। शंकराचार्य के मतानुसार कोई भी व्यक्ति जीवन के किसी भी क्षेत्र या स्तर में रहते हुए यह कर सकता है। उनके विचार से वर्णाश्रम धर्म वस्तुतः ब्रह्म या विश्वात्मा के दर्शन या ज्ञान प्राप्त करने में सहायक ही सिद्ध होता है। अपने वर्ण और आश्रम के अन्तर्गत निहित कर्त्तव्यों का पालन करने से नैतिक शक्ति अर्जित होती है। यदि कर्त्तव्यों को उनके फल की इच्छा न रखते हुए भगवत् समर्पित कर दिया जाता है तो उससे आत्म-शुद्धि होती है और जिसका मन व हृदय शुद्ध हो गया है वह ज्ञान प्राप्त करने

1. डॉ० रामस्वरूप सिंह नौलाखा— 'आचार्य शंकर ब्रह्मवाद' किताब घर, आचार्य नगर, कानपुर, 1974, पृ. 297

की क्षमता प्राप्त कर लेता है। उसी क्षमता के द्वारा वह निःश्रेयस प्राप्त करने में सफल होता है। स्वभाव से नियत किये हुए कर्म करने से मनुष्य को पाप नहीं लगता है। किसी व्यक्ति को अपने सहज कर्मों को त्यागने का विचार नहीं करना चाहिए, भले ही वह हीन प्रकार के प्रतीत होते हों। वर्णाश्रम के कर्मों की नैतिकता का संबंध कर्मों से उतना नहीं है जितना उस भावना से जिनके द्वारा ये किये जाते हैं। प्रो० म्योर हैड का कथन है कि अपनी पूरी क्षमता से कार्य न करने वाला कलाकार या लेखक न केवल हीन कर्मी होता है बल्कि उसे अच्छा आदमी भी नहीं कहा जाएगा।

ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति आत्मद्रष्टा बन जाता है और आत्मा व परमात्मा के भेद को नहीं देखता। उसके लिए आत्मा व परमात्मा दोनों एक हैं और केवल एक सत्य ब्रह्म की ही सत्ता उसे चारों ओर दिखाई पड़ती है। आत्म साक्षात्कार उसे तभी होता है जब वह अनुभव करता है कि मैं ब्रह्म हूँ। वृहदारण्यक के अनुसार—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" अर्थात् इस आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, इस पर मनन करना चाहिए और निदिध्यासन द्वारा इसका साक्षात्कार करना चाहिए। शिक्षा का यही लक्ष्य है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती

महर्षि दयानन्द के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य धर्माचरण है। बालक को खान-पान, आचार-विचार, वेशभूषा तथा व्यवहार कुशलता की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। प्रत्येक छात्र को वेदों में पारंगत होना चाहिए। वैदिक संस्कृति का पुनरुत्थान शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। महर्षि ने प्रत्येक बालक के लिए देव-यज्ञ का विधान किया है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वेदों का अध्ययन करना चाहिए। वह जनसाधारण को वेद-सम्मत शिक्षा प्रदान करते हैं। एक स्थान पर वह कहते हैं कि "मैं चाहता हूँ कि तुम लोग किसी बात को बिना परीक्षा किये न मान लिया करो। केवल बुद्धिसंगत बात को मानो, असंभव बात को नहीं। ईश्वर निराकार है, वह शरीररहित है इसलिए उसमें मुख, भुजाएँ आदि अंग नहीं हो सकते जिनसे चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई हो। अतः मन्त्रों का अर्थ ठीक-ठीक समझना चाहिए। हमारे शरीर में सिर अन्य अंगों से श्रेष्ठ है। सारी इन्द्रियाँ उसी में हैं। सम्पूर्ण शरीर की व्यवस्था वही करता है, उसी के संकेत पर सब इन्द्रियाँ काम करती हैं परन्तु उसका जीवन त्यागमय है। उसी प्रकार समाज रूपी शरीर का सिर ब्राह्मण है। जिस मनुष्य में ज्ञान और विद्या नहीं, तप और त्याग नहीं, परोपकार की वृद्धि नहीं वह ब्राह्मण नहीं हो सकता। शरीर के किसी भाग को कष्ट हो, पीड़ा हो तब

हाथ सहायता करने पहुँच जाते हैं। भुजाओं का यह गुण रखने वाले क्षत्रिय ही समाज की भुजाएँ हैं। पेट और फेफड़े खाद्य पदार्थों और वायु को एकत्र करते हैं, फिर भोजन को पचाकर और वायु को शुद्ध करके सारे शरीर को जीवन-दायिनी शक्ति प्रदान करते हैं। ठीक ऐसे ही वैश्य कृषि, व्यापार और उद्योग-धन्धों द्वारा धन अर्जन करके समाज के हित में ही लगा देता है। पैर शरीर को ढोये फिरते हैं और उसकी सेवा में तत्पर रहते हैं। समाज के पैर शूद्र हैं जैसे शरीर के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपना-अपना कार्य ठीक-ठीक करते हुए आपस में घृणा-द्वेष नहीं करते और न एक दूसरे को छोटा बड़ा समझते हैं, वैसे ही समाज के सब वर्णों को करना भी उचित है।"[1]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द शिक्षा द्वारा समाज में प्रचलित कुप्रथाओं और गलत धारणाओं को दूर करना चाहते हैं। विद्यार्थी जीवन संबंधी गुणों की विवेचना महर्षि ने तैत्तिरीय उपनिषद के शिक्षा संबंधी विवरण के आधार पर की है। यह विवरण ही आजकल अनेक विश्वविद्यालयों के दीक्षान्त समारोहों के प्रारम्भ के कुलपति द्वारा उच्चरित होता है जो निम्नवत है— "सत्य बोलो, धर्म पर आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद न करो। सत्य से प्रमाद न करो, धर्म से प्रमाद न करो, कुशल विभूति से प्रमाद नहीं करना चाहिए। माता-पिता आचार्य तथा अतिथि की उपासना करो। आनन्दनीय कर्मों का अनुसरण करना चाहिए, अन्य का नहीं। जो हम लोगों के अच्छे चरित्र हैं, तुम्हें उनका अनुसरण करना चाहिए, अन्य का नहीं। हम लोगों में जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं उनका तुम्हें आसन देकर आदर करना चाहिए। श्रद्धा और भय से दान करो अश्रद्धा से नहीं। जब तुम्हें किसी कार्य या आचरण के बारे में सन्देह हो तब जो निःस्वार्थी ब्राह्मण है, उन्हें देखो और वे जैसे आचरण करते हों, तुम भी वैसा ही आचरण करो, यह उपदेश है, यही वेद का रहस्य है। यही अनुशासन है और इसी का तुम्हें आचरण करना चाहिए।"

महर्षि दयानन्द ने अपने व्याख्यानों द्वारा जन जागृति का प्रयास किया जिससे समाज अन्धविश्वासों से ऊपर उठकर वास्तविक शिक्षा प्राप्त कर सके और समाज का आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक सभी प्रकार का विकास हो सके। एक सेठ जी द्वारा विशाल मन्दिर में धन व्यय करने पर उन्होंने कहा कि "आपने यह अच्छा कार्य नहीं किया। मन्दिर बनवाना तो मानो अपनी संतान और जाति के लिए अविद्या का एक सुदृढ़ केन्द्र स्थापित कर जाना है। यदि इतना धन किसी जनहित के कार्य में लगाते तो तुम्हारा और समाज का कल्याण

1. यदुवंश सहाय— 'महर्षि दयानन्द', लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971, पृ० 247

होता। देश में चारों ओर दरिद्रता मुँह फैलाए लोगों को निगल रही है और घोर अविद्या तथा अज्ञान के बादल छाये हुए हैं। इस धनराशि से यदि उद्योग-धन्धों के केन्द्र स्थापित करते, आर्य भाषा (हिन्दी) या देव भाषा (संस्कृत) की पाठशालायें खोलते तो देश की निर्धनता और अज्ञानता को थोड़ा बहुत दूर करने में सहायक होकर यश के भागी बनते। विधवाओं की दुख भरी आहों से, अनाथों के निरन्तर आर्तनाद से, गौवध के जघन्य कार्य से इस देश का सर्वनाश हो रहा है। यदि उनकी रक्षार्थ उस धन को काम में लाते तो अपना लोक परलोक दोनों बनाते। परन्तु तुमने कोई ऐसा सर्वहितकारी कार्य न करके लाखों रुपये लगाकर मन्दिर खड़ा कर दिया है। इससे कोई लाभ नहीं हुआ। मंदिर की तो यहाँ वैसे ही कमी नहीं है यदि कमी है तो प्रभु के सच्चे उपासकों की है। अतः यह कार्य धार्मिक न होकर अनर्थकारी ही हुआ।"[1]

महर्षि दयानन्द सेवा के द्वारा, निःस्वार्थ भाव से समाज के हित में कार्य करने को ही सबसे बड़ी उपासना समझते हैं और इसी की शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं। वह कहते हैं कि "बड़ा वह है जिसका जीवन अपने लिए न होकर दूसरों के लिए हो। मां इसीलिए बड़ी व पूज्य है कि उसका प्रत्येक क्षण अपनी सन्तान के लिए अर्पण है और राजा को बड़ा इसलिये माना जाता है कि उसे अपनी प्रजा की भलाई की चिन्ता हर समय रहती है। माता और राजा को अपनी सन्तान और प्रजा पालन में उनका अपना भी कुछ न कुछ स्वार्थ अवश्य रहता है, परन्तु वह परमपिता परमात्मा तो बिना किसी लोभ और स्वार्थ के ही हम सबको पालता है और हमारी रक्षा करता है। वह हमें सब कुछ देता ही है लेता कुछ नहीं। इसलिए वह श्रेष्ठतम और महत्तम है। वह सबका सेवक होने से ही सबका स्वामी है। इसलिए यदि तुम्हें बड़ा बनना है और यदि तुम सबके हृदयों पर अधिकार जमाना चाहते हो तो सबके सेवक बनो। तुम सेवक से शासक बन जाओगे। परन्तु बिना ईश्वर में विश्वास के कोई सच्चा सेवक नहीं बन सकता। सेवा एक बड़ी तपस्या है जिसमें भगवान् भी वश में हो जाते हैं, यही सबसे बड़ी ईश्वरोपासना है।"[2]

महर्षि दयानन्द ने वैदिक विचारों का प्रचार करने के लिए आर्य समाज संस्था की स्थापना की। आज देश भर में अनेक विद्यालय व महाविद्यालय इस संस्था द्वारा चलाये जा रहे हैं। इनमें सांसारिक विषयों के साथ-साथ वैदिक साहित्य का ज्ञान प्रदान करने की ओर भी प्रयास किया जाता है। महर्षि आर्य समाज संस्था से निम्नलिखित कार्य लेना चाहते हैं—

1. –वही– पृ० 89

2. यदुवंश सहाय— 'महर्षि दयानन्द', लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971, पृ० 154

1. समाज में प्रचलित कुप्रथाओं और उसमें फैले हुए अज्ञान एवं अंध-विश्वास को वैदिक शिक्षा के प्रचार द्वारा दूर करके उसमें जागृति उत्पन्न करना ।
2. स्थान-स्थान पर विद्यालय खोलकर और पत्र-पत्रिकायें निकालकर आर्य-भाषा व देव भाषा का प्रसार करके देशवासियों की निरक्षरता दूर करके उन्हें एक भाषा के सूत्र में पिरोना और संगठित करना।
3. देशवासियों में अपने देश और उसकी प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता के प्रति श्रद्धा भक्ति जागृत करके उन्हें पुनः एक स्वाभिमानी जाति बनाना ।
4. विधवा-अनाथ, दीन-दुखी और समस्त हिन्दुओं की रक्षा और सेवा करना ।
5. संसार के सब मनुष्यों के कल्याणार्थ कार्य करना ।

महर्षि के अनुसार आर्य समाज के मूल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

1. समस्त सच्चा ज्ञान ईश्वर से प्राप्त होता है, वह सर्वशक्तिमान है, तथा समस्त वस्तुओं को उसी की समझनी चाहिए ।
2. केवल एक ईश्वर की ही पूजा करनी चाहिए, क्योंकि वह पूर्ण रूपेण ज्ञान है, वह सत्य है, वह निराकार है, वह पक्षपात रहित है, अजन्मा है, वह सर्वशक्तिमान है, वह दया की मूर्ति है, वह अपरिवर्तनीय है, वह अनन्त है, वह अमर है । वह सर्वज्ञानी और सनातन है । उसका नाश नहीं होता, वह पवित्र है, उसे किसी का डर नहीं है और वह सबका स्वामी है ।
3. प्रत्येक आर्य का कर्त्तव्य है कि वह वेद का अध्ययन करे, उन्हें पढ़ाए और उनका प्रचार करे, क्योंकि सत्य का ज्ञान इन्हीं पुस्तकों में है ।
4. सत्य को सत्य और झूठ को झूठ कहने का साहस प्रत्येक आर्य में होना चाहिए सत्य को ग्रहण व झूठ का परित्याग करना चाहिए ।
5. प्रत्येक कार्य को करने से पूर्व उसकी अच्छाई व बुराई का अध्ययन करना चाहिए । प्रत्येक कार्य में अच्छाई निहित होनी चाहिए ।
6. आर्य समाज का ध्येय मानव जाति का शारीरिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक विकास है ।
7. प्रत्येक मनुष्य का आचरण प्रेम व न्याय पर आधारित होना चाहिए । गुणों का यथोचित आदर करना चाहिए ।
8. अज्ञान का नाश कर ज्ञान की वृत्ति करनी चाहिए ।

9. एक मनुष्य तभी सुखी हो सकता है जब दूसरे भी सुखी हों। अतएव दूसरों के सुख व समृद्धि को अपनी समृद्धि समझनी चाहिए।
10. व्यक्तिगत मामलों में मनुष्य को कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, पर इन मामलों में जो समाज से संबंधित हों, प्रत्येक मनुष्य को अपने भेदभाव भुलाकर मिलजुल कर काम करना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। ज्ञान मनुष्य में स्वभाव सिद्ध है, कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है। "हम जब कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, यथार्थ में मानसशास्त्र संगत भाषा में हमें कहना चाहिए कि वह आविष्कार करता है। अनावृत्त या प्रकट करता है। आविष्कार का अर्थ मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञान स्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना है। वास्तव में कभी किसी व्यक्ति ने किसी दूसरे को नहीं सिखाया। हममें से प्रत्येक को अपने आप को सिखाना होगा। बाहर के गुरु तो केवल सुझाव या प्रेरणा देने वाले कारण मात्र हैं, जो हमारे अन्तःस्थ गुरु को सब विषयों का मर्म समझने के लिये उद्बोधित कर देते हैं। तब फिर सब बातें हमारे ही अनुभव और विचार की शक्ति के द्वारा स्पष्टतर हो जायेंगी और हम अपनी आत्मा में उनकी अनुभूति करने लगेंगे। वह पूर्ण विशाल वट वृक्ष, जो आज कई एकड़ जमीन घेरे हुए है, उस छोटे से बीज में था, जो शायद सरसों के दाने के अष्टमांश से बड़ा नहीं था। वह सारी शक्ति राशि उस बीज में निबद्ध थी। हम जानते हैं कि विशाल बुद्धि एक छोटे से जीवाणु कोष में सिमटी हुई रहती है। यह भले ही एक पहेली सा प्रतीत हो परन्तु सत्य है। हममें से प्रत्येक एक जीवाणु कोष से उत्पन्न हुआ है और हमारी सारी शक्तियाँ उसी में सिमटी हुई थीं। यह नहीं कहा जा सकता कि वे खाद्यान्न से उत्पन्न हुई हैं क्योंकि यदि अन्न का एक पर्वत भी खड़ा कर दिया जाये तब भी उससे कोई शक्ति प्रकट नहीं होगी। इसी प्रकार मनुष्य की आत्मा में अनन्त शक्ति निहित है, चाहे वह यह जानता हो या न जानता हो। इसको जानना ही इसका प्रकट होना है।"[1]

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार बालक को इस प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे कि उसका चरित्र बने, बुद्धि का विकास हो, मानसिक शक्ति बढ़े

1. स्वामी विवेकानन्द— 'शिक्षा', श्री रामकृष्ण आश्रम नागपुर, 1975, पृष्ठ 8, 9, 10

और वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके। सुख-दुःख व्यक्ति की आत्मा पर छाप छोड़ जाते हैं इन सभी प्रकार के छापों की समष्टि चरित्र है। विचारों से मनुष्य बनता है जब हम विचार करते हैं तो प्रत्येक विचार हमारे शरीर पर कुछ असर डाल देता है। जिस प्रकार हथौड़े की हल्की चोट भी लोहे पर प्रभाव डालती है। विचारों में वाणी की अपेक्षाकृत सजीवता अधिक होती है, अतः शिक्षा द्वारा अच्छे विचारों का निर्माण होना चाहिए। कभी-कभी दुःख अधिक सबल शिक्षक होता है। महापुरुषों की जीवनियाँ हमें बताती हैं कि उन्होंने सुख की अपेक्षा दुःख, सम्पत्ति की अपेक्षा दरिद्रता और प्रशंसा की अपेक्षा आघातों से अधिक शिक्षा ग्रहण की है। आध्यात्मिक अन्तर्ज्योति तभी प्रकाशित होती है जब व्यक्ति के हृदय में वेदना होती है और चारों ओर से तूफ़ानों के बादल उमड़ पड़ते हैं।

मन में पड़े हुए संस्कार आदत के रूप में परिणत हो जाते हैं। आदत को ही दूसरा स्वभाव कहा जाता है, परन्तु स्वामी विवेकानन्द के अनुसार वह ही प्रथम और समस्त स्वभाव है। हमेशा अच्छे कार्य करने से, पवित्र विचार करने से, बुरी आदतों को वश में किया जा सकता है। स्वामी जी कहते हैं कि हम अपनी आँखों को अपने हाथों से ढक लेते हैं और अँधेरा-अँधेरा कहकर रोते हैं। यदि हाथ हटा है तो प्रकाश है। मनुष्य की आत्मा स्वभाव से ही स्वयं प्रकाश है। आधुनिक वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि क्रमिक विकास का कारण इच्छा है। जीवधारी कुछ करना चाहता है, परन्तु परिस्थिति को अनुकूल नहीं पाता, इसलिए नए शरीर का निर्माण कर लेता है। यह स्वयं उसकी इच्छा शक्ति ही निर्माण करती है। इसलिए स्वामी विवेकानन्द उपदेश देते हैं कि अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग करते रहो, वही तुम्हें ऊपर उठाती जायेगी। अपनी निम्नतम जीवाणु की अवस्था से लेकर मनुष्य शरीर तक की इस सारी जीवन शृंखला का विकास इच्छा शक्ति के द्वारा ही हुआ है। यह इच्छा शक्ति तुमको और भी ऊपर ले जा सकती है इसके लिए चारित्रिक उन्नति और इच्छा शक्ति को सबल बनाने की आवश्यकता है।

स्वामी विवेकानन्द अध्ययन मात्र को शिक्षा नहीं मानते हैं। उनके अनुसार सफल शिक्षण वह है जिससे अन्तःकरण को प्रेरणा मिल सके और व्यक्ति उत्तम विचारों को आत्मसात् कर सके। वह कहते हैं कि शिक्षा विविध जानकारियों का ढेर नहीं है जिसको मस्तिष्क में ठूंस दिया जाय। हमें उन विचारों की अनुभूति कर लेनी चाहिए जो जीवन-निर्माण, मनुष्य-निर्माण तथा चरित्र-निर्माण में सहायक है। यदि हम केवल पाँच ही अनुभवों को आत्मसात् कर उनके अनुसार अपने जीवन और चरित्र का निर्माण कर लें तो पूरे ग्रंथालय को कण्ठस्थ करने वाले की अपेक्षा अधिक सुशिक्षित होंगे। यदि शिक्षा का अर्थ

जानकारी ही होता, तब तो पुस्तकालय संसार के सबसे बड़े सन्त हो जाते और विश्व कोष महान् कवि बन जाते। स्वामी जी ने पाश्चात्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिए भी युवकों से आग्रह किया है। वह कहते हैं कि "हम विदेशी अधिकार से स्वतंत्र रहकर अपने निजी ज्ञान भण्डार की विभिन्न शाखाओं का और उसके साथ ही अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान का अध्ययन करें। हमें यांत्रिक और ऐसी सभी शिक्षाओं की आवश्यकता है, जिनसे उद्योग धन्धों की वृद्धि और विकास हो, जिससे मनुष्य नौकरी के लिए मारा-मारा फिरने के स्थान पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपार्जन कर सके और आपत्तिकाल के लिए संचय भी कर सके।"[1]

स्वामी विवेकानन्द शिक्षा का लक्ष्य बताते समय मानव जीवन के दोनों पक्षों आध्यात्मिक व व्यावहारिक को समान रूप से महत्त्व देते हैं। मानव के व्यक्तिगत निकास के लिए एक ओर आध्यात्मिक उन्नति अपेक्षित है। दूसरी ओर समाज में जीवनयापन के लिए उन्नत आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। समाज की उन्नति का दायित्व व्यक्ति पर होता है इसलिए व्यावसायिक उन्नति, आत्मनिर्भरता, विश्व बंधुत्व की शिक्षा भी आवश्यक है। संसार की सर्वोच्च सेवा व्यक्ति त्याग व श्रद्धा की भावना से ही कर सकता है इसलिए श्रद्धा की भावना उत्पन्न करना शिक्षा का प्रमुख कर्त्तव्य होना चाहिए। स्वामी जी के यह ओजपूर्ण स्वर मानव को प्रेरणा देते हैं कि हम उस धर्म के अन्वेषी हैं जो मनुष्य का उद्धार करे। हम सर्वत्र उस शिक्षा का प्रसार चाहते हैं जो मनुष्य को मुक्त करे। मनुष्य का हित करने वाले शास्त्र ही हम चाहते हैं। सत्य की कसौटी हाथ में लो और जो कुछ तुम्हें मन से, बुद्धि से, शरीर से निर्बल करे उसे विष के समान त्याग दो, उसमें जीवन नहीं है, वह मिथ्या है और वह सत्य हो ही नहीं सकता क्योंकि सत्य शक्ति देता है, सत्य ही शुचि है व परम ज्ञान है। इसलिए दैत्यकारक प्रमाद त्याग दो और शक्ति का वरण करो, यह सत्य तुम्हारे अस्तित्व जैसा ही सहज है अतः उसे ग्रहण करो। वह कहते हैं कि "मेरी परिकल्पना है कि हमारे शास्त्रों का सत्य देश देशान्तर में प्रचारित करने की योग्यता नवयुवकों को प्रदान करने वाले विद्यालय भारत में स्थापित हों। मुझे और कुछ नहीं चाहिए, साधक चाहिए। समर्थ, सजीव हृदय के सच्चे नवयुवक मुझे दो, शेष सब आप ही प्रस्तुत हो जाएगा। यदि सौ ऐसे युवक हों तो संसार में क्रान्ति हो सकती है। आत्म बल सर्वोपरि है, वह सर्वजयी है क्योंकि वह परमात्मा का अंश है। निस्संशय

1. स्वामी विवेकानन्द— 'शिक्षा', श्री रामकृष्ण आश्रम नागपुर, 1975, पृ० 56

तेजस्वी आत्मा ही सर्वशक्तिमान है।"[1]

स्वामी विवेकानन्द का सम्पूर्ण दर्शन वेदान्त पर आधारित है वह उस समस्त ज्ञान को जो वेदों के अन्तर्गत है, व्यवहार में प्रयोग करना चाहते हैं क्योंकि मात्र सैद्धान्तिक ज्ञान का स्वयं में कोई मूल्य नहीं है, यदि वह हमारे वर्तमान जीवन की समस्याओं के समाधान में तथा उच्च जीवन स्तर को प्राप्त करने में सहायक नहीं है। वह कहते हैं कि "सिद्धान्त वास्तव में बहुत अच्छे होते हैं परन्तु यदि वह पूर्णतया प्रयोगहीन हैं तो उनका कोई मूल्य नहीं है, वह केवल मानसिक व्यायाम बन जाते हैं। इसलिए वेदान्त व उसका धर्म जीवन में प्रयुक्त होना चाहिए। हमको इस योग्य होना चाहिए कि हम उसको अपने जीवन के प्रत्येक भाग में प्रयुक्त कर सकें। धर्म के आदर्श हमारे जीवन के प्रत्येक कार्य में सम्मिलित होने चाहिएँ, वह हमारे समस्त विचारों में भी हों और उनको अधिकाधिक व्यवहार में लाया जाये।"[2]

स्वामी जी की शिक्षा का केन्द्र मनुष्य है। वह इस सृष्टि में व्यक्ति को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना मानते हैं। वह कहते हैं कि "वेदान्त दर्शन के मत से मनुष्य ही जगत में सर्वश्रेष्ठ प्राणी हैं और यह कर्मभूमि पृथ्वी ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है, क्योंकि एकमात्र यहीं पर उसके पूर्ण तत्त्व प्राप्त करने की सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक संभावना है। देवता आदि को भी पूर्ण होने के लिए मनुष्य जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। यह मानव जीवन एक महान् केन्द्र, अद्भुत स्थिति और अद्भुत अवसर है।"[3]

इसलिए वह व्यक्ति के शारीरिक व मानसिक विकास दोनों को समान महत्त्व देते हैं। शरीर की समुचित देखभाल करने के लिए उपदेश देते हुए वह कहते हैं कि "मेरे युवक मित्रो शक्तिशाली बनो यही मेरी तुमको सलाह है। तुम 'गीता' पढ़ने की अपेक्षाकृत फुटबाल खेलकर ईश्वर के अधिक निकट होगे। यह एक निर्लज्ज शब्द है फिर भी मैं तुमसे कह रहा हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि पैर में जूता कहाँ पर चुभता है। तुम गीता को अपने सशक्त स्नायुओं द्वारा अच्छी तरह समझ सकते हो। तुम शक्तिशाली मस्तिष्क वाले और बलिष्ठ कृष्ण को उसी समय समझ सकते हो जब तुम्हारे रक्त में बलिष्ठता होगी। तुम उपनिषदों को तथा आत्मा के आनन्द को उसी समय महसूस कर सकते हो जब

1. रोमा रोलां— 'विवेकानन्द', अनुवादक स० हि० वा० अज्ञेय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1974, पृ० 114

2. V. K. R. V. Rao— Swami Vivekananda, Govt. of India Publication, 1979, p. 1.5

3. भास्करेश्वरानन्द— 'विवेकानन्द संचयन', जन्मशती प्रकाशन, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर 1964, पृ० 131

तुम अपने पैरों पर खड़े होगे और तुम स्वयं को मानव समझने लगोगे।"[1]

इस प्रकार संक्षेप में स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य निम्न हैं :—

1. व्यक्ति में आत्मविश्वास उत्पन्न करना, 2. छात्र में श्रद्धा उत्पन्न करना, 3. जीवन के व्यावहारिक अंग की शिक्षा, 4. आत्मनिर्भरता व विश्वबन्धुत्व की शिक्षा, 5. अनन्त शक्ति, उत्साह व धैर्य का मनुष्य में विकास करना, 6. सांसारिक सुखों के त्याग की भावना देना।

गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर

रवीन्द्रनाथ टैगोर की शिक्षा की अवधारणा के निम्न तीन स्तम्भ हैं—

1. **स्वतंत्र पारस्परिक सम्बन्ध :** आश्रम के सभी सदस्यों में स्वतंत्र सम्बन्ध हों जिसके द्वारा वे अपनी विचारधाराओं व मानसिकता को विस्तृत कर सकें। यदि सभी में भावात्मक सम्बन्ध होंगे तो विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं तथा संसार के विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों में स्वयमेव एकता की भावना की स्थापना होगी।
2. **स्वतन्त्र क्रियाशीलन :** आश्रम के सभी सदस्य सार्वभौमिक भाईचारे की भावना से स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करें। शिक्षक व छात्र दोनों संसार की संस्कृति से वास्तविक परिचय प्राप्त करें तथा सामुदायिकता की भावना से मानवता की समस्याओं को समझें।
3. उपरोक्त दोनों अनुभवों के द्वारा मनुष्य के मस्तिष्क का निर्माण होता है। संसार तथा उसकी संस्कृति के विषय में उसके विचारों को जानकर उसके व्यक्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। पूर्व और पश्चिम के मिलन द्वारा समानता की भावना का अनुभव कराया जाय।

इस प्रकार प्रत्येक क्षण में प्रत्येक आन्तरिक प्रक्रिया को निश्चित और प्रेरित करने में प्रमुख स्थान स्वतंत्रता का होना चाहिए। इस स्वतंत्रता का तात्पर्य मात्र इतना ही नहीं है कि व्यक्ति पर नियन्त्रण न रखा जाय और वह मनमानी करे वरन् इसका तात्पर्य व्यक्तित्व के प्रत्येक पहलू की स्वतन्त्रता से है। जैसे कि ज्ञानेन्द्रियों, आन्तरिक क्षमताओं तथा बुद्धि व भावनाओं सहित विभिन्न मानसिक क्षमताओं की स्वतन्त्रता। इसके साथ ही हृदय के भाव, सहानुभूति तथा प्रेम आदि क्षेत्रों में भी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। दूसरे प्रकार की स्वतंत्रता व्यक्ति और उसके ब्रह्माण्ड की अन्तःक्रियाओं की स्वतन्त्रता है। वह लिखते हैं

1. V. K. R. V. Rao— Swami Vivekananda, Govt. of India, Publication, 1979, p. 180

कि बालक अपनी पवित्र ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से संसार के सम्पर्क में आते हैं। यह उनको प्रकृति की प्रथम भेंट होती है। वह उसको उसके साधारण व आवरणहीन रूप में देखते हैं। इस अवसर को उन्हें भविष्य में कभी भी खोना नहीं चाहिए। अपने पूर्णत्व के लिए हमको जैवकीय रूप से असभ्य और मानसिक रूप से सभ्य होना चाहिए। हमें प्राकृतिक होने के लिए प्रकृति से तथा मानव बनने के लिए मानवता से यह उपहार लेना चाहिए। बालक के लिए पौरुष और शक्ति प्रकृति की ओर से सर्वश्रेष्ठ उपहार है। उसे जीवन के निर्माण के लिए पूर्ण साधन दिये जाने चाहियें। शिक्षा व्यवस्था में हमारी तार्किक क्षमता उसी समय पोषित होती है जब हमारे मस्तिष्क को संसार के सत्य जानने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो, हमारी कल्पनाएँ कला के द्वारा अभिव्यक्त हो सकें और हममें संसार के प्रति तथा मानवीय सम्बन्धों के प्रति सहानुभूति हो।[1]

शिक्षा के क्षेत्र में टैगोर प्राकृतिक वातावरण को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक मानते हैं। वह कहते हैं कि "हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि वातावरण जीवन को किस प्रकार प्रभावित करता है। हमारे चारों ओर फैला हुआ प्राकृतिक वातावरण हमारा महान शिक्षक है। उसने हमारे दैनिक जीवन में सौंदर्य, आनन्द, रंग और मिलन की भावनायें पैदा की हैं और हमें अपनी अन्तरात्मा के बारे में सोचने की शिक्षा दी है। यह प्रकृति ही है जिसने मुझे नाटक, गीत और कवितायें लिखने की प्रेरणा दी है।"[2]

रवीन्द्रनाथ टैगोर आधुनिक शिक्षा के स्वरूप की आलोचना करते हैं क्योंकि वह वास्तविक जीवन से दूर ले जाती है तथा मानव को अपने नैसर्गिक स्वरूप को प्राप्त करने में बाधक है। वह अपने विद्यालय के विषय में कहते हैं कि मैं यह निष्ठापूर्वक कामना करता हूँ कि एक पूर्व का धार्मिक मनुष्य अपने एकान्त के क्षणों में जिस सार्वभौमिक आत्मा का अन्तरावलोकन करता है, उसको शिक्षा की भावना से जोड़ा जाना चाहिए, जिससे यह जीवन की क्रियाओं में भी अभिव्यक्त हो सके। यह प्रयोग सौन्दर्य की सम्पदा को प्रकाशित करेगा और शिक्षा को अंधकार से प्रकाश में लायेगा।[3]

उनके अनुसार शिक्षा का कार्य मात्र विभिन्न प्रकार की सूचनाएँ प्रदान

---

1. Sunil Chandra Sarkar— Tagore's educational philosophy and experiments, Published by Ranajit Ray, Visva Bharti Research Publication, Santiniketan 1961, p. 41

2. An Address— The Visva Bharti Quarterly, August 1938

3. Tagore— A Poet's school (Available in the Religion of Man) Visva Bharti, Santiniketan.

करना ही नहीं है वरन् समस्त सत्ता से एकता स्थापित करने में सहायता प्रदान करता है। वह लिखते हैं कि "शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सत्य से परिचित कराना है। प्राचीन समय में जबकि जीवन साधारण था उस समय जीवन के समस्त तत्त्वों में पूर्ण एकता थी, परन्तु जबसे बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक तत्त्वों में अन्तर किया जाने लगा है, तब से विद्यालय की शिक्षा में जीवन के बौद्धिक व भौतिक क्षेत्रों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। हमारा ध्यान बालकों को सूचनाएँ प्रदान करने की ओर अधिक रहता है। ऐसा करते समय हम यह नहीं जान पाते कि हम बौद्धिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन में लम्बा अन्तराल उत्पन्न कर रहे हैं।"[1]

पूर्व के दर्शन के साथ-साथ वह पश्चिम के व्यावहारिक ज्ञान को भी महत्त्व देते हैं। जीवन के लिए आध्यात्मिकता के साथ-साथ वैज्ञानिक ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है जिससे संसार का दारिद्रय दूर किया जा सके। वह लिखते हैं कि "हमारे विद्यालयों में पौरुष के क्रियात्मक कार्य कराये जाने चाहिए। रुचि-पूर्ण व खेल की क्रियाओं द्वारा खोज के कार्य तथा रचनात्मक शक्ति का उदय होगा जो उनके चरित्र का निर्माण करेगी। इनके निश्चित व योजनाबद्ध कार्यों द्वारा प्राकृतिक रूप में ही दुर्भाग्य, गन्दगी व मृत्यु का विनाश हो जाएगा। दूसरे शब्दों में मैंने हमेशा पाश्चात्य प्रतिभा की आवश्यकता को अनुभव किया है, जो मेरे शैक्षिक आदर्श को वह क्षमता प्रदान कर सके, जिससे यह ज्ञात हो सके कि व्यावहारिक शुभ को प्राप्त करने के लिए हम अपने मार्ग की बाधाओं को कैसे दूर करें।"[2]

रवीन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा के उद्देश्य वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार के हैं। वह व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता देना चाहते हैं जिससे वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त सके, दूसरी ओर वह समस्त विश्व में एकता भी स्थापित करना चाहते हैं जिससे भ्रातृत्वपूर्ण समाज की रचना हो सके और अधिक उच्च मूल्यों का विकास भी सम्भव हो। वह 'साधना' नामक पत्रिका में लिखते हैं कि "चेतना को प्रत्येक में अनुभव किया जाये। केवल प्रकृति में ही नहीं, परिवार में, समाज में और राज्य में भी उसे अनुभव किया जाये। जितना ही हम सबमें सांसारिक चेतना का अनुभव होगा उतना ही वह हमारे लिए अच्छा होगा। उसको अनुभव करने में असफल होने से हम विनाश के

1. *Santiniketan* 1901–1931, Reprinted on Seventieth Anniversary of the institution and Visva Bharti— Golden Jubilee 23 Dec. 1971, p. 3

2. Sunil Chandra Sarkar— Tagore's Educational Philosophy and Experiments, Published by Ranajit Ray, Visva-Bharti Research Publication, Santiniketan 1961, p. 95

पथ की ओर अग्रसर होंगे।"[1] वैयक्तिकता को पूर्ण आदर व महत्त्व प्रदान करते हुए वह लिखते हैं कि "यहाँ मैंने समानता के घेरे को तोड़ा है और व्यक्ति के रूप में खड़ा हूँ। मैं पूर्णत: अपने ढंग का अकेला हूँ, मैं मैं हूँ, मैं अद्वितीय हूँ। विश्व का सारा भार मेरे इस व्यक्तित्व को कुचल नहीं सकता। अनेक वस्तुओं के आकर्षण के होते हुए भी मैं उसे बनाये हुए हूँ। क्योंकि यह उन शक्तियों के मुकाबले में दृढ़ खड़ा है जो इसकी विशेषता को छीनकर इसे धूल के समान बना देंगे।"[2]

अपने शैक्षिक विचारों को क्रियान्वित रूप देने के लिए उन्होंने विश्व-भारती की स्थापना की। उन्होंने अपने शैक्षिक कार्यक्रम की रूपरेखा बताते हुए कहा कि इसके द्वारा उन सम्पूर्ण मनुष्यों को जीवन शक्ति देनी है, जो कि बुद्धिजीवी हैं, अर्थशास्त्र के ज्ञाता हैं, सामाजिक बन्धनों में बंधे हुए हैं लेकिन आध्यात्मिक स्वतंत्रता और अंतिम पूर्णता की इच्छा रखते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित विश्वभारती के उद्देश्य निम्न प्रकार से हैं :—

1. सत्य के विभिन्न तथ्यों को विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन करते हुए मनुष्य के मस्तिष्क का विकास करना।
2. पूर्व की विभिन्न संस्कृतियों (आर्य, रोमेटिक व मंगोल आदि) में निहित मानव एकता का गहरा अध्ययन करना और खोज करते समय मनुष्य को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास करना।
3. पश्चिमी संस्कृति का जीवन की एकता और एशिया की विचार-धारा से अध्ययन करना।
4. अध्ययन द्वारा पूर्व और पश्चिम को निकट लाना और इस प्रकार संसार में शान्ति की बातों को दोनों गोलार्द्ध में विचारों के आदान-प्रदान द्वारा शक्ति प्रदान करना।

रवीन्द्रनाथ टैगोर व्यक्तित्व के विकास व उसके प्रकाशन के लिये कला को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार 'कला सौंदर्य' के हस्ताक्षर हैं जिनमें व्यक्तिगत स्पर्श अपनी स्मृति का परिचय छोड़ देता है।[3] इसलिए वह कला को शिक्षा का अभिन्न अंग मानते हैं। वह कहते हैं कि हम स्वयं को मात्र शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर सकते वरन् रेखाओं, रंगों, ध्वनियों और भावभंगिमाओं के माध्यम से प्रदर्शित करते हैं। उन्होंने शान्तिनिकेतन में कला

---

1. Tagore— Sadhana, Lectures delivered at the Harvard University, U.S.A. in 1912-13, p. 20
2. ,, ,, ,, p. 69
3. Tagore— Creative Unity, Macmillan, 1950, p. 115

के विभिन्न प्रारूपों के माध्यम से शिक्षण कार्य प्रारम्भ किया तथा प्रकृति के स्वच्छ वातावरण में बालकों को व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर प्रदान किया। व्यावहारिक जीवन की समस्याओं के समाधान हेतु उन्होंने रचनात्मक कार्यों की संस्तुति की तथा श्रीनिकेतन के रूप में यह विचार व्यवहार के रूप में परिणत हुआ। सोवियत रूस की यात्रा के बाद उनके ग्रामीण पुनर्निर्माण के विचार में दृढ़ता आई तथा उन्होंने श्री एल० के० एलिमर्स्ट के नेतृत्व में सुरूल क्षेत्र में श्रीनिकेतन संस्था की स्थापना की। उन्होंने उसके उद्घाटन भाषण में कहा कि गाँवों के विकास के लिए बाहर से किया जाने वाला प्रत्येक प्रयास बनावटी होगा। इसकी गिनती भविष्य को समाप्त करने वाली वर्तमान कृपा के रूप में की जायेगी। प्रयास द्वारा यह सम्भव है कि रेगिस्तान में भी झरनों की सृष्टि हो जाय, जो बार-बार स्वयं भरते रहें और कभी न सूखने वाले हों।[1]

रवीन्द्रनाथ टैगोर प्रत्येक इकाई को आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। इस कार्य के लिए उन्होंने परस्पर सहयोग की भावना से कार्य करने पर बल दिया तथा प्रत्येक आवश्यक वस्तु का उत्पादन करने तथा उसकी समुचित व्यवस्था करने के लिए कुटीर उद्योगों, बैंकों, सहकारी संस्थानों आदि को खोलने पर बल दिया और प्रयोग के रूप में श्रीनिकेतन के पास के गाँवों में इस विचार को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। उनके अनुसार देश के गाँवों को पूर्णतः आत्म-निर्भर बनाया जाना चाहिए और वह इस योग्य होने चाहिए कि अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूरा कर सकें। ऐसा करने के लिए ग्रामों के समूह बनाने चाहियें। उन समूहों का मुखिया सबको उचित कार्य का विभाजन करके ग्राम को आत्मनिर्भर बनाये तथा आवश्यकता की वस्तुयें उपलब्ध कराये। ऐसा करने पर ही देश में सत्य रूप में स्वशासन की स्थापना होगी। ग्रामीणों को शिक्षित किया जाना चाहिए और उन्हें प्राथमिक पाठशालाएँ, कला व शिल्प के प्रशिक्षण संस्थान, धार्मिक केन्द्र, सहकारी खाद्य भण्डार और बैंकों को खोलने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए। उस प्रकार हमारा प्रयास गाँवों को स्वावलम्बी बनाने तथा सहयोगी जीवन द्वारा एक दूसरे से बांधने का होना चाहिए। हमारी प्रमुख समस्या यह है कि हम किस प्रकार एक आदर्श ग्रामीण समुदाय का निर्माण करें।[2] गुरुदेव टैगोर जनता के समक्ष राजा जनक तथा

---

1. Hiranmay Banerjee— Builders of Modern India— Rabindra Nath Tagore, Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, 1971, p. 149

2. Tagore— The Co-operative Principle, published by Kanai Samanta, Calcutta, 1963, p. 19

बलराम का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं तथा उनसे शारीरिक परिश्रम और कृषि के महत्त्व को समझने तथा अपने कार्यों में डालने की प्रेरणा ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। वह कहते हैं कि हमारी भारतीय परम्परा का एक विशेष अंश राजा जनक की पौराणिक कथा है जो ब्रह्म के साथ कृषि के ज्ञान के समन्वय की खोज के लिए प्रसिद्ध है। इस आश्चर्यजनक संश्लेषण के लिए जो उन्होंने ईश्वर और पृथ्वी के बीच बहुत प्राचीन युग में प्राप्त किया वह एक आदर्श राजा के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। इस सन्दर्भ में हमारा यह सर्वोच्च मानवीय आदर्श होगा कि हम कृषि की कला को सम्मान प्रदान करें।[1]

उनका कथन है कि समाज में आर्थिक असमानता का मुख्य कारण यह है कि मनुष्य ने सहयोग के सिद्धान्त को मात्र सामाजिक स्तर पर ही लागू किया है, आर्थिक स्तर पर नहीं किया है। इस कारण पूँजी वितरण अनियमित होने से समाज में नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है। वह लिखते हैं कि मानव ने सहयोग के आदर्श को भी मात्र सामाजिक रूप में अपनाया है लेकिन आर्थिक क्षेत्र में नहीं। धन का उत्पादन, उसका वितरण तथा मनोरंजन आदि व्यक्ति के आंतरिक मामले हैं। इसलिए वह अपने स्वार्थ में तथा अपने अनुकूल तत्त्वों में रुकावट डालना नहीं चाहता इसलिए इस क्षेत्र में उसका दृष्टिकोण एक पृथक् व्यक्ति का होता है इस कारण उसमें नैतिक दायित्व की भावना कमजोर है।[2] संक्षेप में टैगोर के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य निम्न प्रकार से हैं :—

1. प्रकृति के सहयोग से शिक्षा प्रदान करना।
2. रचनात्मक क्रियाओं और उच्च एकता का आदर्श प्राप्त करना।
3. विश्व से समन्वय स्थापित करना।
4. आध्यात्मिक संस्कृति के लिए प्रेम उत्पन्न करना।
5. बालक को जीवन का पूर्ण अवसर देना।
6. व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं से संबंधित शिक्षा देना।
7. सहयोगात्मक क्रियाओं द्वारा सामाजिकता का प्रशिक्षण देना।

मदनमोहन मालवीय

मालवीय जी शिक्षा की शक्ति में अटूट श्रद्धा रखते थे। अतः वह व्यक्ति के विकास के लिए शिक्षा को मूल आधार मानते थे। उनका कथन था कि यदि देश का अभ्युदय चाहते हो तो सब प्रकार से यत्न करो कि देश में कोई बालक

1. L. K. Elmhirst— 'Poet and Plowman' Published by Ranajit Roy, Visva Bharti Publishing Department, 10 Pretoria Street, Calcutta, 1975, p. 166

2. Tagore, The Co-operative Principle, Published by Kanai Samanta, Calcutta, 1963, p. 24

व बालिका निरक्षर न रहे। देश में व्याप्त निरक्षरता को वह भारतीयों के पतन का कारण मानते थे इसलिए साक्षरता पर उनका बहुत अधिक बल था। इसी उद्देश्य हेतु उन्होंने भगीरथ प्रयत्नों द्वारा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की जिसका अमूल्य योगदान भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में है।

जहाँ तक शैक्षिक उद्देश्यों का संबंध है उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता पर बल दिया। वह शारीरिक विकास को त्याज्य नहीं समझते थे। 'मेरा बचपन' नामक लेख में वह लिखते हैं कि स्वास्थ्य के तीन आधार हैं— 1. आहार, 2. शयन, 3. ब्रह्मचर्य। तीनों का युक्तिपूर्ण सेवन करने से स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। अन्यत्र वह लिखते हैं कि यदि राष्ट्र के निवासियों का शरीर दुर्बल है तो राष्ट्र भी दुर्बल होगा, इसलिए शरीर को संयम, पौष्टिक भोजन, तथा व्यायाम से सशक्त बनाना चाहिए। वह विश्वविद्यालय के छात्रावास में आकर स्वयं इन सब बातों का निरीक्षण किया करते थे। "वह पिता की भाँति प्रत्येक छात्र के कमरे में आकर उसके स्वास्थ्य का निरीक्षण करते थे। यदि कोई छात्र दुर्बल हुआ, उसकी मांसपेशियाँ क्षीण व शिथिल दिखाई देतीं तो वे उसकी परिस्थितियों के बारे में पूछकर न केवल उसको पौष्टिक भोजन, सदाचरण और व्यायाम का उपदेश देते थे, वरन् यदि उसकी आर्थिक स्थिति ठीक न होती तो उसकी सहायता की व्यवस्था करते और तत्काल वार्डन को बुलाकर तदनुकूल निर्देश देते थे।"[1]

मालवीय जी के अनुसार शिक्षित व्यक्ति को भारत में भक्ति रखनी चाहिए। उनका कथन था कि राष्ट्र के निवासियों का शरीर, मन और आत्मा ही राष्ट्र है अतः इन तीनों को सशक्त बनाना चाहिए। संयम, भोजन और व्यायाम से शरीर को, सात्विक विचार और सदाचार से मन को तथा सत्संग, श्रद्धा और प्रार्थना से आत्मा को सबल बनाना चाहिए। वह स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि भारत, भगवद्गीता, भारतीय भाषा और भारतवर्ष में भक्ति करो। हिन्दू धर्म के प्रति उनकी गहरी आस्था थी। उन्होंने इस बात पर दुख प्रकट किया कि विद्यालय में धार्मिक शिक्षा के प्रति बड़ी उदासीनता प्रकट की जाती है। ईसाई व मुस्लिम छात्रों को अपने धार्मिक नेताओं से अपने धर्म के संबंध में बहुत कुछ सुनने को मिल जाता है किन्तु हिन्दू छात्रों को इस प्रकार की कोई सुविधा नहीं है। इसी से हिन्दू छात्रों में अपने धर्म के प्रति अनास्था और अज्ञान भरा है।[2] किन्तु हिन्दू धर्म के प्रति आस्था से उनका तात्पर्य साम्प्रदायिक भावना में

---

1. पद्मकान्त मालवीय— 'मालवीय जी— जीवन झलकियाँ', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली— 1967

2. सीताराम चतुर्वेदी— आधुनिक भारत के निर्माता पं० मदन मोहन मालवीय, भारत सरकार प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1980, पृ० 17

विश्वास करने से नहीं है। वह सभी धर्मों को समान आदर देते थे। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सन्दर्भ में कहा कि इस विश्वविद्यालय में संकुचित साम्प्रदायिकता को आश्रय नहीं दिया जाएगा वरन् उस व्यापक उदारता और धार्मिक भावना को प्रोत्साहन दिया जाएगा जो मनुष्य और मनुष्य के बीच भ्रातृत्व की भावना का विकास कर सके। दुर्भाग्यवश हम सभी जानते हैं कि साम्प्रदायिक धार्मिक विश्वविद्यालयों के न होने से और हमारे राज्य के विश्वविद्यालयों में अनिवार्य धार्मिक शिक्षा न होने से देश में जातीयता की भावना का विकास रुका नहीं है। मेरा विश्वास है कि धार्मिक सत्य की शिक्षा से, चाहे वह हिन्दू धर्म की हो या मुस्लिम धर्म की हो और चाहे वह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में दी जाये या अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के छात्रों को दी जाये, ऐसे व्यक्ति बनेंगे जो यदि अपने धर्म के लिए सत्यनिष्ठ होंगे तो दूसरे धर्मों के प्रति भी सम्मान रखेंगे। मैं उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब ऐसे विश्वविद्यालयों से निकले हुए छात्र अधिक आत्मीयता के साथ और एक ही मातृभूमि के पुत्रों के समान प्रगाढ़ता के साथ एक दूसरे से मिल सकेंगे।[1]

मालवीय जी का 'हिन्दू' शब्द से तात्पर्य भारतवासियों से है। शिक्षा संबंधी उनके उद्देश्यों के बारे में कहा गया है कि उन्होंने ऐसे संस्थान की कल्पना की जो हिन्दू जीवन के विचारों व चिन्तन में जो उत्तम है उसको, तथा भारतीय धर्म, परम्पराओं, संस्कृति व नागरिकता में जो आदर्श है उसे संरक्षण प्रदान कर सके और आगे की पीढ़ी को हस्तांतरित कर सके। इसके साथ ही इसे अपनी ही भूमि पर आधुनिकतम विज्ञान व कला की कलम लगाकर अपने आंतरिक व बाह्य विकास के द्वारा समृद्ध बना सके।[2]

इस प्रकार राष्ट्र भक्ति को वह भारतीय शिक्षा का लक्ष्य बनाना चाहते थे। मालवीय जी सेवा को बहुत महत्त्व देते थे। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि व्यक्ति यह सीख जाय कि सेवा धर्म ही परम धर्म है। पवित्र और पुरातन गाथाएँ सेवा धर्म की व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। इस सेवा धर्म को अनुभव द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वह भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखना चाहते थे, उनका विचार था कि यह संस्कृति महान है और इससे विश्व का कल्याण होगा।

उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विभिन्न कलाओं के साथ-साथ

---

1. सीताराम चतुर्वेदी— आधुनिक भारत के निर्माता पं. मदन मोहन मालवीय, भारत सरकार प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली 1980, पृष्ठ 71

2. Souvenir Vol of 68th Indian Science Congress, January 1981, p. 25

तकनीकी व विज्ञान की शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया। वह कहते हैं कि पिछले 25 वर्षों में अमेरिका और यूरोप ने जो उन्नति की है और उन्होंने विज्ञान द्वारा विशेषतः औद्योगिक सामग्री के उत्पादन के क्षेत्र में विज्ञान की सहायता से अपार सम्पत्ति अर्जित करने के जो साधन ढूँढ़ निकाले हैं, उस दृष्टि से भारत उन देशों से बहुत पिछड़ गया है जहाँ प्रयोगों के द्वारा विज्ञान का अध्ययन समाज की भलाई और देश की सेवा के लिए किया जाता है।[1] एक अन्य स्थान पर कहते हैं कि केवल कला संबंधी शिक्षा देने से ही किसी देश का हित नहीं हो सकता। अपितु विज्ञान की पिछली शताब्दियों की उन्नति को देखते हुए विज्ञान के प्रयोगात्मक क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति हुई है उसको देखते हुए हममें से कोई विचारशील व्यक्ति यह कहने का साहस नहीं करेगा कि प्रारंभिक स्कूलों में जो शिक्षा व्यवस्था की जाय उसमें विज्ञान की शिक्षा का कार्यक्रम न हो।[2] उनके अनुसार धर्म-दर्शन तथा कला की शिक्षा मनुष्य के सिर की भाँति है और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की शिक्षा उसके धड़ के समान है। शिक्षा के दोनों प्रकार एक दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए उन्होंने वेद-वेदांग, धर्म-दर्शन तथा कला की शिक्षा के साथ ही इस महान् विश्वविद्यालय में विज्ञान-प्राचीन आयुर्विज्ञान तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के साथ-साथ कृषि, जीवन-विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि अन्यान्य विज्ञानों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की थी। उन्होंने प्राविधिक शिक्षा की व्यवस्था करके दूरदर्शिता का उदाहरण दिया। यही कारण है कि स्वाधीनता मिलने पर देश से अंग्रेज इंजीनियरों और तकनीशियनों के चले जाने के बाद देश के इंजीनियरों व तकनीशियनों की आपूर्ति का श्रेय एकमात्र इसी विश्वविद्यालय को प्राप्त हुआ था। मालवीय जी इस विश्वविद्यालय में उक्त शिक्षा के अतिरिक्त उपयोगी सामग्री उत्पादन, डेरी-फार्म, कृषि-फार्म, औषधि निर्माण, साबुन निर्माण आदि अन्यान्य जीवनोपयोगी सामग्रियों का उत्पादन भी कराना चाहते थे, जहाँ शिक्षा व उत्पादन दोनों का प्रशिक्षण हो, यही उनके इस विश्वविद्यालय की शिक्षा की प्रमुख विशेषता है। वह विश्वविद्यालय को अध्ययन केन्द्र बनाने के साथ ही औद्योगिक उत्पादन और वितरण की इकाई भी बनाना चाहते थे। मालवीय जी ने आधुनिक शिक्षा प्रणाली की आलोचना की है क्योंकि वह व्यावहारिक जीवन की समस्याओं के समाधान में कोई योगदान नहीं करती है। वह कहते हैं कि इस वर्तमान शिक्षा प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि 20 वर्ष की स्कूल व विश्वविद्यालय की निरन्तर शिक्षा के पश्चात् एक भारतीय

1. सीताराम चतुर्वेदी— आधुनिक भारत के निर्माता पं० मदन मोहन मालवीय, भारत सरकार प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली 1980, पृ० 62

2. मालवीय वचनामृत, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, पृ० 42

नवयुवक को स्वयं अपने, अपनी स्त्री व बच्चों तथा निर्धन माता-पिताओं के निर्वाह के लिए उपयुक्त जीविकोपार्जन का कोई मार्ग नहीं दिखलाई देता । यह प्रणाली मूल से ही दोषमय है और इसमें अधिक सुधार की आवश्यकता है । सम्पूर्ण वातावरण को ही परिवर्तित कर देना चाहिए ।[1]

मालवीय जी ने अथक् परिश्रम द्वारा अपने स्वप्न को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में साकार किया । उनके प्रयासों की चर्चा करते हुए आचार्य जे.बी. कृपलानी कहते हैं कि गांधी जी के पश्चात् वह ही भारत के सबसे बड़े भिक्षुक हैं । मैं भूल नहीं सकता कि वह किस प्रकार लोगों को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए दान देने के लिए प्रेरित करते थे । जब वह कभी यात्रा में निकलते तो अपने साथ हिन्दू विश्वविद्यालय के भवनों के मानचित्र भी साथ लिए रहते थे, जिन्हें वह अपने साथी यात्रियों के सम्मुख अत्यन्त मृदुतापूर्वक समझाते थे कि किस प्रकार इस प्रस्तावित महान् विद्यापीठ में वर्तमान विज्ञानों के साथ-साथ हिन्दू धर्म की भी शिक्षा दी जायेगी ।[2]

ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य कर्नल बेंजवुड ने भी मालवीय जी को बहुत आदर दिया और उनके कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा कि सारा यूरोप भली-भाँति जानता है कि भारतीय शिक्षा क्षेत्र मालवीय जी का कितना ऋणी है । मैंने आज तक कोई ऐसा दूसरा शिक्षा संस्थान नहीं देखा जो मुख्यत: एक ही व्यक्ति की कृति हो । यदि पंडित मालवीय राजनीतिज्ञ न होते तो वह शिक्षा संसार के सर्वश्रेष्ठ नेता के रूप में मान्य किये जाते और यदि उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय की सृष्टि न की होती तो वह संसार के बहुत बड़े राजनीतिज्ञ माने जाते । भारतीय और पाश्चात्य देशों के इतिहास में यह बड़ा विचित्र समन्वय है ।[3] संक्षेप में मालवीय जी की शिक्षा के विशेष बिन्दु निम्न प्रकार से हैं :—

1. शिक्षा प्रणाली का प्रधान ध्येय नवयुवकों को योग्य नागरिक बनाना तथा जनता की बुद्धि का विकास करना है ।
2. देश में शिल्प, कृषि, वाणिज्य आदि से संबंधित शिक्षालयों का अधिकाधिक विकास किया जाना चाहिए ।
3. विद्यार्थी को अनेक विषय पढ़ने के लिए बाध्य न किया जाय वरन्

---

1. मालवीय वचनामृत— बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित पृ० 43

2. सीताराम चतुर्वेदी— आधु० भा० के निर्माता, पं. मदनमोहन मालवीय, भारत सरकार प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली— 1980, पृ० 113

3. सीताराम चतुर्वेदी— 'आधुनिक भारत के निर्माता पं. मदनमोहन मालवीय, भारत सरकार प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली 1980, पृ० 124

राज्य की ओर से अर्थकारी शिक्षा नीति अपनाई जानी चाहिए ।

4. विद्यार्थियों को प्रयोगात्मक ज्ञान के साथ विज्ञान, कला-कौशल और व्यवसाय संबंधी ऐसी शिक्षा दी जाय, जिससे देशी व्यवसाय तथा घरेलू धन्धों की उन्नति हो ।
5. विश्वविद्यालयों में प्रवेश विद्यार्थियों की शिक्षा तथा परीक्षाओं में अत्यन्त आवश्यक उच्च कोटि की श्रेष्ठता के निर्वाह के लिए राष्ट्रीय प्रणाली के आधार पर प्रारंभिक तथा माध्यमिक स्कूलों में सर्वसाधारण के लिए निःशुल्क शिक्षा अनिवार्य कर दी जानी चाहिए । इसके अतिरिक्त योग्यताहीन विद्यार्थियों को शिक्षा देना व्यर्थ है ।
6. विश्वविद्यालय के कार्य में सरकार को सहयोग देना चाहिए जिससे वे नवयुवकों को शुद्ध ढंग की शिक्षा दें जिससे वे अपना जीवन-निर्वाह करने में समर्थ हो सकें ।

महायोगी श्री अरविन्द

श्री अरविन्द के विचार व कार्य दैवीय प्रेरणाओं से प्रेरित हैं । उनके विचार से शिक्षा की सत्य व जीवन्त अवधारणा में मानव की क्रियाओं का अध्ययन तीन मुख्य पहलुओं को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए— 1. व्यक्ति का स्वयं में, 2. व्यक्ति का उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि व एकात्मकता के संदर्भ में, 3. व्यक्ति तथा राष्ट्रीय व सार्वभौमिक मानवता के सन्दर्भ में। इस प्रकार उनकी यह अवधारणा मानव की गहन अनुभूति पर आधारित है क्योंकि यह उसको मात्र व्यक्ति के रूप में ही नहीं देखती वरन् एक राष्ट्र का नागरिक तथा विश्व समुदाय का अंग होने के रूप में भी देखती है। श्री अरविन्द राष्ट्रीय शिक्षा के प्रतिपादक हैं। शिक्षा की अवधारणा के विषय में वह कहते हैं कि शिक्षा क्या है ? अथवा प्रयोगात्मक या आदर्शात्मक रूप से शिक्षा कैसी होनी चाहिए, इस विषय में कोई भी स्वच्छ या तर्कयुक्त विचार अभी सार्वभौमिक मान्यता नहीं प्राप्त कर सका है। यदि हमको यह स्पष्ट नहीं है कि वास्तव में शिक्षा क्या है या कैसी होनी चाहिए तब तक मैं समझता हूँ कि हम यह नहीं जान सकेंगे कि हमारा राष्ट्रीय शिक्षा से क्या तात्पर्य है।[1]

श्री अरविन्द के अनुसार ज्ञान मनुष्य की अन्तःशक्तियों में निहित है तथा सच्ची शिक्षा वह है जो बालक की सुषुप्त शक्तियों को जागृत कर दे। वह

1. Sanat K. Banerjee— Sri Aurobindo and the Future of Man, Sri Aurobindo Ashram Trust; Pondicherry, 1974, p. 146

कहते हैं कि मन को ऐसी चीज नहीं सिखाई जा सकती जो सत्ता की विकासशील आत्मा में पहले से ही सम्भावना ज्ञान के रूप में छिपी हुई न हो। इस प्रकार वह पूर्णता जिसे प्राप्त करने में बाहरी मनुष्य समर्थ है केवल उस आत्मा की शाश्वत पूर्णता की उपलब्धि ही है जो उसके भीतर विद्यमान है।[1] वह कहते हैं कि हमारा लक्ष्य मानव की दिव्य पूर्णता की प्राप्ति है इसलिए पहले हमें यह जानना चाहिए कि मनुष्य की पूर्णता किन प्रधान तत्त्वों से बनी है। दूसरी बात हमें यह जानना चाहिए कि हमारी सत्ता की मानवीय पूर्णता से भिन्न दिव्य पूर्णता से हमारा क्या तात्पर्य है। समस्त चिन्तनशील मानव-जाति यह मानती है कि सत्ता के रूप में मनुष्य आत्म विकास और पूर्णता के एक ऐसे आदर्श स्तर की ओर जाने में समर्थ है। जिसकी कल्पना करके उसका मन उसके सामने रख सकता है और उसका अनुसरण कर सकता है, भले ही गिने-चुने लोग इस सम्भावना को जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य समझते हों।[2]

श्री अरविन्द विकासशील व्यक्तियों को एकमात्र लक्ष्य पूर्ण और अखण्ड चेतना की उपलब्धि मानते हैं। वर्तमान व्यक्ति जब उच्च चेतना के क्षेत्र में प्रवेश करेगा तब वह अतिमानव का रूप ग्रहण कर लेगा। इस अतिमानव से अगला स्तर देवता का है। उन्होंने शिक्षा का उद्देश्य बताते हुए लिखा है कि मेरे समस्त प्रयासों का अन्तर्निहित उद्देश्य पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्थापना करना है और इसके लिए यह सदैव प्रथम आवश्यकता होगी कि दिव्यता का अनुभव किया जाय। केवल तब ही जीवन आध्यात्मिक हो सकता है। इस रूपान्तर का एक दूरस्थ उद्देश्य कुछ नयी रचना करना है जिसको एक दिव्य शरीर या अतिमानव कहा जा सकता है।[3]

श्री अरविन्द पृथ्वी पर दैवीय जीवन की प्राप्ति के लिए देश व समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक मानवीय संबंधों की अपेक्षा करते हैं। आत्मीय संबंधों की स्थापना से व्यक्ति जीवन का पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकता है क्योंकि वह अन्य प्राणियों से प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है। वह लिखते हैं कि केवल वही शिक्षा सच्ची और जीवन्त शिक्षा है जो व्यक्ति को पूर्ण लाभ प्राप्त

---

1. श्री अरविन्द— (योग समन्वय), 'शिक्षा के आयाम', श्री अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी, 1977, पृ० 1

2. श्री अरविन्द— (योग समन्वय), 'शिक्षा के आयाम', श्री अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी, 1977, पृ० 1

3. The Mother— A Practical Guide to Integral Yoga, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1976, p. 182

करने में सहायता प्रदान करती है, उसको अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तैयार करती है और साथ ही जो उसके जीवन, मस्तिष्क व उन मनुष्यों की आत्मा से जिनसे उनका संबंध है, सम्पूर्ण मानवता जिसकी वह एक इकाई है, तथा उसके देश के व्यक्तियों के साथ सही संबंध स्थापित करने में सहायता करती है। प्रत्येक विद्यालय में इस शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। चाहे यह औपचारिक शिक्षा का एक अंग हो अथवा अलग से दी जाय।[1]

उपरोक्त दैवीय पूर्णता को प्राप्त करने के लिए श्री अरविन्द मानसिक विकास के साथ-साथ शारीरिक विकास को भी आवश्यक मानते हैं जिसको खेलों तथा यौगिक क्रियाओं के माध्यम से प्राप्त करने पर बल देते हैं। वह लिखते हैं कि स्वास्थ्य व शक्ति प्राकृतिक विकास के लिए प्रथम आवश्यकता है। केवल स्नायुओं की शक्ति ही नहीं वरन् सावधान, लचीले व सामंजस्यपूर्ण स्वास्थ्य की आवश्यकता है जिसको शारीरिक क्रिया द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। इस अत्यधिक गतिशील शक्ति के द्वारा एक अत्यधिक उच्च चरित्र का निर्माण किया जा सकता है जोकि सामान्य दशा में सम्भव नहीं है।[2]

श्री अरविन्द जीवनहीन तथा मात्र सूचनाओं पर आधारित शिक्षा की आलोचना करते हैं क्योंकि सूचनाओं को प्राप्त करना शिक्षा का एक उद्देष्य हो सकता है लेकिन अंतिम ध्येय नहीं। शिक्षा का केन्द्रीय उद्देश्य व्यक्ति के मस्तिष्क व आत्मा की शक्तियों को बढ़ाना है। विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करते समय भी जो हम अध्ययन करते हैं, उसकी अपेक्षाकृत उस ज्ञान का उपयोग हम कैसे करते हैं यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसी प्रकार संस्कृत या अन्य भाषा का अध्ययन करते समय मुख्य प्रश्न यह है कि हम उसका प्रयोग अपनी संस्कृति से ऐक्य प्राप्त करने में किस प्रकार करते हैं। अंग्रेज़ी पढ़ते समय भी यह अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि वह हमारे लिए दूसरे देश की संस्कृतियों को समझने तथा उनसे मानवीय संबंध स्थापित करने में कितनी सहायक है।[3]

श्री अरविन्द के अनुसार सामान्य मस्तिष्क के अतिरिक्त एक विशिष्ट मस्तिष्क भी होता है जो जीवन और विषयों से परे स्थित है और इस संसार में अपना प्रकाशन करता है। इस विशिष्ट अनुभूति को कराना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए राष्ट्र की भी एक आत्मा होती है जो मानव आत्मा और सार्वभौमिक आत्मा के मध्य की कड़ी है। इस दृष्टि से श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीयता

1. Sri Aurobindo Centenary— Souvenir, Edited by L. P. Sharma, A. C. S. Delhi, 1972, p. 152

2. Sri Aurobindo and The Mother— On Education, Sri Aurobindo Ashram Trust, 1978, p. 76

3. –*ibid*– ,, p. 9

के सच्चे उपासक होते हुए भी राष्ट्रवाद के समर्थक हैं और शिक्षा को राष्ट्रीयता पर आधारित करना चाहते हैं। वह लिखते हैं कि व्यक्तियों के लिए शिक्षा का एक उद्देश्य यह भी होना चाहिए कि वह अपनी आत्मा, उसकी शक्तियों तथा सम्भावनाओं का विकास राष्ट्र हित में करें। उनको सर्व प्रथम राष्ट्रीय आत्मा के संरक्षण, उसकी शक्ति सम्पन्नता तथा उसकी आत्मा व धर्म के विकास का ध्यान रखना चाहिए तथा फिर इस शक्ति का विकास सम्पूर्ण मानवता की आत्मा व सार्वभौमिक मस्तिष्क की शक्ति के स्तर तक करना चाहिए और किसी भी समय मानवता के इस उच्चतम उद्देश्य को नहीं भूलना चाहिए।[1]

श्री अरविन्द आधुनिक शिक्षा की उपलब्धियों से संतुष्ट नहीं हैं क्योंकि व्यवहार में शिक्षा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रही है। मानवीय आत्मा आरोहण प्राप्त करने में सक्षम नहीं हो पायी है क्योंकि शिक्षा ने मात्र व्यावहारिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए भौतिक ज्ञान प्रदान करने का प्रयास किया है। मानव का 'स्वत्व' अभी तक उसी स्थिति में है। वह लिखते हैं कि शिक्षा व बौद्धिक प्रशिक्षण से जो आशा थी कि वह मानव को परिवर्तित करेंगे, उसे व्यवहार में अनुभव नहीं किया गया। उन्होंने मानव व समाज को अच्छी सूचनायें ही प्रदान कीं तथा उनके विकास के लिए पर्याप्त तकनीकी सहायता दी परन्तु उसकी आत्मा को अपरिवर्तित ही छोड़ दिया।[2]

शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या करते समय श्री अरविन्द मस्तिष्क की चार सतहों की व्याख्या करते हैं—

1. चित्त या स्मरण शक्ति का कोष्ठ— इस कोष्ठ में पूर्व मानसिक प्रभाव संचित रहते हैं। यह मस्तिष्क की मुख्य आधारशिला रूपी सतह है जिस पर अन्य तीनों सतहें रुकी हैं। क्रियाशील स्मरण शक्ति समय-समय पर चित्त से ही आवश्यक वस्तु को प्राप्त करती है। अतः इस शक्ति के प्रशिक्षण व विकास की आवश्यकता है।
2. मस्तिष्क— मानस द्वितीय सतह में है। मानस का कार्य है कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा भेजे गये स्पर्श, गन्ध, स्वाद, दृश्य तथा श्रव्य ज्ञान की प्रतिमाओं को ग्रहण करना तथा उनको विचारों में परिणत करना। विचारों को कुशल व ठीक बनाने के लिए इस सामग्री का यथेष्ठ होना परम आवश्यक है। श्री अरविन्द कहते

1. Sanat K. Banerjee— Sri Aurobindo and the Future of Men, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1974, p. 147
2. Sri Aurobindo— The Life Divine, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1955, p. 937

हैं कि शिक्षक का सर्वप्रथम कार्य बच्चों को छहों ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करना सिखाना चाहिए और न केवल यह देखें कि उपयोग न करने के कारण अथवा चोट के कारण उनका विकास तो नहीं रुक गया है, वरन् उन्हें स्वयं अपने निर्देशन में उस सीमा तक कुशल बनायें जितनी उनमें शक्ति और योग्यता है।[1]

3. बुद्धि— यह अन्तःकरण की तीसरी सतह है और विचार का मुख्य साधन है। यह ज्ञान को संगठित व समायोजित करती है। बुद्धि के दो भाग हैं। जिनमें से एक भाग एकत्रीकरण, समन्वीकरण व रचना का कार्य करता है तथा दूसरा तुलना, श्रेणी विभाजन और संक्षिप्तीकरण करता है और अर्थ निकालता है। बुद्धि के दोनों भागों को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।

4. चेतना की शक्ति— यह मस्तिष्क की चतुर्थ सतह है तथा सहज ज्ञान बोध की शक्ति है। मनुष्य की यह शक्ति अभी पूर्ण विकसित नहीं है। यह क्रमिक विकास की अवस्था में है। शिक्षा का उद्देश्य इसको विकसित करना है।

श्री अरविन्द का विचार है कि एक महान् बौद्धिक इमारत को बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम एक मजबूत नींव बनाई जाय जो इस इमारत का भार वहन कर सके।[2] वह यह मानते हैं कि समाज को शिक्षा प्रदान करने के लिए शिक्षण संस्थाओं का बनाया जाना अति आवश्यक है। मानवता के आदर्शों तथा आध्यात्मिकता को अपने सत्य रूप में शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से जनता का प्रेरणा स्रोत बनाया जा सकता है। उनके इसी विश्वास के आधार पर 2 दिसम्बर सन् 1943 को पांडिचेरी में श्री माँ द्वारा श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान की स्थापना की गई। जिसमें योग की शिक्षा प्रदान की जाती है तथा साधकों के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखकर भी शिक्षा प्रदान की जाती है। इस संस्थान में छः वर्ष की आयु में बालक प्रवेश पाते हैं तथा आश्रम के नियमों का पालन करते हुए निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के भौतिक, आत्मिक, मानसिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक पहलुओं का विकास करना है। वर्तमान समय में यह शिक्षा केन्द्र प्रगतिशील एवं उच्च स्तरीय अध्ययन के लिए शिक्षा की किण्डरगार्टन प्रणाली के प्रयोग का प्रारूप निश्चित कर रहा है। इस केन्द्र में मानवीय विषयों के संकाय, भाषा संकाय तथा विज्ञान, इंजीनियरिंग, टेक्नोलॉजी

1. Sri Aurobindo— A System of National Education, Arya Publishing House, Calcutta, 1946

2. Sri Aurobindo— The Brain of India : A. A. Pondicherry, p. 12

और शारीरिक शिक्षण के संकाय हैं। इसके अतिरिक्त कला संकाय, संगीत, नृत्य एवं नाटय संकाय भी हैं। ये विभिन्न संकाय प्रायोगिक एवं हस्त कार्यों का अधिकाधिक अवसर प्रदान करते हैं। इस प्रकार भौतिकता और आध्यात्मिकता सम्बन्धी पश्चिम और पूर्व के विचारों को संश्लिष्ट करके श्री अरविन्द ने आध्यात्मिक, समष्टिवादी, गतिशील और अधिक युक्तियुक्त विचारों का प्रतिपादन किया।

महात्मा गांधी

महात्मा गांधी ने शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित करते समय जीवन के सभी पक्षों का ध्यान रखा है। उनके अनुसार "शिक्षा से मेरा अभिप्राय एक ऐसी प्रणाली से है जोकि बच्चे और मनुष्य की समस्त प्रतिभा जिसमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भी सम्मिलित हैं, का विकास करे।" पढ़ाई लिखाई न तो शिक्षा का आदि है और न अन्त। यह एक माध्यम है जिससे स्त्री व पुरुष शिक्षा प्राप्त करते हैं।[1]

गांधी जी के शैक्षिक विचारों का उद्गम अफ्रीका में टालस्टाय के फार्म पर रहने के समय ही हो गया था। उनके विचार टालस्टाय से प्रभावित भी रहे हैं। उन्होंने लिखा है कि "प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने के लिए कठोर परिश्रम करना चाहिए" यह नियम मुझे टालस्टाय के लेख 'ब्रैड लेबर' से मिला। परन्तु इससे पहले कि मैं रस्किन के 'अनटु दिस लास्ट' को पढ़ने के पश्चात् इस विचार को कोई आदर दे पाता, टालस्टाय ने रूस के लेखक टी० एम० बोन्ड्रेफ द्वारा दर्शाये गये दिव्य नियम को "प्रत्येक व्यक्ति को अपने भोजन को स्वयं अपने हाथों से परिश्रम करके अर्जित करना चाहिए" को विज्ञापित कर दिया और महान् लोकप्रियता दिलायी।[1]

इसी विचार से प्रेरित होकर उन्होंने अपनी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य चरित्र गठन तथा जीविकोपार्जन की योग्यता उत्पन्न करना निर्धारित किया। वह किसी एक व्यवसाय के माध्यम से अन्य सब आवश्यक विषयों की शिक्षा देना चाहते थे, क्योंकि वह मानते थे कि इससे बालक में स्वावलम्बन का गुण उत्पन्न होगा। वह लिखते हैं कि मैं बच्चे की शिक्षा किसी ऐसे हाथ के व्यवसाय द्वारा प्रारम्भ करूँगा जिससे वह अपने प्रशिक्षण से ही उत्पादन कार्य करने में समर्थ हो जाय। मेरा विचार है कि ऐसी ही शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत शरीर व मस्तिष्क का विकास संभव है। हाथ का व्यवसाय सुचारू रूप से सिखलाना

---

1. Harijan (Weekly), Navajivan Press, Ahmedabad, 31 July, 1937.

2. Gandhi Centenary Papers, Vol. 4, Edited by K. S. Saxena, Oriental Research, Bhopal, 1972, p. 32

आवश्यक है जिससे बच्चा केवल मशीन की तरह से कार्य न करे बल्कि कार्य प्रणाली को भी भली-भाँति समझ ले ।[1]

व्यवसाय में कुशलता प्राप्त करना देश व समाज दोनों के लिए लाभकारी है । साथ ही व्यक्ति के स्वयं के जीवन के लिए भी आवश्यक है । व्यवसाय के माध्यम से उसकी समस्त ज्ञानेन्द्रियों का विकास होता है । वह लिखते हैं कि "तुमको बालकों को किसी एक व्यवसाय में प्रशिक्षित करना है । इस विशिष्ट व्यवसाय द्वारा तुम उसके मस्तिष्क, उसके हस्त लेख तथा कलात्मक रुचि आदि को प्रशिक्षित करोगे ।[2] गांधी जी का विचार है कि बुद्धि का सच्चा विकास हाथ, पैर, कान आदि अंगों का ठीक-ठीक प्रयोग करने से ही हो सकता है । अर्थात् समझ बूझकर शरीर का उपयोग करने से बुद्धि का विकास उत्तम ढंग से और जल्दी से जल्दी हो सकता है । इसमें यदि परमार्थ की वृत्ति न मिले तो शरीर और बुद्धि का विकास एकांगी होता है । परमार्थ की वृत्ति हृदय यानी आत्मा का क्षेत्र है । इसलिए यह कहा जा सकता है कि बुद्धि के विकास के लिए आत्मा और शरीर का विकास एक साथ और एक ही गति से होना चाहिए ।[3]

अपनी शिक्षा योजना को व्यावहारिक रूप प्रदान करते समय उन्होंने इस बात का ध्यान रखा है कि मस्तिष्क, हृदय और हाथों के सहयोग द्वारा बालक सत्य ज्ञान को प्राप्त करे । वह लिखते हैं कि मेरी शिक्षा योजना में हाथ लिखने या कोई चित्रकारी करने से पहले यंत्रों को पकड़ना सीखेगा, आँखें तस्वीरों, वर्णों और शब्दों को देखेंगी और जीवन की अन्य चीजों की जानकारी प्राप्त करेंगी । कान वस्तुओं के नाम और वाक्यों के अर्थ को ग्रहण करेंगे ।[4]

गांधी जी ने व्यवसाय को जीवन के साध्य रूप में कभी स्वीकार नहीं किया । उनके अनुसार जीवन का लक्ष्य ब्रह्म से साक्षात्कार करना है इसलिए वह विद्यार्थियों से कहते हैं कि तुम्हारी समस्त क्रियाओं, खेलों अथवा कार्यों का ध्येय एक नियंत्रित जीवन की उपलब्धि होना चाहिए, उन्हें तुमको ईश्वर के निकट ले जाने दो ।[5] वह संस्कृति की शिक्षा पर भी बल देते हैं तथा साहित्य

---

1. Harijan (Weekly), Navajivan Press, Ahmedabad, 31 July, 1937
2. *ibid.*, p. 18, Sep. 1937
3. महात्मा गांधी— 'सच्ची शिक्षा', सम्पादक रामनारायण चौधरी, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1950, पृ० 56
4. Harijan (Weekly), Navajivan Press, Ahmedabad, 20-8-1937
5. Young India, Vol. III, 1927-28, Ganesan, Madras, 1935, 21 July 1927

की शिक्षा की अपेक्षाकृत इसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। कस्तूरबा बालिकाश्रम, नयी दिल्ली में 22 अप्रैल सन् 1946 को व्याख्यान देते हुए गांधी जी ने कहा कि मैं शिक्षा के साहित्यिक पक्ष से उसके सांस्कृतिक पक्ष को अधिक महत्त्व देता हूँ। संस्कृति आधारशिला है, यही प्राथमिक चीज है जिसे छात्रायें यहाँ प्राप्त करेंगी। संस्कृति स्वयं को तुम्हारे छोटे से छोटे कार्यों जैसे तुम कैसे बैठती हो, कैसे चलती हो, कैसे कपड़े पहनती हो, आदि व्यवहारों द्वारा प्रकट करेंगी। इसलिए प्रत्येक को तुम्हें देखकर यह खुशी होनी चाहिए कि तुम इस संस्था की उत्पत्ति हो। तुम्हारी आंतरिक संस्कृति, तुम्हारी बोलचाल, अतिथि सत्कार, आपसी व्यवहार तथा शिक्षकों व बड़ों से व्यवहार में परिलक्षित होगी।[1]

गांधी जी कला और संगीत की शिक्षा को भी हस्त कला के समान ही महत्त्व प्रदान करते हैं। उनके अनुसार इन विषयों के माध्यम से बालक में अध्ययन के प्रति रुचि जागृत होती है। चरित्र के विकास पर भी उन्होंने बहुत अधिक बल दिया है। वह चरित्र को हृदय की संस्कृति कहते हैं। बिहार प्रांत के विद्यार्थियों के समक्ष उन्होंने सन् 1917 में भाषण देते हुए कहा कि "हम लोग आत्मिक ज्ञान को केवल सुदृढ़ चरित्र के निर्माण से ही प्राप्त कर सकते हैं। चरित्र क्या है और उसकी प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं? इसके उत्तर में गांधी जी कहते हैं कि सच्चरित्र व्यक्ति वह है जो सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य का पालन करता हो, धन का संचय न करे, चोरी न करे, अभय हो तथा इसी प्रकार व्यवहार के अन्य नियमों का पालन करे।" एक अन्य स्थान पर वह छात्रों से कहते हैं कि तुम्हारी समस्त शिक्षा व्यर्थ है यदि सत्य और शुद्धता पर यह आधारित नहीं है। यदि तुम्हें अपने चरित्र और जीवन की पवित्रता का ध्यान नहीं है, और यदि तुम विचार, वाणी और कर्म से पवित्र नहीं हो, तो तुम्हें नष्ट हुआ समझना चाहिए, भले ही तुम उच्च कोटि के शिक्षाशास्त्री बनकर विद्यालय से निकलो।[2]

गांधी जी ने शिक्षा द्वारा मन, शरीर व आत्मा सभी के सर्वोत्तम विकास की अपेक्षा की है इसलिए शिक्षा का उद्देश्य सर्वांगीण विकास माना है। शिक्षा का चरम लक्ष्य उन्होंने ईश्वर के ज्ञान व अनुभूति को माना है। लेकिन शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्यों में अन्य सब उद्देश्यों को स्वीकार किया है। गांधी जी के शैक्षिक उद्देश्यों को यदि हम वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों की दृष्टि से देखें तो यही निष्कर्ष निकलता है कि उनके अनुसार शिक्षा के उद्देश्य दोनों प्रकार के

1. Mahatma Gandhi— To the Students, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1953, p. 291

2. *–ibid–* ,, p. 122

हैं। वह वैयक्तिक स्वतंत्रता का सदा आदर करते थे तथा व्यक्ति को सामाजिक प्राणी के रूप में देखते थे। उनका विचार था कि व्यक्तित्व का विकास शून्य में असंभव है। वह लिखते हैं कि व्यक्ति का प्रश्न सबसे बड़ा है और मैं राज्य को अधिकार देने में इसलिए डरता हूँ क्योंकि वह यद्यपि शोषण को कम करके व्यक्ति की भलाई करता है पर वह मानव जाति को सबसे बड़ी हानि इस रूप में पहुँचाता है कि मनुष्य के व्यक्तिगत रूप का, जो समस्त प्रगति की जड़ है, का नाश करता है।[1] सामाजिक उद्देश्य के पक्ष में वह लिखते हैं कि ईश्वर को प्राप्त करने का यही एक मार्ग है कि उसको उसकी रचनाओं में देखा जाय और उनसे एकात्मकता स्थापित की जाय। यह केवल सबकी सेवा द्वारा ही हो सकता है। मैं भी इस सृष्टि का ही एक हिस्सा हूँ और मैं उसको मानवता से अलग कहीं नहीं पा सकता।[2]

गांधी जी कहते हैं कि हमारे ऊपर यह आरोप लगाया जाता है कि हम मात्र सैद्धान्तिक विचार प्रस्तुत करने में ही सक्षम हैं और जब हमसे उन पर प्रयोग करने को कहा जाता है तब हम असफल हो जाते हैं क्योंकि प्रयोग करते समय सहयोग तथा निर्णय शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए यदि हमको इस आरोप को हटाना है तो देश में कुछ रचनात्मक कार्य अवश्य करना पड़ेगा और प्रत्येक ग्राम को इकाई मानकर हमें उसको आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास करना होगा। अपने विचारों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए उन्होंने वर्धा शिक्षा योजना में निम्नलिखित बातों पर विशेष बल दिया—

1. निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था—गांधी जी प्राथमिक शिक्षा को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते थे इसीलिए वह कहते हैं कि उच्च शिक्षा के प्रश्न को कुछ समय के लिये टाला जा सकता है परन्तु प्राथमिक शिक्षा की समस्या को एक पल के लिए भी टाला नहीं जा सकता।[3]
2. शिल्प शिक्षा का केन्द्र बिन्दु— गांधी जी कहते हैं कि आधुनिक विचारधारा इस बात से सहमत है कि बालकों को उत्पादन संबंधी कार्य के माध्यम से पढ़ाया जाय। यह शिक्षा प्रणाली सम्पूर्ण और सर्वांगीण शिक्षा देने की समस्या को हल करने का सबसे प्रभाव-

---

1. N. K. Bose— Selections from Gandhi, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1948, p. 27

2. Harijan (Weekly), N. Press Ahmedabad, 29-8-36

3. Educational Reconstruction— A Collection of Gandhiji's articles on the Wardha Scheme, 1939, p. 96

शाली माध्यम है।[1]

3. आत्मनिर्भरता का अंश— गांधी जी लिखते हैं कि हमें इस धारणा से चलना है कि ग्रामीण भारत की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए यदि शिक्षा को अनिवार्य बनाया जाय तो उसे आत्मनिर्भर भी बनाया जाय।[2]
4. शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा रखा गया।
5. अहिंसा के सिद्धान्त पर आधारित शिक्षा की व्यवस्था की गयी।
6. सहकारी भावना से कार्य करने पर बल दिया गया।

डॉ० राधाकृष्णन

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का प्रधान उद्देश्य प्रकृति के विविध अध्ययनों की सहायता से मनुष्य को ईश्वर के निकट लाना है। उनका विचार है कि शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य इस दूसरे लोक का दर्शन करना है जो हमारा लोक है, वह लोक जो अदृश्य और अस्पृश्य है, जो देश व काल से परे है। डॉ० राधाकृष्णन कहते हैं कि हम स्वर्ग के नागरिक हैं। देश व काल के भौतिक जगत में हमने जन्म ग्रहण किया है। हमें वह योग्यता प्रदान की जानी चाहिए जिससे हम स्वर्ग के राज्य में बेटे का अधिकार प्राप्त कर सकें। शिक्षा को चाहिए कि वह हमें दूसरा जन्म दे। ऐसा करना हमारी प्रकृति के प्रतिकूल किसी विजातीय द्रव्य को हमारे ऊपर जबरदस्ती लादना नहीं है। उसे केवल उसी को प्राप्त करने में हमारी सहायता करनी है जो पहले से ही हमारे अन्दर मौजूद है।[3]

डॉ० राधाकृष्णन शिक्षा द्वारा वैज्ञानिक मस्तिष्क निर्माण करना चाहते हैं जो भौतिक, मानसिक तथा व्यावहारिक सभी क्षेत्रों में सत्यता का दर्शन कर सके तथा अप्रमाणित व अनुपयोगी तथ्यों को बाहर निकाल सके। वह लिखते हैं कि वैज्ञानिकता कोई बाहरी केवल आलंकारिक वस्तु नहीं है, वह तो मस्तिष्क का ही एक अंग है। उसी का एक अविच्छेद अवयव है। इस वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग केवल व्यावहारिक जीवन तथा अवकाश की साधारण व्यवस्था में, भौतिक पदार्थों के विवरण में, उद्योग धन्धों व खेती की उन्नति में ही नहीं

---

1. ,, ,, ,, p. 120

2. Harijan (Weekly)— N. Press Ahmedabad, 18-9-37

3. डॉ० राधाकृष्णन— 'स्वतंत्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली 1974, पृष्ठ 158

करना चाहिए वरन् उन बातों में भी करना चाहिए जो जाति के मन तथा उच्च आचरण से संबंधित हैं। हमारे वैज्ञानिक मस्तिष्क को कल्पनातीत ऐश्वर्य और घोर दरिद्रता के विपरीत दृश्यों से ही नहीं वरन् अत्यधिक पवित्रता और मूर्खतापूर्ण अन्धविश्वासों से भी ठेस पहुँचनी चाहिए।[1]

डॉ० राधाकृष्णन शिक्षा का प्रधान प्रयोजन संसार में समानता और वर्ग-हीन समाज की स्थापना करना मानते हैं। शिक्षा द्वारा वह विश्व नागरिकता, विश्व संस्कृति तथा नागरिकता के जागरण की आशा रखते हैं। वह कहते हैं कि "हमारी शिक्षा बिल्कुल बेकार है यदि अध्ययन काल में ही चारों ओर फैले विश्व के संबंध में ऐसी बुद्धि वह हमें नहीं दे देती जिससे हमें उस आत्मतत्त्व का सम्यक्-दर्शन हो सके जो छोटे बड़े सभी प्राणियों के जीवन का आधार है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्यों के मस्तिष्क को नवीन ज्ञान से भर देना ही नहीं है वरन् उनके पूर्ण आध्यात्मिक विकास में सहायता देना है। उसको चाहिए कि उन्हें आध्यात्मिक वस्तुओं का मूल्य समझाए, उनकी दृष्टि क्षणभंगुर संसार से हटाकर नित्य पदार्थों की ओर तथा कोरे उपयोगितावाद से दूर अमरता की ओर ले जाए। ऐसी शिक्षा के फलस्वरूप हम अपने उन संकीर्ण मतों तथा गतिहीन विश्वासों के लिए, जो हमारे सामाजिक संबंधों को भी कठिन बना देते हैं, लज्जा का अनुभव करेंगे। व्यक्ति और सम्प्रदाय को दूसरों के साथ सहयोग कर सकने की क्षमता ही शिक्षा की सच्ची कसौटी है।[2]

डॉ० राधाकृष्णन चारित्रिक उन्मया को शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य स्वीकार करते हैं। वह कहते हैं कि "विश्वविद्यालय केवल उच्च शिक्षा तथा व्यावसाविक ज्ञान देने वाली संस्थाएँ ही नहीं हैं, उनका कर्त्तव्य तो नई पीढ़ी को शिक्षित करना, उनके चरित्र का निर्माण करना तथा एक नये प्रकार के बौद्धिक नेता तैयार करना है।" वह शिक्षा द्वारा समाज में सरलता और सादगी लाना चाहते हैं। उनका विचार है कि आध्यात्मिक शिक्षा के अभाव में शारीरिक प्रौढ़ता और बौद्धिक तत्परता भयप्रद हो सकती है। आज सभ्यता को सबसे बड़ा खतरा इस बात से है कि विज्ञान ने हमारी उत्पादन शक्ति में जो अपरिमित वृद्धि कर दी है उसका ठीक-ठीक प्रयोग हम नहीं कर पाते। वह लिखते हैं कि विज्ञान हमें परिवर्तन सह सकने की ताकत, अपने को स्थिति के अनुकूल बना लेने की ताकत, निर्भ्रान्त निरीक्षण विचारों की निश्चलता और खुला हुआ विभाग दे सकता है, परन्तु इतना ही तो पर्याप्त नहीं है। हमें

1. डॉ० राधाकृष्णन — 'स्वतन्त्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली 1974, पृष्ठ 104

2. –वही– ,, पृष्ठ 49

कल्पना शक्ति को जगाना होगा और संसार में न्याय के साम्राज्य का वह दिव्य दर्शन हमें कराना होगा जिसे केवल दार्शनिकों और कवियों के स्वप्नों ने ही चित्रित कर पाया है ।[1]

इस प्रकार वह आध्यात्मिकता पर बल देते हैं और उसके लिए विश्वविद्यालय में आध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता को आवश्यक मानते हैं। विभिन्न प्रकार की धार्मिक संस्थाएं भी आजकल अनावश्यक कर्मकाण्ड तथा प्रचार में अपना अधिक समय व शक्ति खर्च करती हैं। सही धार्मिक उपदेश व नैतिक शिक्षा तथा सहयोग व सद्भाव से जीवनयापन करने की दीक्षा तथा निष्पक्ष विचारों का सृजन विश्वविद्यालय के माध्यम से ही संभव है। वह लिखते हैं कि आज की परिवर्तित परिस्थिति में विश्वविद्यालय ही वह सत्ता है जिसे विचारों व आदर्शों के क्षेत्र में नेतृत्व ग्रहण करना होगा। और धार्मिक व साम्प्रदायिक वैमनस्य से पीड़ित भारत में आज अपनी ही आलोचना करने की शक्ति और दूसरों के विश्वास और प्रयासों के प्रति उदारतापूर्वक विवेकशीलता के अधिकाधिक प्रचार की आवश्यकता है जिसको विश्वविद्यालय द्वारा उत्पन्न किया जाना चाहिये। शास्त्री, पंडित, मुल्ला, मौलवी तथा परम्परायुक्त धर्म-प्रचारक पादरी वर्तमान स्थिति में हमें कुछ विशेष महत्त्व की सहायता नहीं दे सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में धर्म की उपयोगिता का साधारण के जीवन को अधिक उन्नत और पूर्ण बनाने में नहीं, वरन् कोरे ज्ञान दम्भिकों तथा पुजारियों के लिए एक सुन्दर भविष्य निर्माण करने में है ।[2]

डॉ० राधाकृष्णन भारतीय प्राचीन सभ्यता व संस्कृति को बहुत आदर देते हैं तथा उसको शिक्षा में स्थान देते हैं। उनका विचार है कि इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन भी विश्वविद्यालयों के माध्यम से होना चाहिए। डॉ० राधाकृष्णन के शिक्षा सम्बन्धी उद्देश्य वैयक्तिक व सामाजिक दोनों प्रकार के हैं। शिक्षा में वह बालक की वैयक्तिकता, आत्मबोध तथा भारतीय संस्कृति में विश्वास आदि भावनाओं पर जोर देते हैं। वह बालक का मानसिक और बौद्धिक विकास चाहते हैं तथा उसको स्वयं निर्णय लेने में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहते हैं। वह लिखते हैं कि विश्वविद्यालय का आदर्श मानसिक और बौद्धिक स्वातंत्र्य है। उसकी ममता न तो विशेषाधिकारों की रक्षा में है और न किसी सिद्धान्त विशेष को सर्वमान्य बनाने में। वह तो उन सभी विशेषाधिकारों का विरोधी है जो बौद्धिक उच्चता अथवा आध्यात्मिक महत्ता से दूर हों, वह सर्वमान्यता का भी विरोध करता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार

1. डॉ० राधाकृष्णन— 'स्वतन्त्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, पृष्ठ 73
2. –वही– पृ० 10

है कि वह अपने विचारों और सिद्धान्तों की स्वतंत्रतापूर्वक विकसित करे। विचारशील व्यक्तियों का समाज होने के कारण विश्वविद्यालय स्वतंत्रता का मन्दिर है। उस मनोवृत्ति की शक्ति एवं सत्ता जो स्वतंत्रता की बाधक तथा विशेषाधिकार या सर्वमान्यता की साधक है, धार्मिक तथा साम्प्रदायिक कट्टरता की पोषक है, विश्वविद्यालय का कर्त्तव्य है कि ऐसी मनोवृत्ति का दमन करे तथा अपने युग के विचार व स्वभाव को एक नवीन रूप दे।[1]

डॉ० राधाकृष्णन कहते हैं कि विश्वविद्यालयीय शिक्षा की सार्थकता ज्ञान के अर्जन में नहीं, वैज्ञानिक स्वभाव के सृजन में होती है। विद्यार्थी को मत और सिद्धांत वास्तविकता और कल्पना के अन्तर का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए, उसमें प्राप्त सामग्री की छान-बीन करके सत्य खोज लेने की क्षमता होनी चाहिए तथा वह शक्ति होनी चाहिए जिसके द्वारा वह अपने विद्यार्थियों के मत की न्याय-पूर्वक समीक्षा कर सके। गवेषणा बुद्धि इसी स्वतंत्र अनुसंधान तथा विवेक-शीलता को कार्यान्वित करने का नाम है।

भारत सरकार ने सन् 1948 में डॉ० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की नियुक्ति की जिसका उद्देश्य भारतीय विश्व-विद्यालय शिक्षा पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करना था और उन सुधारों व विस्तारों के बारे में सुझाव देना था जो देश की तत्कालीन और भावी आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त हों। डॉ० राधाकृष्णन के शैक्षिक विचारों को जानने के लिए इस आयोग की रिपोर्ट की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आयोग ने विश्वविद्यालय शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताये हैं:—

1. भारत की बदलती हुई परिस्थितियों में ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना जो राजनीति, प्रशासन, व्यवसाय, उद्योग और वाणिज्य के क्षेत्र में नेतृत्व कर सकें।
2. समस्त ब्रह्माण्ड का सामंजस्यपूर्ण चित्र और जीवन का एकीकृत मार्ग प्रदान करने हेतु विश्वविद्यालय को नवयुवकों में ज्ञान, और वस्तुओं के बारे में बौद्धिक दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए।
3. समाज सुधार हेतु ऐसे नेताओं का निर्माण करना चाहिए जो दूरदर्शी, बुद्धिमान और बौद्धिक साहसी हों।
4. विश्वविद्यालय सभ्यता के अंग होने चाहिएँ। अतः उन्हें सभ्यता के बौद्धिक अग्रदूत तैयार करने चाहिएँ।

---

1. डॉ० राधाकृष्णन— स्वतंत्रता और संस्कृति, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृ० 11

5. विश्वविद्यालयों को ऐसे विवेकी व्यक्तियों का निर्माण करना चाहिए, जो प्रजातंत्र को सफल बनाने के लिए शिक्षा का प्रचार कर सकें, ज्ञान की सदैव खोज कर सकें, मानव जीवन का अर्थ व सार जान सकें, रोजगारों का प्रबन्ध कर सकें, और देश तथा समाज के विभिन्न भौतिक अभावों की पूर्ति के लिए साधनों को जुटा सकें।
6. शिक्षा का उद्देश्य जीवन और ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का समन्वय करना हो।
7. अपनी राष्ट्रीय विरासत को अपनाकर अपनी सर्वोत्तम योग्यतानुसार योगदान देने की शिक्षा प्रदान करना।
8. छात्रों का आध्यात्मिक विकास करना।
9. नैतिक दायित्वों व मानवीय मूल्यों से पूर्ण नागरिक बनाना।
10. व्यक्ति के जन्मजात गुणों की खोज करके, प्रशिक्षण द्वारा विकास करना।
11. अनुशासन, साहस, नेतृत्व और सामूहिक भावना के विकास हेतु शारीरिक शिक्षा की व्यवस्था करना।
12. जीवन की कला का ज्ञान देने के लिए छात्रों को बौद्धिक दूरदर्शिता, सौंदर्यपरक अनुभूति और प्रयोगात्मक शक्ति प्रदान करनी चाहिए। इसके लिए छात्रों को प्रकृति, समाज व मूल्यों का ज्ञान समग्र रूप में प्रदान किया जाय।
13. मानवीय भावनाओं को गम्भीर और व्यापक बनाने के लिए भाषा व मातृभाषा के साहित्य तथा दार्शनिक विचारों का अभ्यस्त कराया जाय।
14. सभ्यता के गुण का आधार मनुष्य का चरित्र है न कि भौतिक साज-सज्जा और राजनैतिक यंत्र। अतः विश्वविद्यालयों को अपने छात्रों के चरित्र में सुधार करके उन्हें श्रेष्ठ व आदर्श बनाना चाहिए।
15. सामाजिक एकता, सामाजिक स्वतंत्रता व उन्नति हेतु प्रशिक्षित करना।
16. राष्ट्रीय अनुशासन की भावना का विकास करना।
17. विश्व शान्ति से सहयोग देने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के विकास का कार्य रखना।

18. हम न्याय, स्वतंत्रता, समानता और विश्वबंधुत्व की प्राप्ति द्वारा प्रजातंत्र की खोज में संलग्न हैं— अतः हमारे विश्वविद्यालयों को इन आदर्शों का प्रतीक व रक्षक होना चाहिए।

इस प्रकार डॉ० राधाकृष्णन ने समाज के प्रत्येक क्षेत्र के विकास के लिए शिक्षा की आवश्यकता को अनुभव किया है। शिक्षा व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक उन्नति दोनों का उत्तरदायित्व ग्रहण करती है।

आचार्य विनोबा भावे

आचार्य विनोबा भावे के शिक्षा संबंधी विचार आदर्शवादी हैं। वह यह मानते हैं कि बालक में कुछ जन्मजात शक्तियाँ होती हैं जिनमें उसका ज्ञान वास करता है। शिक्षा के माध्यम से वह इन शक्तियों के द्वारा सांसारिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है। वह कहते हैं कि हम इस बाहरी दुनिया से जो कुछ सीखते हैं वह सब भूल जाते हैं और उसकी जगह उसके संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं। आजकल शिक्षण का अर्थ जानकारी नष्ट होने पर बचे हुए संस्कार ही हैं। ऐसा होने का कारण है कि जो हमारे भीतर नहीं हैं उसका बाहर से मिलना असंभव है। इस प्रकार स्पष्ट है कि बाह्य शिक्षण कोई स्वतंत्र या सात्विक पदार्थ न होकर केवल अभावात्मक क्रिया है।[1]

आचार्य विनोबा शिक्षा द्वारा बालक को एक जिज्ञासु, स्वतंत्र-विचारक, कर्त्तव्यनिष्ठ, आत्म-निर्भर, संयमी, विनयी और समाजसेवी नागरिक बनाना चाहते हैं। वह देश व समाज के हित के लिए बालक को आत्म त्याग के आदर्श को भी सिखाना चाहते हैं। वह लिखते हैं कि अग्नि की दो शक्तियाँ मानी गई हैं एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों शक्तियाँ जहाँ हैं वहाँ अग्नि है। स्वाहा का अर्थ आत्मधारणा की शक्ति तथा स्वधा का अर्थ आत्म त्याग है। यह दोनों शक्तियाँ राष्ट्र शिक्षण में जागृत होनी चाहिएँ। इन शक्तियों के जागृत होने पर ही वह राष्ट्रीय शिक्षण कहलायेगा। बाकी सब मृत, निर्जीव हैं, कोरा शिक्षण है। जहाँ आत्म त्याग की शक्ति होगी वहाँ आत्म धारणा की शक्ति भी होती है। राष्ट्रीय शिक्षण में पहले स्वधा उसके बाद स्वाहा की शिक्षा होनी चाहिए अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षकों को अब 'स्वधा' सम्पादन की तैयारी करनी चाहिए।[2]

---

1. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 10

2. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 24, 25

राष्ट्रीय शिक्षा से विनोबा जी का तात्पर्य सरकारी तंत्र के अधीन शिक्षा से नहीं है वरन् देशप्रेम की शिक्षा से है। वह शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण अनुचित मानते हैं, क्योंकि उससे शासक वर्ग की नीतियों को ही शिक्षा के क्षेत्र में क्रियान्वित किया जाता है। बालक को स्वतंत्रतापूर्वक नैसर्गिक विकास करने का अवसर नहीं प्राप्त होता। वह लिखते हैं कि अगर देश की सारी शिक्षा सरकारी तंत्र में आ गयी, तो बच्चों के दिमाग विशिष्ट ढाँचे में ढाले जाने का खतरा बना रहेगा। इस दृष्टि से भी नयी तालीम के सरकार-निरपेक्ष प्रयोग चलने चाहिएँ। यह हमारे लिए सोचने का विषय है।[1] एक अन्य स्थान पर वह कहते हैं कि गाँव-गाँव की शिक्षा गाँव-गाँव के हाथ में हो और बाकी की शिक्षा विश्वविद्यालयों के हाथ में हो।[2]

आचार्य विनोबा ने अपनी शिक्षा नीति को नयी तालीम के नाम से पुकारा है। इस शिक्षा नीति को त्रिविध शिक्षा-दर्शन की संज्ञा दी गयी है। इसका कारण यह है कि उसमें मानव जीवन के तीनों पक्षों सामाजिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक को समुचित स्थान दिया गया है। वह शिक्षा को स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं और कहते हैं कि स्वावलम्बन के तीन अर्थ हैं। अपने उदर-निर्वाह के लिए दूसरों पर निर्भर रहना न पड़े यह उसका पहला अर्थ है। उसका दूसरा अर्थ यह है कि ज्ञान प्राप्त करने की स्वतंत्र शक्ति जागृत हो और उसका तीसरा अर्थ यह है कि मनुष्य में अपने आप पर नियंत्रण रखने की शक्ति आनी चाहिए।[3]

विनोबा जी की नयी तालीम के मुख्य विचार निम्न हैं :—

1. नयी तालीम के अनुसार मनुष्य जो भी सेवा करता हो, शारीरिक या मानसिक, वह एक नैतिक वस्तु है।[4]
2. नयी तालीम का आर्थिक पहलू यह है कि शारीरिक परिश्रम तथा मानसिक परिश्रम, इस प्रकार के वर्ग टूटने चाहिएँ।[5]
3. नयी तालीम का आध्यात्मिक पहलू यह है कि ज्ञान और कर्म दो

---

1. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 123
2. श्रीमन्नारायण— कवि विनोबा, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1972, पृ० 380
3. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1960, पृ० 246
4. –वही– पृ० 279
5. –वही– पृ० 281

चीजें नहीं बल्कि एक ही चीज है। ज्ञान से कर्म श्रेष्ठ या कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ कहना गलत है।[1]

4. नयी तालीम का सामाजिक पहलू यह है कि मनुष्य मात्र समान है इसलिए भिन्न-भिन्न सामाजिक भेद, वर्ग भेद आदि सब मिथ्या हैं।[2]

इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में नयी तालीम मानवतावादी दृष्टिकोण का समर्थन करती है वह किसी समाज या राष्ट्र विशेष का नहीं वरन् प्राणी मात्र का कल्याण चाहती है। वह जाति, धर्म, धनी, निर्धन आदि बन्धनों को समाप्त करके सम्पूर्ण मानव जाति के बालकों को समान सुविधायें प्रदान करना चाहती है। धर्म के क्षेत्र में वह बच्चों को वहीं तक ले जाना चाहती है जहाँ तक कि वे सभी धर्मों की अच्छी बातों को सीखें। आर्थिक क्षेत्र में नयी तालीम मानसिक और शारीरिक श्रम को समान महत्त्व देती है। वास्तव में हमारे वर्तमान सामाजिक ढाँचे में श्रम का उचित मूल्यांकन नहीं होता है। शारीरिक तथा मानसिक श्रम के मध्य की खाई जो आज तक नहीं पट पायी है, नयी तालीम उसे सर्वदा के लिए समाप्त कर देना चाहती है। विनोबा जी ने शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार के श्रम को नैतिक वस्तु माना है। अतएव धन से श्रम का मूल्यांकन करना गलत है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में नयी तालीम सच्चिदानन्द की प्राप्ति की व्यवस्था करती है। उनका विचार है कि मनुष्य को कर्म करना चाहिए। कर्म से ज्ञान और ज्ञान से आनन्द की प्राप्ति स्वतः हो जाएगी।

आचार्य विनोबा की नयी तालीम न केवल मनुष्य के शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास की योजना प्रस्तुत करती है। वरन् उसके जीवन-यापन की समस्या का समाधान भी उपस्थित करती है। वह स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले प्रचलित शिक्षा नीति को स्वतंत्र भारत में प्रयोग करना नहीं चाहते। क्योंकि देश को प्रत्येक क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनाना है इसके लिए ऐसी रचनात्मक शिक्षा की आवश्यकता है जो अपने ही साधनों द्वारा तथा अपने ही श्रम द्वारा समाज को उच्च स्तर प्रदान करने में सक्षम हो। उन्होंने पहली अप्रैल सन् 1959 को पंजाब में आयोजित बुनियादी शिक्षा परिषद् के समापन भाषण में बोलते हुए कहा था कि अब इस बारे में दो रायें नहीं हैं कि स्वतंत्रता के पहले जो शिक्षा पद्धति यहाँ प्रचलित थी, वह अब स्वराज्य के बाद काम नहीं दे सकती। हम नए शासन में पुराने झण्डे को पकड़े नहीं रह सकते। नए आसन के साथ उसे बदलना ही होता है। सरकारें जब बदलती हैं, तब पुराना झण्डा

1. –वही– पृ० 281
2. –वही– पृ० 282

राष्ट्र के निशान का काम नहीं दे सकता। स्वराज्य के बाद बहुत-सी नयी समस्यायें एक साथ खड़ी हो गयीं और हमारे नेता उसे सुलझाने में लग गये और वही पुरानी शिक्षा पद्धति कुछ वर्ष चलती रही। शिक्षा पद्धति बदली जाय अब इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता और वह बदले तो नयी शिक्षा पद्धति ऐसी हो जो देश की आज की जरूरतों को पूरा कर सके।[1]

देश की आवश्यकताओं को विनोबा जी ने भली प्रकार समझा और उसी के अनुरूप शिक्षा योजना प्रस्तुत की। बेरोजगारी की समस्या के समाधान हेतु उन्होंने कहा कि "सोलह वर्ष तक स्वावलम्बन का शिक्षण और सोलह वर्ष बाद स्वावलम्बन से शिक्षण"— यह सूत्र स्वीकार करके तदनुसार शिक्षण योजना चलाये बिना इन समस्याओं से छुटकारा नहीं मिल सकता।[2]

पूर्व उद्धृत शिक्षा दार्शनिकों के अनुसार दिये गये शिक्षा के उद्देश्यों संबंधी विचारधारा का अध्ययन करने पर हम उन उद्देश्यों को निम्न मुख्य उद्देश्यों में विभक्त कर सकते हैं :—

1. **ब्रह्म से साक्षात्कार का उद्देश्य** : भारतीय विचारक मुख्यतः अपने प्राचीन वैदिक साहित्य से अनुप्रेणित रहे हैं। इसलिए उन्होंने जीवन को एक दैवीय आशीर्वाद के रूप में स्वीकार किया तथा उसका उद्देश्य सच्चिदानन्द की प्राप्ति बताया। सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् की प्राप्ति का उद्देश्य ही उनके समस्त व्यवहार का प्रेरणा स्रोत रहा है। लगभग सभी शिक्षा दार्शनिक इसको जीवन व शिक्षा का लक्ष्य मानते हैं। लेकिन सैद्धान्तिक रूप में इसकी व्याख्या शंकराचार्य, श्री अरविन्द, गांधी जी तथा डॉ० राधाकृष्णन के विचारों में स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। शंकराचार्य का समस्त दर्शन ही वेदान्तिक है। वह इस जगत को स्वप्नवत् और मिथ्या समझते हैं तथा परमार्थिक जगत की प्राप्ति व ब्रह्म से साक्षात्कार करना जीवन का उद्देश्य मानते हैं। अपने शिष्यों के सम्मुख दिये गये उनके उपदेशों से भी इसके पुष्ट प्रमाण मिलते हैं जो शंकर-भाष्य में दृष्टिगोचर होते हैं। श्री अरविन्द ने ब्रह्म प्राप्ति की दिशा में आरोहण का मार्ग बताया जोकि चेतना के निरन्तर उन्नयन से प्राप्त होता है। वह कहते हैं कि मनुष्य की वर्तमान अवस्था विकास की उच्चतम अवस्था नहीं है वरन् वह अभी विकसित दशा में है। इससे अगले स्तर पर मनुष्य अतिमानव का रूप ग्रहण करेगा। जिसमें उच्चतर चेतना तथा दैवीय गुणों की मात्रा

1. श्री मन्नारायण— 'कवि विनोबा, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी 1972, पृ० 183

2. विनोबा भावे— 'शिक्षण विचार', सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी 1960, पृ० 92

मनुष्य योनि से अधिक होगी। अतिमानव के बाद 'देव' स्तर पर पहुँचेगा और अपनी अन्तिम अवस्था में पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त करेगा। इसलिए व्यक्ति का समस्त प्रयास चेतना शक्ति की प्राप्ति की ओर ही होना चाहिए।

गांधी जी ने शिक्षा के दो प्रकार के उद्देश्य बताये हैं उनमें से प्रथम तात्कालिक हैं तथा दूसरे सार्वभौमिक हैं। तात्कालिक उद्देश्य उस समय की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित किये गये जैसे जीविकोपार्जन का उद्देश्य, सामंजस्यपूर्ण व्यक्तित्व का विकास, नैतिक व चारित्रिक विकास तथा सांस्कृतिक विकास का उद्देश्य। दूसरे प्रकार के उद्देश्य जीवन के शाश्वत-मूल्यों से संबंधित हैं जिनमें मुक्ति प्राप्त करने का उद्देश्य सर्वोच्च उद्देश्य है। जिसको व्यक्ति अपनी आत्मानुभूति द्वारा प्राप्त कर सकता है। गांधी जी अपनी आत्मकथा में कहते हैं कि टालस्टाय फार्म पर बालकों के शिक्षा देने का कार्य करने से पहले मुझे इस बात का ज्ञान हो गया था कि आत्मा का प्रशिक्षण स्वयं एक महान कार्य है। आत्मा का विकास करना, चरित्र का निर्माण करना एवं व्यक्ति को ईश्वर तथा आत्मानुभूति के कार्य करने के योग्य बनाना है। डॉ० राधाकृष्णन मानव को सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानते हैं तथा उसको स्वर्ग के नागरिक के रूप में देखते हैं। मानव का कार्य इस पृथ्वी पर दैवीय समाज की स्थापना करना है जोकि आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा ही संभव हो सकता है। वह वैज्ञानिकता को उस समय तक मानव जाति के लिये हानि-कारक समझते हैं जब तक कि वह सर्वोच्च मूल्यों से पोषित नहीं हो जाती। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में उन मूल्यों की प्राप्ति पर बल देते हैं जो मानव को परम तत्त्व से साक्षात्कार करने में सहायक हों।

उपरोक्त दार्शनिक ज्ञान मार्ग के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति पर बल देते हैं। अन्य सभी भारतीय दार्शनिक भी किसी न किसी रूप में इस उद्देश्य को प्रमुख उद्देश्य मानते हैं, उनके ब्रह्म साक्षात्कार के साधन मार्ग में कुछ अन्तर अवश्य है। जैसे महर्षि दयानन्द सरस्वती वैदिक धर्म की शिक्षा द्वारा तथा वैदिक ज्ञान को व्यावहारिक जीवन में प्रयोग करके सर्वोच्च मूल्यों को प्राप्त करना चाहते हैं। स्वामी विवेकानन्द मानव आत्मा में ही ब्रह्म के दर्शन करते हैं तथा दारिद्रय निवारण और मानव विकास को ही मुक्ति की संज्ञा देते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर प्रकृति के सहयोग द्वारा शिक्षा प्रदान करके बालक की नैसर्गिक क्षमताओं की उन्नति करना चाहते हैं जिससे बालक की आत्मा, मस्तिष्क व शरीर सभी अपनी पूर्ण क्षमता को प्राप्त कर सकें। उनके अनुसार ईश्वर को उसकी रचनाओं में देखा जा सकता है। मदन मोहन मालवीय ने जन-जागरण के द्वारा मानव आत्मा को पोषित किया जिससे जनता अपनी क्षमताओं को समझे तथा विकास की सही दिशा ग्रहण करे। उन्होंने पाखण्ड का घोर विरोध

किया तथा रचनात्मक कार्यों की ओर जनता को प्रेरित किया। इनका ईश्वर सत्य ज्ञान में निहित है जिसका आधार बुद्धि व विवेक है। गांधी जी और विनोबा भावे ने भी जनता जनार्दन में ईश्वर के दर्शन किये और जनता की सेवा करना ही ईश्वर की सबसे बड़ी उपासना बताया। विनोबा जी ने सर्वोदय विचार से जनता को स्वावलम्बन तथा आत्मबल प्रदान करने का प्रयास किया।

2. आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य : पूर्व की सभ्यता व संस्कृति अध्यात्म केन्द्रित है। यहाँ के चिन्तकों के अनुसार जीवन का वास्तविक उद्देश्य भौतिक उन्नति नहीं वरन् आध्यात्मिक उन्नति करना है जिससे व्यक्ति आवागमन के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करे। भौतिक प्रगति, द्वेष, ईर्ष्या, संघर्ष व प्रतिस्पर्धा को जन्म देती है, जिसके फलस्वरूप शत्रुता और वैमनस्य का विष फैल जाता है। भौतिक प्रगति हमारी इच्छाओं को बलवान बनाती है और इच्छाएँ बलवती होकर हमारे दुख का कारण बनती हैं। भारतीय दार्शनिकों में शंकराचार्य लौकिक क्रियाओं को महत्त्व प्रदान नहीं करते, आध्यात्मिक ज्ञान को ही जीवन का लक्ष्य बताते हैं। महर्षि दयानन्द का चिन्तन भी व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक अधिक है। वह वेदों, उपनिषदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के पठन-पाठन पर अधिक बल देते हैं। स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा व्यावहारिक अधिक है परन्तु फिर भी वह समाज सेवा के लिए सांसारिक सुखों के त्याग का आदर्श सामने रखते हैं। वह कर्म योग के द्वारा मूल्यों की प्राप्ति पर बल देते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर की शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य भी आध्यात्मिक विकास ही है। वह अपनी पुस्तक 'पर्सनालिटी' में कहते हैं कि प्रत्येक सांस के साथ हमें सदैव इस सत्य का अनुभव होना चाहिए कि हमारा ईश्वर में वास है। उन्होंने विश्वभारती के परिसर में भी कहा कि मेरा नये स्कूल को खोलने में मुख्य उद्देश्य बालकों को आध्यात्मिक संस्कृति का ज्ञान देना था। श्री अरविन्द की समस्त शिक्षा का प्रयास अनन्त चेतना की उपलब्धि करना है जिसको वह दिव्य पूर्णता मानते हैं। इस प्रकार उन्होंने भी आध्यात्मिकता को ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना है। महात्मा गांधी ने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने के लिए शिक्षा को सृजनात्मक बनाने का प्रयास किया लेकिन जीवन का अन्तिम ध्येय उनका भी मोक्ष-प्राप्ति ही था, जिसका सत्य और अहिंसा सशक्त सम्बल थे। डॉ० राधाकृष्णन आध्यात्मिकता को वैज्ञानिकता से अधिक आवश्यक समझते थे क्योंकि उनका विचार था कि वैज्ञानिक शक्ति के साथ-साथ नैतिकता का होना भी आवश्यक है अन्यथा वैज्ञानिक प्रगति अभिशाप बन जाती है जो सम्पूर्ण मानव जाति के लिए ही घातक सिद्ध हो सकती है। इसलिए मानवीय मूल्यों की शिक्षा वैज्ञानिक शिक्षा से पूर्व अपेक्षित है। विनोबा भावे ने भी आध्यात्मिक शिक्षा पर जोर

दिया है। उनकी नई तालीम के आध्यात्मिक पहलू में ज्ञान मार्ग व कर्म मार्ग को समान महत्त्व दिया गया है। वह कहते हैं कि ज्ञान को कर्म से या कर्म को ज्ञान से उच्च मानना त्रुटिपूर्ण है। दोनों मार्ग एक दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरा फलदायी नहीं हो सकता। मदनमोहन मालवीय ने आध्यात्मिक शिक्षा पर विशेष बल नहीं दिया है। वह भारत के लिए योग्य नागरिकों का निर्माण करना चाहते हैं। इसलिए कुछ आध्यात्मिक पहलू नैतिकता के रूप में उनके शिक्षा क्षेत्र में आ जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आध्यात्मिक शिक्षा को लगभग सभी विचारकों ने स्वीकार किया है।

3. **ज्ञानार्जन का उद्देश्य** : पूर्व तथा पश्चिम के सभी प्राच्य शिक्षा दार्शनिकों का शिक्षा प्रदान करने का उद्देश्य विभिन्न विषयों का अधिकाधिक ज्ञान प्रदान करना रहा है। वह सैद्धान्तिक ज्ञान को मानव प्रगति का आधार तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का सबल साधन मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान मनुष्य को अपने विचारों व भावनाओं को अनुशासन में रखने और संगठित करने में सहायता करता है। इससे व्यक्ति अपने सामाजिक व भौतिक वातावरण से सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता प्राप्त करता है। भारतीय दार्शनिकों में शंकराचार्य सत्य ज्ञान के द्वारा अध्यास को समाप्त करने की शिक्षा देते हैं वह खोज और विवेक शक्ति का विकास करना चाहते हैं जिससे व्यक्ति तर्क के माध्यम से सत्य ज्ञान की अनुभूति कर सकें और माया के आवरण से स्वयं को मुक्त कर सके। दयानन्द सरस्वती वैदिक ज्ञान प्रदान करना चाहते हैं जिससे बुद्धि-संगत ज्ञान द्वारा व्यक्ति वेदों का सही अर्थ जान सके तथा पाखण्ड व अन्धविश्वास से स्वयं को तथा समाज को दूर रख सके। इस प्रकार ज्ञानार्जन तथा ज्ञान प्रदान करना दोनों कार्य शिक्षा द्वारा सिद्ध होते हैं। विवेकानन्द शिक्षा द्वारा व्यावहारिक व सैद्धान्तिक दोनों प्रकार का ज्ञान प्रदान करना चाहते हैं। उनका विचार है कि वेदों तथा उपनिषदों की शिक्षा को व्यवहार में प्रयोग करना आवश्यक है जिससे भारतीय आत्मा पुनर्जीवित हो सके। मदनमोहन मालवीय ने बुद्धि के विकास को उद्देश्य मानकर अपनी शिक्षा योजना को कार्यान्वित किया। वह प्रत्येक विषय का संपूर्ण ज्ञान विद्यार्थी को प्रदान करना चाहते हैं। श्री अरविन्द सत्य ज्ञान प्राप्ति में इन्द्रियों द्वारा प्रदत्त ज्ञान को महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार बालक की समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ इतनी प्रशिक्षित और स्वस्थ होनी चाहिए कि वह बिना किसी त्रुटि के समस्त संवेदनों को मस्तिष्क तक पहुँचा सकें जिससे मन उस पर भली प्रकार विचार कर सके। इस ज्ञान को बुद्धि द्वारा संगठित, सरलीकृत तथा तुलना करने योग्य बनाया जाता है। इसलिए बुद्धि का प्रशिक्षण भी अनिवार्य हैं। वह चित्त को भी इस योग्य बनाना चाहते हैं कि वह समस्त उपयोगी व सत्य ज्ञान को अपने में संचित

कर सके तथा आवश्यकता पड़ने पर उसको चेतना में लाया जा सके। उन्होंने मस्तिष्क का चौथा स्तर अन्त: सहज ज्ञान बताया है जो अभी कम विकसित है। इसको शिक्षा द्वारा अधिक विकसित बनाना है।

महात्मा गांधी ने अपनी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक के शरीर, आत्मा व मस्तिष्क का सामंजस्यपूर्ण विकास बताया है। इस प्रकार मस्तिष्क का प्रशिक्षण ज्ञान प्राप्ति का हेतु है जिससे व्यक्ति भौतिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सके। डॉ० राधाकृष्णन समस्त ब्रह्माण्ड के एकीकृत रूप का तथा समस्त मानव जाति के नैसर्गिक रूप का ज्ञान प्रदान करना चाहते हैं। विनोबा भावे ज्ञान प्राप्ति तथा कर्म योग को एक समान महत्त्व देते हैं। समस्त भारतीय शिक्षा दार्शनिकों में से शंकराचार्य तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्ति पर अत्यधिक बल दिया है तथा व्यावहारिक पहलू को छोड़ दिया है।

4. चारित्रिक विकास : चरित्र शब्द आंतरिक दृढ़ता तथा व्यक्तित्व की एकता को परिलक्षित करता है। चरित्रवान व्यक्ति अपने व सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है, किसी बाहरी दबाव में आकर नहीं। लेकिन चरित्र के गठन में नैतिकता का आधार होना आवश्यक है। अन्यथा अनैतिक चरित्र समाज के लिए विनाशकारी हो सकता है। आज चारित्रिक विकास की आवश्यकता समस्त संसार में अनुभव की जा रही है। डॉ० राधाकृष्णन कहते हैं कि "भारत सहित सारे संसार के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा का संबंध नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति से न रह कर केवल मस्तिष्क के विकास से रह गया है।" भारतीय विचारकों में से महर्षि दयानन्द ने चरित्र के विकास पर बहुत बल दिया है। क्योंकि चारित्रिक गठन द्वारा ही व्यक्ति अपने संकल्पों को पूरा कर सकता है, धर्म का आचरण कर सकता है तथा अपनी प्राचीन सभ्यता व संस्कृति का आदर कर सकता है, व उसको सुरक्षित रख सकता है। स्वामी विवेकानन्द की ओजपूर्ण वाणी भी मनुष्य के चरित्र, मस्तिष्क व इच्छा शक्ति के विकास को प्रेरित करती है। वह समस्त अन्धविश्वासों, दरिद्रताओं तथा अशिक्षा को समाज से समाप्त करना चाहते हैं तथा आह्वान करते हैं कि कुछ दृढ़ चरित्र, व इच्छा शक्ति वाले व्यक्ति आगे आकर नेतृत्व ग्रहण करें तथा समाज में जागृति लाकर क्रान्ति उत्पन्न कर दें। मदन मोहन मालवीय भी विद्यालयों में ऐसे नागरिक तैयार करना चाहते हैं जो चरित्रवान हों तथा समाज के प्रत्येक क्षेत्र में तथा देश की प्रगति में अपना सक्रिय योगदान दे सकें। चाहे वह आर्थिक क्षेत्र हो अथवा राजनैतिक, प्रौद्योगिक हो अथवा कलात्मक वह प्रत्येक क्षेत्र में निपुण युवक तैयार करना चाहते हैं। महात्मा गांधी चारित्रिक विकास को सर्वोच्च उद्देश्य मानते हैं। उनका कथन है कि ज्ञान की उपयोगिता केवल

चरित्र-निर्माण के लिए होती है। वह लिखते हैं कि "समस्त ज्ञान का उद्देश्य चरित्र का निर्माण करना होना चाहिए। व्यक्तित्व की पवित्रता को समस्त चरित्र-निर्माण का आधार होना चाहिए। चरित्र के बिना शिक्षा और पवित्रता के बिना चरित्र व्यर्थ है। शंकराचार्य, रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविन्द, तथा विनोबा भावे ने इस उद्देश्य की स्पष्ट संस्तुति अपनी शैक्षिक विचारधारा में नहीं की है। डॉ० राधाकृष्णन चारित्रिक विकास को शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानते हैं तथा इसको आध्यात्मिकता का ही एक अंग स्वीकार करते हैं।

5. **शारीरिक विकास :** प्राचीन पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो तथा अरस्तु ने इस उद्देश्य को प्रमुख स्थान दिया है। प्रकृतिवादी दार्शनिक रूसो ने भी शारीरिक शक्ति को व्यक्ति के क्रियाशील व स्फूर्तिवान होने के लिए आवश्यक माना है। क्योंकि शक्ति और उत्साह ही जीवन की अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक होते हैं। भारतीय अद्वैतवादी दर्शन शरीर को समस्त सृष्टि के समान ही मायावी मानता है इसलिए उसकी सुरक्षा हेतु कोई सुझाव नहीं देता। इसलिए शंकराचार्य ने शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। महर्षि दयानन्द ने शारीरिक विकास को शिक्षा का उद्देश्य स्वीकार किया है। तथा शक्ति पाने के लिए विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य पालन को आवश्यक बताया है। स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा का केन्द्र बिन्दु मानव है इस कारण वह मानव के सर्वोन्मुखी विकास पर ध्यान देते हैं। वह स्त्रियों को भी सबल और सक्षम होने की शिक्षा प्रदान करते हैं। मदनमोहन मालवीय ने छात्रों की स्वास्थ्य रक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। वह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रावास में स्वयं जाकर छात्रों का निरीक्षण करते थे और उनको स्वस्थ रहने के लिए प्रेरणा देते थे। श्री अरविन्द ने आध्यात्मिकता को प्राप्त करने के लिए शारीरिक विकास को भी आवश्यक बताया तथा उसके लिए योग की क्रियाओं की शिक्षा प्रदान की। महात्मा गांधी ने शिक्षा के मुख्य उद्देश्यों में शारीरिक विकास को भी रखा तथा उसको प्राप्त करने के लिए शारीरिक श्रम के महत्त्व को समझाया और शिक्षा के क्षेत्र में कर्म प्रधान शिक्षा का सूत्रपात किया। डॉ० राधाकृष्णन ने भी विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन में शारीरिक विकास हेतु शिक्षा प्रदान करने का प्राविधान किया है। इस प्रकार लगभग समस्त शिक्षा दार्शनिक शारीरिक स्वास्थ्य बनाये रखने हेतु शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं। प्रकृतिवादी दार्शनिक जिनमें टैगोर का नाम लिया जा सकता है प्राकृतिक स्वतंत्रता प्रदान करके बालक के शरीर व मस्तिष्क दोनों को बलिष्ठ बनाना चाहते हैं।

6. **अन्तर्निहित शक्तियों का विकास :** बालक की मानसिक क्षमताओं के संबंध में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित हैं। प्राथमिक विचारधारा के

अनुसार बालक जन्म से ही सब शक्तियों से सम्पन्न होता है। शिक्षा का कार्य इन शक्तियों को जागृत और विकसित करने के लिए प्रेरणा प्रदान करना है। दूसरी विचारधारा वाले दार्शनिक मानते हैं कि बालक का मन एक खाली स्लेट के समान होता है और वह जीवन में दिन-प्रतिदिन के अनुमानों से ज्ञान प्राप्त करता है। इस विचारधारा के मुख्य दार्शनिक जान लॉक हैं। प्रथम विचार-धारा लगभग समस्त आदर्शवादी दार्शनिकों द्वारा स्वीकार की गयी है। भारतीय दार्शनिकों में स्वामी विवेकानन्द, गुरुदेव टैगोर, श्री अरविन्द, गांधी जी और विनोबा भावे इसी विचारधारा के प्रणेता हैं। उनके अनुसार शिक्षा का ध्येय व्यक्ति की शक्तियों व क्षमताओं का स्वाभाविक, प्रगतिशील तथा सामंजस्यपूर्ण विकास है। आधुनिक समय में शिक्षण की लगभग सभी मनोवैज्ञानिक प्रविधियाँ इसी विचारधारा के आधार पर विकसित हुई हैं जिनमें पेस्टालाजी, फ्राबेल व मॉन्टसरी की विधियाँ सर्वाधिक लोकप्रिय हुई हैं। भारतीय दार्शनिकों में शंकराचार्य व महर्षि दयानन्द इस विचारधारा के समर्थक नहीं हैं। यद्यपि उन्होंने वैयक्तिक विकास को ही प्राथमिकता दी है परन्तु वह एक निश्चित पाठ्यक्रम का ज्ञान विद्यार्थी को प्रदान करना चाहते हैं और बालक की रुचि व क्षमताओं की ओर ध्यान नहीं देते हैं।

7. **व्यावहारिक शिक्षा :** प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान करने पर ही केन्द्रित रही है। धीरे-धीरे समाज की जटिलता तथा वैज्ञानिक विकास के कारण और औद्योगीकरण व संस्कृतिकरण के परिणाम-स्वरूप जीवन में नवीन समस्याएँ उत्पन्न हुईं इसलिए शिक्षा के ध्येय में भी परिवर्तन होता गया। कुछ समय पश्चात् उपयोगी शिक्षा पर बल दिया जाने लगा जो मानव के जीवन स्तर को उच्च बनाने में सहायक हो सके। भारतीय शिक्षा दर्शन मुख्यतः आध्यात्मिक विचारधारा पर आधारित है। इस कारण कुछ ही विचारकों ने व्यावहारिक प्रशिक्षण की ओर ध्यान दिया। सर्वप्रथम हमको स्वामी विवेकानन्द के विचार देखने को मिलते हैं। इन्होंने देश में गरीबी, अंधविश्वास तथा अन्य सामाजिक व आर्थिक बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया और जनता को सही अर्थों में शिक्षित किया। इन्होंने ज्ञान मार्ग के साथ-साथ कर्मयोग का प्रशिक्षण दिया तथा उसको गाँव-गाँव की जनता में फैलाया। स्वामी विवेकानन्द के विचारों में अनौपचारिक शिक्षा की अवधारणा एक मौलिक विचार है जिसमें वह धार्मिक गुरुओं से गाँव-गाँव में जाकर ग्रामीणों को शिक्षित करने का आह्वान करते हैं। इसके द्वारा वह जनता के खोये आत्मबल को, जो कई वर्षों की परतन्त्रता के कारण विलीनप्राय हो गया था पुनः प्राप्त करने पर बल देते हैं। तथा वैज्ञानिक व औद्योगिक विकास हेतु भी जनता में जागृति उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण पश्चिमी सभ्यता अपना स्तर

ऊँचा उठाने में सक्षम हो सकी है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शान्ति निकेतन में मानव जीवन के समस्त पक्षों की उन्नति हेतु शिक्षा का आयोजन किया। उनकी शिक्षण पद्धति खेल द्वारा शिक्षा प्रदान करने के सिद्धान्त पर आधारित है जिसके द्वारा बालक कर्म करने की ओर उन्मुख होता है। अपनी व्यावहारिक शिक्षा के कार्यक्रम को प्रायोगिक रूप देने के लिए उन्होंने शान्ति निकेतन से कुछ दूर सुरुल में श्रीनिकेतन संस्था की स्थापना की जिसमें ग्रामीण पुनर्निर्माण के कार्यक्रम रखे गये। श्री एल० के० एलमिर्स्ट के नेतृत्व में इस संस्था ने कार्य करना प्रारंभ किया। यह मुख्यतः व्यावहारिक जीवन की समस्याओं के समाधान तथा स्वावलम्बन की शिक्षा हेतु स्थापित की गयी।

महात्मा गांधी की शिक्षा का अंतिम ध्येय सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् की अनुभूति ही है जो ब्रह्म की विशेषताएँ हैं लेकिन उन्होंने शिक्षा योजना में व्यावहारिक जीवन को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने सम्पूर्ण देश का भ्रमण करते समय देश की आर्थिक कठिनाइयों को समझा तथा जीविकोपार्जन की क्षमता प्रदान करने हेतु वर्धा शिक्षा योजना में शिल्प द्वारा शिक्षा के कार्यक्रम को अपनाया। वह वर्तमान अव्यावहारिक शिक्षा की आलोचना करते हैं जो 25 वर्षों की शिक्षा के पश्चात् भी व्यक्ति को स्वयं के तथा परिवार के भरण-पोषण के योग्य नहीं बना पाती है। इसीलिए उन्होंने उद्योग के माध्यम को अपनाया जिससे विद्यालय के लिए खर्च की जाने वाली धनराशि की बचत होगी तथा व्यक्ति भविष्य की चुनौतियों का मुकाबला भी कर सकेगा। विनोबा भावे की नई तालीम भी स्वालम्बन की शिक्षा पर बल देती है तथा व्यावहारिक कार्यों द्वारा शारीरिक व मानसिक श्रम को समान महत्त्व देते हुए युवकों को सृजनात्मक कार्यों को करने की प्रेरणा देती है। मदनमोहन मालवीय ने तात्कालिक उद्देश्यों को प्रभुसत्ता देते हुए बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में शिल्प, कृषि, औद्योगिक व तकनीकी विषयों की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध किया जिनसे देश व समाज का स्तर ऊँचा उठा है तथा देश को आत्म-निर्भर बनने में सहायता मिली है।

उपरोक्त दार्शनिकों के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दार्शनिक सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान करने पर ही बल देते हैं तथा जीवन की वर्तमान आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान नहीं देते।

8. **सांस्कृतिक विकास का उद्देश्य :** संस्कृति मानव-निर्मित पर्यावरण है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, प्रथा तथा अन्य योग्यताएँ और आदतें सम्मिलित होती हैं जिनको मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में प्राप्त करता है। सांस्कृतिक उद्देश्य का तात्पर्य अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखते हुए उनका प्रसार करना है। संस्कृति में वह सब अनुभव सम्मिलित होते हैं जो मानव ने

आदि काल से लेकर आज तक प्राप्त किये हैं। इनका ज्ञान प्रदान करने से मनुष्य का मस्तिष्क व हृदय दोनों प्रशिक्षित होते हैं। संस्कृति को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता है, प्रथम भौतिक संस्कृति तथा द्वितीय अभौतिक संस्कृति। भौतिक रूप में वह व्यक्तियों की रुचियों को उत्तम बनाती है तथा आर्थिक जीवन स्तर उच्च बनाने में सहायता करती है। आध्यात्मिक रूप में यह व्यक्ति का आंतरिक विकास करती है। भारतीय दार्शनिकों ने संस्कृति की शिक्षा पर बल दिया है किन्तु कुछ ने मात्र आध्यात्मिकता पर ही बल दिया है। जैसे कि शंकराचार्य केवल वैदिक ज्ञान ही प्रदान करना चाहते हैं परन्तु इसको हम संस्कृति के क्षेत्र में प्रामाणिक रूप से नहीं ला सकते हैं क्योंकि वेदों की रचना मानव द्वारा की गई है इसका कोई प्रमाण नहीं है। इनको दैवीय ग्रंथ माना गया है जो ईश्वरकृत है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती भी शंकराचार्य की कोटि में ही आते हैं क्योंकि उनकी सम्पूर्ण विचारधारा भी वेदान्त दर्शन पर ही आधारित है। स्वामी विवेकानन्द भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार की संस्कृति का प्रसार व प्रचार चाहते हैं। वह पाश्चात्य भौतिक उन्नति से प्रभावित हैं तथा विश्व की भौतिक संस्कृति का ज्ञान अपने देशवासियों को भी देना चाहते हैं। इस प्रकार उनकी विचारधारा विश्व की सम्पूर्ण संस्कृति का समागम चाहती है क्योंकि वह पूर्व की अभौतिक तथा पश्चिम की भौतिक संस्कृति को मिलाना चाहते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्व संस्कृति के उपासक हैं और सहयोगात्मक क्रियाओं द्वारा उच्च एकता का आदर्श स्थापित करना चाहते हैं। इसलिए सम्पूर्ण विश्व से समन्वय स्थापित करने की शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं। उनका मुख्य झुकाव आध्यात्मिक संस्कृति के प्रसार की ओर है। मदनमोहन मालवीय भारतीयता के पुजारी हैं। वह देश में भौतिक उन्नति भी चाहते हैं इसलिए अपने शिक्षण संस्थान में मानवीय विषयों के साथ-साथ वैज्ञानिक विषय भी रखते हैं। वह विशेष रूप से भारतीय संस्कृति के संरक्षण व हस्तांतरण का बीड़ा उठाते हैं। श्री अरविन्द की शिक्षा दिव्य पूर्णता की प्राप्ति हेतु है इसलिए उसमें भौतिकता के लिए अधिक स्थान नहीं है। वह अभौतिक संस्कृति की ही सुरक्षा व प्रसार करते हैं तथा उच्च मानवीय मूल्यों की प्राप्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। डॉ० राधाकृष्णन के विचार भी लगभग इसी प्रकार के हैं। वह भी सम्पूर्ण विश्व को सभ्यता व संस्कृति की शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं और ब्रह्माण्ड का एकीकृत रूप मानव के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। भौतिक संस्कृति की ओर उनका झुकाव कम है। महात्मा गांधी तथा विनोबा भावे उच्च आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति पर बल देते हैं लेकिन आर्थिक पहलू को भी नकारते नहीं हैं। इस प्रकार दोनों ही संस्कृतियों को

महत्त्व देते हैं लेकिन इनका रुझान भी आध्यात्मिक संस्कृति की ओर ही अधिक है।

उपरोक्त उद्देश्यों पर सभी देशों में विभिन्न कालों में विचार किया जाता रहा है। सामान्यतः उद्देश्य निर्धारण करने से पूर्व एक प्रश्न विचारक के समक्ष उपस्थित होता है कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति का व्यक्तिशः विकास करना है या समाज का विकास अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस निर्णय को उस काल की सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक विचारधाराएँ प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ साम्यवादी समाजों तथा अधिनायकत्व वाले देशों में समाज या राज्य का हित सर्वोपरि होता है। इस कारण शिक्षा का केन्द्र व्यक्ति के स्थान पर समाज या राज्य हो जाता है और व्यक्ति को इनके हित के लिए अपना बलिदान करने को तत्पर किया जाता है। भारतीय विचारधारा का प्रारंभ बिन्दु अध्यात्मवाद है, इस कारण व्यक्ति ही इसका केन्द्र रहा है। धीरे-धीरे यह अनुभव किया गया कि व्यक्ति का विकास उसके सामाजिक परिवेश में ही सर्वोत्तम रूप में हो सकता है। इसलिए सामाजिक व्यवस्था भी सर्वोत्तम होनी चाहिए। समाज की इकाई व्यक्ति है इसलिए व्यक्ति में सामाजिक गुण होने चाहिएँ जिससे वह समाज की मान्यताओं, परंपराओं, रीति-रिवाजों तथा कानूनों आदि का पालन कर सके तथा उसमें आश्यकतानुसार परिवर्तन व संशोधन भी कर सके। इसलिए कुछ सामाजिक दायित्वों की अपेक्षा व्यक्ति में की जाती है तथा यह प्रयास किया जाता है कि उसके व्यक्तित्व का विकास सामाजिक परिवेश में हो जिससे उसमें स्वयमेव ही सहयोग, प्रेम, सद्भावना, त्याग, सहिष्णुता आदि भावनायें पनप सकें। भारतीय विचारकों में शंकराचार्य के सिद्धान्त मुख्यतः व्यक्तिवादी हैं। अन्य सभी विचारकों ने वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों सिद्धान्तों की आधारशिला पर अपना शैक्षिक ढाँचा निर्मित किया है। महर्षि दयानन्द तथा स्वामी विवेकानन्द ने समाज सुधार के क्रांतिकारी विचारों द्वारा सामाजिक अन्धविश्वासों व रूढ़ियों पर विजय पाने का प्रयास किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर अपने 'विश्व भारती' में सहयोगात्मक क्रियाओं द्वारा सामाजिक प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। श्री अरविन्द राष्ट्रीयता के कट्टर पोषक हैं। इसी प्रकार महात्मा गांधी, डॉ० राधाकृष्णन तथा विनोबा भावे आदि सभी विचारक वैयक्तिक व सामाजिक दोनों उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहते हैं जोकि आधुनिक लोकतांत्रिक भारत की आवश्यकता है।

शिक्षा का पाठ्यक्रम

शंकराचार्य

शंकराचार्य के दर्शन की दृष्टि से पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें इन तीनों सत्ताओं से सम्बद्ध विषय सम्मिलित हों। उनके मत में जो प्रातिभासिक सत्ता है उसका अध्ययन हम मनोविज्ञान में कर सकते हैं जो भ्रम, मतिभ्रम और स्वप्न का विश्लेषण करता है। शंकराचार्य ने प्रत्यक्ष सांसारिक सत्ता को भी त्यागा नहीं है। यह समस्त दृश्य संसार हमारी इन्द्रियों के लिए अवश्य सत्य है। जब तक आत्म साक्षात्कार न हो जाय तब तक व्यावहारिक दृष्टि-कोण रखना ही उचित है। इसलिए व्यावहारिक विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसी प्रकार पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और पाँचों कर्मेन्द्रियों को भी व्यावहारिक जीवन हेतु प्रशिक्षित किया जाना चाहिए जिससे सत्य संवेदन मस्तिष्क तक पहुँच सके और कर्मेन्द्रियाँ सक्षमता से कार्य कर सकें। किन्तु सामाजिक विषयों की शिक्षा ही अंतिम शिक्षा नहीं है। छात्रों के पूर्ण विकास के लिए उन्हें परमार्थिक सत्ता से परिचित करना आवश्यक है। शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म साक्षात्कार केवल मानसिक परिकल्पना नहीं है वह ब्रह्म का सर्वाधिक निश्चित और व्यवहृत ज्ञान है। इसके लिए स्वार्थपरता, विचारों की संकीर्णता तथा राग द्वेष पूर्णतः समाप्त हो जाने चाहिए। व्यक्ति संसार में रहते हुए भी संसार का होकर न रहे अर्थात् सांसारिक बन्धनों में न पड़े। परमार्थिक सत्ता से परिचय कराने के लिए छात्रों की रुचियों का ध्यान रखना आवश्यक है। सभी छात्रों में ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने की रुचि होना संभव नहीं है, अतः अनेकानेक विषयों का पाठ्यक्रम में समावेश हो जिससे छात्र अनुकूल विषयों का चुनाव कर सके। पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषयों पर विशेष ध्यान रखा जाएगा :—

1. जीव : शंकराचार्य के अनुसार कर्मफल का भोक्ता जीव है। उसकी ज्ञान व शक्ति सीमित होती है। यद्यपि तत्त्वतः जीव ईश्वर से भिन्न नहीं है किन्तु अज्ञान के कारण वह स्वयं को मरणशील, भयग्रस्त, कर्त्ता व भोक्ता आदि मानते हैं। आत्मा ही जीव है और यह इन्द्रिय समूह का अध्यक्ष है तथा कर्मफल का भोग करने वाला है। यह एक चेतन तत्त्व है और हमारे सभी अनुभवों का आधार है। पाठ्यक्रम में उन विषयों का समावेश हो जो जीव के स्वरूप से छात्रों को परिचित कराये। मनोविज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि विषय इसमें सहायक होते हैं।

2. जगत : हमारे समक्ष दृश्य जगत उपस्थित है। शंकराचार्य ईश्वर को इसका निमित्त व उपादान कारण दोनों मानते हैं। क्योंकि संसार की अन्य

सब वस्तुएँ— इसी उपादान कारण का कार्य है, और जो स्वयं कार्य है वह अंतिम कारण नहीं हो सकता। अंतिम कारण को किसी अन्य कारण का कार्य नहीं होना चाहिए। उनके मतानुसार इस महान, विचित्र संसार का कारण बुद्धिमान और शक्तिशाली दोनों होना चाहिए, वह ईश्वर ही हो सकता है। आधुनिक विज्ञान कहता है कि जो वस्तु जैसी दिखाई पड़ती है अन्ततोगत्वा वह वैसी ही नहीं है। नव्य वास्तववादी और आलोचनात्मक वास्तववादियों में इसी बात पर मतभेद है। भौतिकी इस जगत को अणुओं का संयोग कहती है। ऊर्जा का यह प्रकाश है। जीवविज्ञानी जीन्स पर बल देते हैं। जगत के स्वरूप को समझने के लिए इन सब विषयों का ज्ञान आवश्यक है। और अन्ततोगत्वा इस जगत के मिथ्यात्व का ज्ञान भी होना चाहिए। इस जगत के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उन्होंने तीन प्रमाणों को उचित माना है जो निम्न हैं :—

(क) **प्रत्यक्ष प्रमाण** : प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो इन्द्रियों और वस्तु के संसर्ग से होता है। इन्द्रियों में ऐसी शक्ति होती है जिससे वे विभिन्न विषयों को अभिव्यक्त कर लेती हैं। मन भी प्रत्यक्षीकरण का ही साधन है।

(ख) **अनुमान प्रमाण** : अनुमान प्रत्यक्ष ज्ञान के स्थान पर किसी चिह्न या माध्यम द्वारा किसी वस्तु के कुछ लक्षण निश्चित करने की प्रक्रिया है। शंकराचार्य ने अनुमान को वैध ज्ञान का साधन माना है। यह आत्मज्ञान या ब्रह्म ज्ञान के लिये भी मूल्यवान साधन है। परन्तु अनुमान वहाँ पर ज्ञान का साधन नहीं रहता जहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान का व्याघाती हो।

(ग) **शब्द या आगम प्रमाण** : जो घटनायें और वस्तुयें अतीत में सदा के लिये लीन हो गई हैं उनके लिये पूर्वकाल के विद्वानों पर विश्वास करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई साधन नहीं है। ब्रह्म परम्परागत वैदिक गुरुओं की शिक्षा में ही जाना जाता है। शंकराचार्य ने श्रुतियों की प्रामाणिकता केवल इन्द्रियातीत विषयों के लिये ही मानी है। इन्द्रियानुभविक वस्तुओं के लिये उन्होंने इनकी उपेक्षा की है। शंकराचार्य ने अन्य प्रमाणों की अपेक्षाकृत वैदिक श्रुतियों की प्रामाणिकता को अधिक महत्त्व दिया है। कभी-कभी हमारी इन्द्रियों में किसी प्रकार की त्रुटि होने के कारण हमारा ज्ञान त्रुटिपूर्ण हो जाता है। इसलिए इन्द्रियों की सहायता के बिना प्राप्त होने वाला साक्षात अनुभव अवश्य ही अधिक विश्वसनीय होना चाहिए।

3. **ब्रह्म** : शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म का साक्षात्कार अपनी वास्तविक आत्मा के साक्षात्कार में ही हो सकता है। वह आत्मा को भी असीम मानते हैं क्योंकि यदि आत्मा ससीम होती तो वह ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकती थी क्योंकि ससीम असीमता का अनुभव करने में असमर्थ है। कभी-

कभी आत्मा और ब्रह्म में तात्विक भेद बताया जाता है जैसे एक ससीम, सविकार और जन्मान्तर ग्रहण करने वाला है दूसरा नहीं। शंकराचार्य ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है कि उन्हें इसी भाव से समझना चाहिए जैसे विष्णु का तादात्म्य उसकी मूर्ति से किया जाता है। ज्ञान होने से पूर्व जीव पुनरावर्ती स्थिति में रहता है और ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षण और कर्म आदि करने में कोई बाधा नहीं है। अतः हमें ब्रह्म का ध्यान अपनी आत्मा के रूप में करना चाहिए। आत्मा की वास्तविक या तत्वमीमांसीय प्रकृति ब्रह्म से तादात्म्य रखती है। इसका इन्द्रियानुभविक रूप नहीं। आत्म साक्षात्कार हेतु शंकराचार्य ने कुछ साधन बताये हैं जैसे— श्रवण, मनन, तथा शास्त्रों का स्वाध्याय। इनको पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिए।

4. **पुरुषार्थ :** शंकराचार्य ने धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष चार पुरुषार्थों को माना है तथा इनको उच्च प्राथमिकता दी है। अन्य मूल्य इनकी तुलना में निम्न स्तर के हैं परन्तु व्यर्थ नहीं हैं। इन सबको उन्होंने अभ्युदय कहा है। अभ्युदय को मानव जीवन का चरम लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता। यह निश्चय ही क्षणिक है।

5. **वर्णाश्रम धर्म :** वर्ण व आश्रम दोनों व्यवस्थाएँ शंकराचार्य को मान्य थीं। किन्तु जहाँ तक ब्रह्म ज्ञान का प्रश्न है, उन्होंने उसे किसी विशेष वर्ण या आश्रम में सीमित नहीं रखा है। उनका सत्य का मन्दिर सबके लिए खुला है। दिव्य अनुभूति सबके लिए सर्वत्र संभव है। जिसको अपने आत्म साक्षात्कार की सच्ची चाह है वह उसे प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता इसी बात की है कि वह अपने को इस योग्य बनाये, और उनके विचार से कोई भी व्यक्ति जीवन के किसी भी क्षेत्र या स्तर में रखते हुए यह कर सकता है। उनका विचार है कि वर्णाश्रम धर्म वस्तुतः ब्रह्म या विश्वात्मा के दर्शन या ज्ञान प्राप्त करने में सहायक ही सिद्ध होगा। अपने वर्ण और आश्रम में विहित कर्त्तव्यों का पालन करने से नैतिक शक्ति अर्जित होती है। स्वभाव से नियत कर्मों को करने से मनुष्य को पाप नहीं लगता है इसलिए किसी व्यक्ति को अपने सहज कर्मों को त्यागने का विचार नहीं करना चाहिए, भले ही वे हीन प्रकार के प्रतीत होते हों। जीवन में अपना स्थान समझते हुए मनोयोग में अपना धर्म पालन करने से जीवन में सर्वाधिक सफलता प्राप्त होती है।[1]

ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य में भी आश्रम कर्म को विधा का साधन रूप माना है—

'विहितत्वायाश्रमकर्मापि' ॥ 32 ॥

---

1. डॉ० रामस्वरूप सिंह नौलखा— 'आचार्य शंकर ब्रह्मवाद', किताबघर, आचार्य नगर, कानपुर, 1974, पृ० 217

'सर्वपेक्षा च' इस सूत्र में आश्रम कर्म विधा के प्रति साधन रूप से निश्चित किये गये हैं। जब आश्रम मात्र निष्ठ विधा की कामना न करने वाले अमुमुक्षु को वे आश्रम कर्म अनुष्ठेय है अथवा नहीं? यह विचार किया जाता है। पूर्वपक्षी— ऐसा सन्देह होने पर 'तमेतं वेदानुष्कौनः (उस उपनिषद् गम्य पुरुष को ब्राह्मण वेद के नित्य स्वाध्याय से जानने की इच्छा करे) इत्यादि श्रुति से आश्रम कर्म विधा के सात्त रूप में विहित है, अतः विधा की इच्छा न करने वाले और अन्य फल की कामना करने वाले को नित्य कर्म अनुष्ठेय नहीं है। यदि उसके लिये भी नित्य कर्म अनुष्ठेय हों, तो विधा के साधन नहीं होंगे, क्योंकि नित्य और अनित्य के संयोग का विरोध है।'[1]

महर्षि दयानन्द सरस्वती

वैदिक शिक्षा की रूपरेखा से संबंधित समस्त विचारधारा की विस्तृत व्याख्या उनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में देखने को मिलती है। शिक्षा का प्रारम्भ वह जन्म से भी पूर्व ही मानते हैं। वह कहते हैं कि माता का चरित्र बालक पर गर्भावस्था से ही प्रभाव डालता है। सर्वप्रथम माता-पिता का कार्य है कि वह बच्चे की सही देखभाल करें तथा उसको शिक्षित करें। वह लिखते हैं कि माता-पिता अपने बच्चों को यथासम्भव ऊँची शिक्षा दें, उनको सत्य मार्ग की ओर आकृष्ट करें, उन्हें चरित्रवान् बनायें, अच्छी आदतें सिखायें। संक्षेप में अपनी समस्त शारीरिक, मानसिक और आर्थिक शक्ति का प्रयोग बच्चों को सुशिक्षित व सभ्य बनाने में करें। यह उनका सर्वोपरि कर्त्तव्य है, यही सबसे बड़ा गुण है और यही उनका गौरव है।[2]

महर्षि के अनुसार 8 वर्ष की आयु में बच्चों को ऐसे स्कूल में भरती करायें जहाँ गुणी अध्यापक हों तथा वह नैतिकता और संयम वाले हों। उन्होंने बालकों द्वारा ब्रह्मचर्य पालन पर बहुत जोर दिया और शिक्षा का प्रारंभिक कार्यक्रम इस प्रकार बताया :—

1. प्रथम उपनयन संस्कार घर में हो और दूसरा विद्यालय में हो। गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाय।
2. मंत्र सीखने के बाद सन्ध्योपासना की विधि समस्त क्रियाओं सहित जैसे स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि बतायें। लड़के व लड़कियाँ दोनों प्राणायाम सीखें।

---

1. शंकराचार्य— 'ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य', स्वामी सत्यानन्द सरस्वती विरचित भाषानुवाद, वाराणसी, सम्वत् 2028, पृष्ठ 772

2. महर्षि दयानन्द सरस्वती— सत्यार्थ प्रकाश, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, विक्रम 2026, पृष्ठ 34

3. प्रतिदिन देव यज्ञ करें।
4. मनुस्मृति के अध्याय तीन में वर्णित विचार के समान वह चाहते हैं कि बच्चे ब्रह्मचर्य का पालन करें व वेदों तथा सहायक विषयों का अध्ययन तब तक करें जब तक कि उनको वेदों का पूर्ण ज्ञान न हो जाय।
5. सत्य व धर्म के ज्ञान के लिए विलासप्रियता से दूर रहें।

विधिवत् पाठ्यक्रम का विवरण महर्षि दयानन्द के शब्दों में निम्न प्रकार से है जो सत्यार्थ प्रकाश से उद्धृत है :—

1. पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोकों के बीच में अखिल शब्द अर्थ और संबंधों की व्याख्या प्रतिपादित कर दी है। धातुपाठ के पश्चात् उणादिगण पढ़ाने में सर्व सुबन्त का विषय अच्छी तरह पढ़ा कर पुनः दूसरी बार शंका समाधान, वार्तिककारिका, परिभाषा की घटनापूर्वक अष्टाध्यायी की द्वितीयानुवृत्ति पढ़ायें।
2. तदन्तर महाभाष्य पढ़ायें। अर्थात् जो बुद्धिमान पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहने वाले नित्य पढ़ें पढ़ायें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़कर तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों को व्याकरण से, पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़ पढ़ा सकते हैं।
3. व्याकरण को पढ़कर यास्क मुनिकृत निघण्टु और निरुक्त छः या आठ महीने में सार्थक पढ़े व पढ़ावें। अन्य नास्तिककृत अमरकोषादि में अनेक वर्ष व्यर्थ न खोवें।
4. तदन्तर पिंगलाचार्य कृत छन्दोग्रन्थ जिससे वैदिक, लौकिक छन्दों का परिज्ञान, नवीन रचना और श्लोक बनाने की रीति भी यथावत् सीखें। इस ग्रंथ और श्लोकों की रचना तथा प्रस्तार को चार महीने में सीखकर पढ़-पढ़ा सकते हैं और वृत्तरत्नाकर आदि अल्पबुद्धि प्रकल्पित ग्रंथों में अनेक वर्ष न खोवें।
5. तत्पश्चात् मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण और महाभारत के उद्योग पर्वान्तिर्गत विदुरनीति आदि अच्छे-अच्छे प्रकरण जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों और उत्तमता सभ्यता प्राप्त हो वैसे को काव्य रीति से अर्थात् पदच्छेद, पदार्थोचित, अन्वय, विशेषण और भावार्थ को अध्यापक लोग बतायें। उसको एक वर्ष में पढ़ लें।
6. तदन्तर पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त अर्थात् जहाँ तक बन सके वहाँ तक कवि कृत व्याख्या सहित अथवा उत्तम विद्वानों की सरल व्याख्या युक्त छः शास्त्रों को पढ़े पढ़ावें

परन्तु वेदान्त सूत्रों को पढ़ने से पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, ऐतरेय, तैत्तिरेय और बृहदारण्यक इन दस उपनिषदों को पढ़कर छः शास्त्रों के भाष्य वृत्ति सहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ायें और पढ़ लेवें।

7. तत्पश्चात्— छः वर्षों के भीतर चारों ब्राह्मण अर्थात् ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मणों के सहित चारों वेदों के स्वर, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा क्रिया सहित पढ़ना योग्य है।

8. इस प्रकार सब वेदों को पढ़कर आयुर्वेद अर्थात् जो चरक, सुश्रुत आदि ऋषि मुनि प्रणीत वैद्यक शास्त्र हैं उसको अर्थ, क्रिया, शस्त्र-छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तु के गुण ज्ञानपूर्वक चार वर्ष के भीतर पढ़ें व पढ़ावें।

9. तदन्तर धनुर्वेद अर्थात् जो राजा संबंधी काम करना है। इसके दो भेद, एक निज राजपुरुष संबंधी और दूसरा प्रजातंत्र संबंधी होता है। राज कार्य में सब सेना के अध्यक्ष, शस्त्रास्त्र विद्या, नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास अर्थात् जिसको आजकल कवायद कहते हैं जोकि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है उनको यथावत् सीखें और जो-जो प्रजा के पालने और वृद्धि करने के प्रकार हैं, उनको सीखकर न्यायपूर्वक सब प्रजा को प्रसन्न रखें, दुष्टों को यथायोग्य दण्ड, श्रेष्ठों के पालन का प्रकार सब प्रकार सीख लें।

10. इस राजविद्या को दो वर्ष में सीखकर गन्धर्ववेद की जिसको गान विद्या कहते हैं उसको सीखें परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान, वादित्रवादन पूर्वक सीखें और नारद संहिता आदि जो आर्ष ग्रन्थ हैं उनको पढ़ें।

11. अथर्ववेद कि जिसको शिल्प विद्या कहते हैं, उसको पदार्थ, गुण, विज्ञान, क्रिया कौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त की विद्या को सीखकर अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है उस विद्या को सीखकर दो वर्ष में ज्योतिष शास्त्र, सूर्यसिद्धान्तादि जिसमें बीजगणित अंक, भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्या है, उसको यथावत् सीखें।

12. तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्त क्रिया, यंत्रकला आदि को सीखें, परन्तु जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं उनको झूठ समझकर कभी न पढ़ें और पढ़ावें।

ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ाने वाले करें कि जिससे बीस या इक्कीस वर्ष में समग्र विद्या उत्तम शिक्षा प्राप्त होकर मनुष्य लोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहें। जितनी विद्या इस रीति से 20 या 21 वर्ष में हो सकती है उतनी अन्य प्रकार से शतवर्ष में भी नहीं हो सकती।[1]

महर्षि दयानन्द के अनुसार विद्यार्थी प्रामाणिक ज्ञान ही प्राप्त करें। कोई तथ्य सत्य है या असत्य इसकी पूर्व परीक्षा होनी चाहिए। यह परीक्षा 5 प्रकार से की जाय :—

1. वेद और ईश्वर के स्वरूप द्वारा— वेदों की शिक्षा में जो कुछ भी पाया जाता है, प्रकृति और ईश्वर के गुण आदि सभी सत्य हैं। इसके विपरीत जो भी है वह झूठ है।
2. प्रकृति के नियमों द्वारा— जो प्रकृति के नियमों के अनुकूल है वही सत्य है।
3. विद्वानों और चरित्रवान व्यक्तियों के आचरण और शिक्षाओं द्वारा।
4. अपनी आत्मा और पवित्रता के इस विश्वास के द्वारा कि जो तुम्हारे लिए भला है वह जग के लिए भला है और जो तुम्हारे लिए कष्टदायक है वह अन्य लोगों के लिए भी कष्टदायक है। व्यक्ति के आचरण का उसी सिद्धान्त द्वारा नियन्त्रण होना चाहिए।
5. आठ प्रकार के प्रमाण जैसे— 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. साहृश्य, 4. साक्ष्य, 5. इतिहास, 6. निगमन, 7. सम्भावना, 8. प्रत्याख्यान।

महर्षि दयानन्द संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का दृढ़ विचार रखते थे और भारतवासियों की राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' बनाने का विचार सर्वप्रथम उन्हीं के मस्तिष्क में आया। वह कहते हैं कि मेरे नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक, अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का ही प्रचार होगा। मैंने आर्यावर्त भर में भाषा का ऐक्य संपादन करने के लिए ही अपने सकल ग्रंथ आर्य भाषा में लिखे, और इसी उद्देश्य से भारत के प्रत्येक बच्चे को प्रान्तीय भाषा के अक्षरों के साथ-साथ देवनागरी अक्षरों का अभ्यास आवश्यक बताया है। मैंने आर्य समाज में हर एक सदस्य के लिए आर्य भाषा का ज्ञान आवश्यक ठहराया है। पाठशालाओं में

1. महर्षि दयानन्द सरस्वती— 'सत्यार्थ प्रकाश', आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, विक्रम 2026, पृ० 88–92

शिक्षा का माध्यम आर्य भाषा ही रखा है।[1]

महर्षि दयानन्द ने अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा और भारतीय भाषाओं की लिपियों का एकीकरण करने के उद्देश्य से सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय व तृतीय सम्मुलासों में निम्नलिखित बातों पर बल दिया है :—

1. सब लड़के और लड़कियों की शिक्षा गुरुकुलों में निःशुल्क व अनिवार्य होनी चाहिए। इस विषय में राज-नियम और जाति-नियम होने चाहिएँ।
2. बच्चों को देवनागरी अक्षरों और अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी अभ्यास कराना चाहिए।
3. बच्चों को नैतिक व धार्मिक शिक्षा दी जाय और संस्कृत पढ़ाई जाय। उन्हें विज्ञान और कला-कौशल की शिक्षा भी दी जाय।
4. लड़के और लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध अलग-अलग होना चाहिए।
5. धनी व गरीब बच्चों में समानता का भाव उत्पन्न करने के लिए उन्हें खान-पान आदि की समान सुविधाएँ मिलनी चाहिए। विद्यार्थियों को सरल व तपस्वी होना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द के भाषणों को यदि पाठ्यक्रम की दृष्टि से देखें तो कुछ बातें स्फुट विचारों के रूप में मिल जाती हैं जैसे कि उनका विचार है कि हमारा पाठ्यक्रम ऐसा हो जिसमें निषेधात्मक शिक्षा न हो। हमें छात्रों के समक्ष विधायक या भावात्मक विचार रखना चाहिए, न कि अभावात्मक या निषेधात्मक। देश को सशक्त बनाने के लिए जिन-जिन विषयों को पढ़ाने की आवश्यकता हो वे विषय अवश्य पढ़ाये जाएँ। वेदों का अध्ययन आवश्यक है और उदाग्र वेद मंत्रों की मेघगर्जना द्वारा भारत में प्राण का संचार करना है। छात्रों को श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, महावीर, हनुमान आदि के जीवन चरित्र का अध्ययन करना चाहिए। ऐसी बातें पढ़ाई जानी चाहिए जिनसे छात्रों में प्रबल शक्ति का संचार हो। मुरलीधर कृष्ण की अपेक्षा गीता रूपी सिंहनाद करने वाले श्रीकृष्ण की उपासना करनी है साथ ही संगीत भी सीखना है किन्तु वंशीनाद, खेल और करताल से देश का कल्याण नहीं होगा अतः नगाड़े, बिगुल

---

1. यदुवंश सहाय— महर्षि दयानन्द, ला० मा० प्रकाशन, इलाहाबाद 1971, पृ० 272

आदि ओजस्वी वाद्यों को बजाना है। कोमल संगीत को कुछ दिनों के लिए बन्द करके ध्रुपद की शिक्षा देनी है।

स्वामी विवेकानन्द का विचार है कि धार्मिक शिक्षा भी देनी चाहिए किन्तु वह आडम्बर से पूर्ण नहीं होनी चाहिए। मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि को वह दिखावा समझते थे। वह कहते हैं कि धर्म का क्रियात्मक अनुभव होना चाहिए। हम सारे जीवन विचार-विमर्श करते रह सकते हैं लेकिन हम सत्य का एक अक्षर ज्ञान भी नहीं प्राप्त कर सकते जब तक कि हम उसे स्वयं अपने जीवन में अनुभव न करें। आप किसी भी व्यक्ति को कुछ पुस्तकें देकर शल्य चिकित्सक नहीं बना सकते। आप विभिन्न देशों को कुछ देखने की मेरी इच्छा केवल मुझे मानचित्रों को दिखाकर पूरी नहीं कर सकते, मुझे वास्तविक अनुभव होना चाहिए। मानचित्रों के माध्यम से पूर्णता प्राप्त करने की जिज्ञासा और भी बलवती होगी, उसके आगमन चित्रों का कुछ भी मूल्य नहीं। किताबों से चिपकने से मनुष्य के मस्तिष्क का ह्रास ही होगा। वह पूछते हैं कि क्या इससे भी अधिक बुरी ईश्वर की निन्दा और भी कुछ हो सकती है कि समस्त ईश्वरीय ज्ञान अमुक पुस्तक में सीमित है? मनुष्य यह कैसे दुस्साहस करता है कि एक ओर तो वह ईश्वर को अनन्त कहता है और दूसरी ओर उसे एक पुस्तक से सीमित करने का प्रयास करता है।[1]

स्वामी विवेकानन्द चाहते हैं कि पाठ्यक्रम में सत्य का समावेश होना चाहिए। सत्य ही आत्मा का स्वभाव है। शरीर, बुद्धि और आत्मा को कमजोर बनाने वाला तथ्य सत्य नहीं होता। सत्य में जीवन शक्ति होती है, वह बलप्रद, पवित्र और ज्ञानस्वरूप होता है। वह शक्ति देता है, हृदय के अन्धकार को दूर करता है, स्फूर्ति देता है, प्रकाश देता है। उपनिषदों का अध्ययन भी इसीलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनमें सत्य की स्थापना हुई है। स्वामी जी चाहते हैं कि भारत का दिव्य दर्शन फिर से पढ़ाया जाना चाहिए। यह दर्शन बलप्रद, आलोकप्रद और सत्य को प्रकाशित करने वाला है। आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता पूर्व व पश्चिम दोनों को है। वह कोलम्बो में अपना भाषण देते हुए कहते हैं कि पश्चिमी राष्ट्रों में भी धीरे-धीरे इस बात की चेतना हो रही है कि स्वयं को जीवित रखने के लिये आध्यात्मिकता की आवश्यकता है। वे आध्यात्मिकता का इन्तजार कर रहे हैं और उसे पाने के लिये व्यग्र हैं। आज ऐसे त्यागी और वीर व्यक्तियों की संसार को आवश्यकता है जो विदेश जाये और वेदान्तिक सत्यों को लोगों को बतायें।

1. The Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. I, Advaita Ashram, Almora, 1947, p. 165

स्वामी विवेकानन्द वेदान्त और विज्ञान में कोई द्वेष नहीं मानते हैं क्योंकि दोनों का ही लक्ष्य इस ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त करना है। वह कहते हैं कि जब विज्ञान का अध्यापक यह कहता है कि समस्त वस्तुएँ एक ही शक्ति की द्योतक हैं तो उसका तात्पर्य उस ईश्वर के कितना निकट है जिसके विषय में उपनिषदों ने व्याख्या की है। जिस प्रकार एक अग्नि विश्व में अनेक रूपों में पायी जाती है इसी प्रकार एक आत्मा ही अनेक आत्माओं के रूप में प्रकट होती है।[1]

एक ओर स्वामी विवेकानन्द पश्चिमी देशों को आध्यात्मिकता की शिक्षा देना चाहते हैं तो दूसरी ओर वह पश्चिम की कर्त्तव्यनिष्ठा, अटूट आत्मविश्वास, वैज्ञानिक ज्ञान आदि गुणों को पूर्व के देशों को देना चाहते हैं। जब एक प्रश्न-कर्ता उनसे पूछता है कि क्या आप समझते हैं कि हिन्दू समाज यूरोपीय सामाजिक नियमों को सफलतापूर्वक अपना सकता है। तब वह उसका समर्थन करते हैं और कहते हैं कि उदाहरण के लिए आपके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि अपनी शक्ति को व्यर्थ नष्ट करने और अक्सर निरर्थक बातें बनाने के स्थान पर आप अंग्रेजों से नेताओं की आज्ञा का तुरन्त पालन, ईर्ष्याहीनता, अथक लगन और अटूट आत्मविश्वास की शिक्षा प्राप्त करें। जब वह किसी काम के लिए एक नेता को चुन लेते हैं तब हार-जीत में सदा उसका साथ देते हैं और उसकी आज्ञा पालन करते हैं। यहाँ भारत में प्रत्येक नेता बनना चाहता है, आज्ञा पालन करने वाला कोई भी नहीं है, आज्ञा देने की क्षमता प्राप्त करने से पहले प्रत्येक व्यक्ति को आज्ञा पालन करना सीखना चाहिये। हमारी ईर्ष्या का कहीं अन्त नहीं है और जो हिन्दू जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है वह उतना ही अधिक ईर्ष्यालु है। जब तक हिन्दू ईर्ष्या से बचना और नेताओं की आज्ञा का पालन करना नहीं सीखता उसमें संगठन की क्षमता नहीं आयेगी।[2]

स्वामी विवेकानन्द तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था की आलोचना करते हैं क्योंकि वह जनता में वैज्ञानिकता का विकास करने में असमर्थ है। वह युवकों को वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं जिससे औद्योगिक व कृषि क्षेत्रों में वैज्ञानिक यंत्रों का प्रयोग करके उत्पादकता को बढ़ाया जा सके और देश अपने ही साधनों के प्रयोग द्वारा आत्मनिर्भर बन सके। वह लिखते हैं कि हमें अपने देश की सम्पूर्ण शिक्षा को आध्यात्मिक और लौकिक बनाना चाहिये और यह

1. K. C. Vyas— The Social Renaissance in India, Vora and Co. Publishing Private Ltd. Bombay, 19⁵7, p. 107

2. The Complete Works of Swami Vivekanand, Vol. II, Advaita Ashram, Almora, 1947, p. 140

3. भास्करेश्वरानन्द— विवेकानन्द संचयन, जन्मशती प्रकाशन, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर 1964, पृ० 301

कार्य हमें अपने हाथों से राष्ट्रीय हित में तथा राष्ट्रीय साधनों का उपयोग करते हुए करना चाहिए और साथ ही उसको व्यावहारिक बनाना चाहिए।[1]

उनके विचारों में शारीरिक प्रशिक्षण का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह कहते हैं कि शारीरिक दुर्बलता हमारे दुखों का महत्त्वपूर्ण कारण है। इससे हम आलसी बन जाते हैं, मिलकर काम नहीं कर सकते, आचरण में प्रत्येक विचार को उतार नहीं पाते। अतः खेलकूद की आयोजना शिक्षा में होना अनिवार्य है। स्वामी जी योग की शिक्षा भी प्रदान करना चाहते हैं। वह कहते हैं कि कुछ विद्वानों के मत से अन्तः प्रकृति को वशीभूत करने पर सब कुछ वशीभूत हो जाता है जबकि दूसरों के मत से, बाह्य प्रकृति को वशीभूत करने पर सब कुछ वश में आ जाता है। इन दो सिद्धान्तों के चरम भावों को देखने पर यह प्रतीत होता है कि दोनों ही सिद्धान्त सही हैं, क्योंकि यथार्थतः प्रकृति में बाह्य और अभ्यन्तर जैसा कोई भेद नहीं है। यह केवल काल्पनिक विभाग है। समस्त योग प्रणालियों में से जो कुछ गुह्य या रहस्यात्मक है, सब छोड़ देना चाहिए और जिससे बल मिलता हो, उसी का अनुसरण करना चाहिए। इसी प्रकार धार्मिक विषयों के चयन का मापदण्ड भी इसी प्रकार से है कि जो तुमको दुर्बल बनाता है वह समूल त्याज्य है।[2] वह कहते हैं कि योगी को अधिक विलास और अत्यधिक कठोरता, दोनों को त्याग देना चाहिए। उनके लिये उपवास करना या देह को किसी प्रकार का कष्ट देना उचित नहीं है। गीता कहती है जो अपने को अनर्थक क्लेश देते हैं, वह कभी योगी नहीं हो सकते। अतिभोजनकारी, उपवासशील, अत्यन्त जागरणशील, अधिक निद्रालु, अत्यन्त कर्मी अथवा बिल्कुल आलसी— इनमें से कोई भी योगी नहीं हो सकता। वह मानव जीवन में तीनों योगों का समन्वय चाहते हैं। उनका कथन है कि यदि भगवान की कृपा से सब लोगों के मन में इस ज्ञान योग, भक्ति योग तथा कर्म योग का प्रत्येक भाव पूर्ण मात्रा में और साथ-साथ सद्भाव से विद्यमान रहे तो मेरे मत से मानव का सर्वश्रेष्ठ आदर्श यही होगा। जिसके चरित्र में इन भावों में से एक या दो प्रस्फुटित हुए हैं— मैं इनको एकपक्षीय कहता हूँ।[3]

स्वामी विवेकानन्द का विचार है कि बालक को दुर्बल बनाने वाली कहानियों को पाठ्यक्रम में कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। छात्रों को भाषा

1. V. K. R. V. Rao– Swami Vivekananda, Govt. of India Publications, 1979, p. 180

2. भास्करेश्वरानन्द— 'विवेकानन्द संचयन', जन्मशती प्रकाशन, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर 1964, पृष्ठ 84

3. –वही– पृष्ठ 159

व साहित्य के साथ-साथ काव्य और कला की शिक्षा देना भी अनिवार्य है किन्तु इन सबमें उन बातों पर बल होना चाहिए जो बालक को शक्तिशाली बना सके। विदेशी भाषा की अपेक्षा स्वदेशी भाषा पर पहले अधिकार करना चाहिए। मातृभाषा पर अधिकार कर लेने के बाद विदेशी भाषा का अध्ययन लाभप्रद हो सकता है। विवेकानन्द पाठ्यक्रम को परिवर्तनशील रखना चाहते हैं जिससे नवीन ज्ञान को ग्राह्य करने का अवसर बालक को मिल सके। एक साक्षात्कार के समय वह कहते हैं कि मैंने अमरीकी मस्तिष्क को नये विचारों के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील पाया है। वहाँ कोई बात इसलिए त्याज्य नहीं है क्योंकि वह नयी है। वह अपनी अच्छाई व बुराई के आधार पर जाँची जाती है और केवल इसी आधार पर स्वीकार या अस्वीकार की जाती है।[3]

स्वामी विवेकानन्द के पाठ्यक्रम में मुख्य रूप से निम्न तीन बातें सम्मिलित की जा सकती हैं—

1. जीवन के व्यावहारिक अंगों, जैसे कृषि, वाणिज्य, उद्योग व कला आदि की शिक्षा प्रदान करना।
2. आत्मनिर्भरता व विश्व बंधुत्व की भावना का प्रसार करना।
3. अनन्त शक्ति, उत्साह, साहस, धैर्य और त्याग की भावना का मनुष्य में विकास करना।

पाठ्यक्रम में तीनों कालों से सम्बन्धित शिक्षा आनी चाहिए। स्वामी जी कहते हैं कि अतीत में जो कुछ भी हुआ है, वह सब हम ग्रहण करेंगे, वर्तमान ज्ञान ज्योति का उपभोग करेंगे और भविष्य में आने वाली बातों को ग्रहण करने के लिये अपने हृदय के सारे दरवाजों को खुला रखेंगे। वह सभी महात्माओं के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अतीत के ऋषियों को प्रणाम, वर्तमान के महापुरुषों को प्रणाम और जो भविष्य में आयेंगे, उन सबको प्रणाम।

गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर

रवीन्द्रनाथ प्राकृतिक वातावरण में बालक को जीवन के विभिन्न पक्षों की शिक्षा देने के पक्ष में हैं। वह कहते हैं कि बच्चे के पास एक शक्तिशाली अर्ध-चेतन मस्तिष्क होता है जो वृक्ष के समान अपने चारों ओर के वातावरण से अपना भोजन खींचने की शक्ति रखता है। बच्चों के लिए उनके चारों ओर के वातावरण का, नियमों, पद्धतियों, भवनों, साज-सामानों तथा कक्षा की शिक्षाओं

1. Sunday Times, London, 1896, Quoted from Vivekananda Sanchayan, p. 291

व पाठ्य-पुस्तकों से अधिक महत्त्व है ।[1]

इस प्रकार पहले बालक अपने वातावरण का ज्ञान प्राप्त करके उससे सामंजस्य स्थापित करना सीखें, इससे क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा उसके स्नायु दृढ़ होते हैं । उसके पश्चात् उसे अन्य ज्ञान प्राप्त करके बुद्धि के प्रशिक्षण की ओर उन्मुख होना चाहिए । अन्त में सामाजिक परिवेश में अपने पूर्ण व्यक्तित्व को प्राप्त करना चाहिए । टैगोर ने पाठ्यक्रम को विस्तृत बनाने का परामर्श दिया है । उनके अनुसार पाठ्यक्रम इतना व्यापक होना चाहिए कि बालक के जीवन के सभी पक्षों का विकास हो सके । वह अपने जीवन के कटु अनुभवों को याद करते हुए कहते हैं कि मैं अपने बचपन के दिनों में विद्यालयी शिक्षा के कटु अनुभवों को ग्रहण करने पर मजबूर हुआ । इस व्यवस्था ने मुझे इतना अधिक कष्ट पहुँचाया कि मैं युवा होने तक भी उसकी याद नहीं भुला सका । इस व्यवस्था में बालकों को प्राकृतिक वातावरण से और समाज से हटाकर उस कारखाने में भेज दिया जाता है जिसे स्कूल कहते हैं । इसके अप्राकृतिक वातावरण का सन्ताप बालक के मस्तिष्क को प्रतिदिन ठेस पहुँचाता रहता है ।[2]

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने किसी निश्चित पाठ्यक्रम की योजना नहीं बनाई । उन्होंने यत्र तत्र पाठ्यक्रम के विषय में विचार व्यक्त किये हैं । उन्हीं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह सांस्कृतिक विषयों को बहुत महत्त्व देते थे । विश्व भारती में इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य, प्राकृतिक अध्ययन आदि की शिक्षा के साथ-साथ अभिनय, क्षेत्रीय अध्ययन, भ्रमण, ड्राइंग, मौलिक रचना, संगीत, नृत्य आदि की शिक्षा का भी विशेष प्रबन्ध है । उन्होंने कवि की भाँति मानवीय विषयों तथा कला पर अधिक जोर दिया है । टैगोर विश्वास करते हैं कि संगीत और नृत्य शरीर व मस्तिष्क को सही रखते हैं । शान्ति निकेतन की शिक्षा प्रणाली में पाठ्यक्रम विषय-केन्द्रित नहीं है । वह पुस्तकीय शिक्षा का विरोध करते हैं तथा पाश्चात्य दार्शनिक रूसो की भाँति मात्र एक पुस्तक 'रोबिन्सन क्रूसो' को ही शिक्षण के उपयुक्त मानते हैं। वह लिखते हैं कि जब मैं युवा था तब मुझे रोबिन्सन क्रूसो का बंगाली अनुवाद पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । मैं अब भी विश्वास करता हूँ कि वह उन अति उत्तम पुस्तकों में से एक है जो बालकों के लिए लिखी गई है । जो आनन्द मुझे इस पुस्तक के पढ़ने से प्राप्त हुआ उसका यह कारण नहीं था कि मैं मानव की उस सफलता में

---

1. Tagore— A Poet's School (Available in 'The Religion of Man') Visva Bharti. Santiniketan.

2. Hiranmay Banerjee— Builders of Modern India— Rabindra Nath Tagore, Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, 1971, p. 74

हिस्सा ले रहा हूँ जो उसने कंजूस प्रकृति की बन्द मुट्ठी में से प्राप्त की है, वरन् वह आनन्द प्रकृति से बुद्धिमत्तापूर्ण निश्चित व्यवहारों के द्वारा एकरूपता स्थापित करके क्रियात्मक अनुभव प्राप्त करने का था, जिसका प्राकृतिक परिणाम सफलता था और यह पश्चिम की वह साहसी प्रेमपूर्ण खोज है जिसमें वह प्रकृति से क्रियात्मक प्रेम करते हैं।[1]

टैगोर की सृजनात्मक शिक्षा के तीन मुख्य नाम हैं प्रथम व्यक्तित्व का निर्माण, द्वितीय साहित्य, कला, संगीत का उन्नयन तथा तृतीय मानवीय जीवन की सद्भावना, सहयोग तथा प्रेम द्वारा प्रभावशाली बनाना। उन्होंने इस तीसरे विचार को सर्वाधिक महत्ता प्रदान की। वह लिखते हैं कि विश्वविद्यालयों को कभी भी इस प्रकार का यांत्रिक संगठन नहीं बनने देना चाहिए, जो सूचनाओं को एकत्रित करने और उनको वितरित करने का कार्य करने लगे। उनके माध्यम से व्यक्तियों को इस प्रकार की प्रेरणा मिलनी चाहिए कि वह अपनी बौद्धिकता को तथा अपने मानसिक धन को दूसरों को प्रदान करने के लिए आगे बढ़ें और संसार के खजाने से जो उन्होंने पारितोषिक प्राप्त किये हैं, उसके बदले उसे कुछ देने में गर्व का अनुभव करें।[2]

रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं कि विभिन्न देशों की यात्राओं में मैंने देखा है कि किस प्रकार जापान, रूस और इटली ने उन्नति की है। उन्होंने दरिद्रता और अशिक्षा को दूर किया है। इन देशों ने अपने साधनों का उपयोग किया है तथा विभिन्न प्रकार के ज्ञान को अपनी भाषा के माध्यम से जनता तक पहुँचाया है जिससे देश ने सभी दिशाओं में विकास की गति को प्राप्त किया है। हमको भी अपनी मातृभाषा के माध्यम से ही जनता को शिक्षित करना चाहिए, अंग्रेजी को उन पर लादना नहीं चाहिए। वह लिखते हैं कि अंग्रेजी साहित्य, जिसने भूतकाल में हमारे मस्तिष्कों को पोषित किया है वह अभी तक क्यों हमारे हृदयों को बेधने के लिये अपनी गहरी प्रतिध्वनियाँ प्रतिपादित कर रही है।[3]

रवीन्द्रनाथ टैगोर किसी भी प्रकार के भेदभाव को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका धर्म मानवता का धर्म है। वह कहते हैं कि इस युग में हम मन्दिरों को पूजा और अन्य धार्मिक कृत्यों के लिये नहीं चाहते। जो हम वास्तव में चाहते

---

1. Bhupendra Nath Sarkar— Tagore the Educator, Academic Publishers, 5A Bhawani Dutta Lane, Calcutta, 1974, p. 42

2. Tagore— An Eastern University. Essay of Tagore, (Available in Visva Bharti and its institutions).

3. Tagore— Crisis in Civilization, Published by Ranajit Ray, Visva Bharti Publishing Department, Calcutta, 1950, p. 13.

हैं वह आश्रम है। हम एक ऐसा स्थान चाहते हैं जहाँ प्रकृति के सौंदर्य और मनुष्य की उच्च क्रियाओं का मधुर मिलन हो। हमारा मन्दिर वही है जहाँ बाह्य प्रकृति और मनुष्य की आत्मा का मिलन हो।[1]

टैगोर ने अपने शिक्षण संस्थान विश्वभारती को सम्पूर्ण मानव जाति के लिये समर्पित किया। उनका विचार था कि यदि हम अपनी संस्था को संसार के प्रकाश में रख सकें तो समस्त अस्पष्टता और अनिश्चितता का अन्धकार दूर हो जायेगा। यदि हम अपनी संस्था को देश व काल की सीमा में रखेंगे तो इसकी पवित्रता नष्ट हो जायेगी। पूर्ण मानवता का विकास ही हमारा ध्येय है और इससे कम कभी भी हमारा ध्येय नहीं होना चाहिए। उन्होंने शान्तिनिकेतन में सभी प्रमुख धर्मों व संस्कृतियों के अध्ययन की व्यवस्था की। विश्वभारती की शिक्षा के उद्देश्यों को बताते हुए वह कहते हैं कि शान्तिनिकेतन उन आदर्शों पर आधारित होगा जिसमें धर्म, साहित्य, इतिहास, विज्ञान और हिन्दुओं, बौद्धों, जैनियों, इस्लामियों, सिक्खों व ईसाइयों की कला पर अनुसंधान होंगे, तथा साथ ही पश्चिम की संस्कृति पर सम्पूर्ण खोज उसी भावना से की जायेगी जो सत्य आध्यात्मिक अनुभवों के लिये आवश्यक है, जिसमें पूर्व व पश्चिम के अनुसंधानवेत्ताओं तथा शोधकर्ताओं के मध्य बंधुत्व, मित्रता तथा सहयोग होगा और वह जातिगत भावना, राष्ट्रीयता व धर्म आदि की सम्पूर्ण शत्रुता से स्वतन्त्र होंगे।[2]

मानवीय विषयों के साथ-साथ रवीन्द्रनाथ टैगोर ने क्रियात्मक विषयों को भी शिक्षा में स्थान दिया। श्रीनिकेतन में उन्होंने विभिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यों पर प्रयोग किया। उसके कार्यों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

1. कृषि व सहकारी कार्य।
2. शिक्षा का कार्य।
3. स्वास्थ्य व सफाई के कार्य।
4. बराती बालक संगठन (स्काउटिंग) के कार्य।

श्रीनिकेतन में ग्रामीण शिल्प का प्रशिक्षण दिया जाता है। यहाँ पर दूर-दूर से व्यक्ति आते हैं जिनमें महिलायें व बच्चे भी होते हैं। कुछ व्यक्तियों को उनके घरों पर भी प्रशिक्षण दिया जाता है। कुछ उद्योगों में अनुसंधान व प्रयोग के लिए अलग से विभाग भी हैं। इसमें दुग्ध उद्योग, मुर्गीपालन उद्योग,

1. Dr. Radhakrishnan – The Philosophy of Rabindra Nath Tagore, Macmillan, 1910, p. 22
2. Bhupendra Nath Sarkar— Tagore the Educator, Academic Publishers, 5A, Bhawani Dutta Lane, Calcutta, 1974, p. 10

कृषि उद्योग, बीज संस्थान तथा मछली पालन उद्योग के संस्थान हैं। टैगोर कहते हैं कि जब जनता राजा जनक के समान कृषि कार्य को करेगी तथा उच्च वर्ग के व्यक्ति भी उसे आदर व सम्मान देकर इस उत्तरदायित्व को समझेंगे तब शारीरिक व मानसिक श्रम के बीच जो खाई लम्बे समय से चली आ रही है स्वयं ही समाप्त हो जायेगी। इस समय विश्वभारती विश्वविद्यालय में निम्नलिखित विभाग हैं :—

1. पथ भवन— इसमें प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा का आयोजन है।
2. शिक्षा भवन— इसमें इण्टरमीडिएट कला व विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध है।
3. विद्या भवन— इसमें बी.ए., एम.ए., पी-एच.डी., के स्तर तक की शिक्षा का प्रबन्ध है, तथा भारतीय दर्शन, बौद्ध दर्शन, संस्कृत, हिन्दी, पाली, प्राकृत, फारसी, अरबी, बंगला आदि विषयों में शोध की सुविधा है।
4. विनय भवन— इसमें अध्यापकों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध है।
5. हिन्दी भवन— एम.ए. स्तर तक हिन्दी शिक्षण व शोध की व्यवस्था है।
6. कला भवन— कढ़ाई, बुनाई, चमड़े आदि की कला सहित विविध कलाओं की शिक्षा का प्रबन्ध है।
7. शिल्प भवन— कुटीर उद्योगों व हस्त कलाओं की शिक्षा का आयोजन है।
8. संगीत भवन— संगीत, नृत्य व अभिनय की शिक्षा दी जाती है।
9. चीन भवन— भारतीय छात्र चीन की संस्कृति तथा चीनी छात्र भारतीय संस्कृति का अध्ययन करते हैं।
10. श्री निकेतन— ग्रामीण उद्योग, स्वास्थ्य, सफाई, स्काउटिंग व सहकारी कार्यों की शिक्षा का प्रबन्ध करना इसका मुख्य उद्देश्य है।

पण्डित मदनमोहन मालवीय

मालवीय जी पाठ्यक्रम को विस्तृत बनाने के पक्ष में थे। वह देश के अभ्युदय के लिए विज्ञान तथा विभिन्न उद्योगों व कलाओं की शिक्षा को आवश्यक समझते थे। इन विषयों की उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था उन्होंने अपने विश्वविद्यालय में की। भारत में कृषि व्यवसाय की प्रधानता है अत: वह स्वीकार करते थे कि कृषि की शिक्षा भी देश में होनी चाहिए। उन्होंने

कृषि में आधुनिक उपकरणों के प्रयोग की शिक्षा की उच्चतम व्यवस्था बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में की। मालवीय जी के अनुसार आयुर्वेद को पाठ्यक्रम का आवश्यक अंग होना चाहिए और इसके साथ-साथ शल्य चिकित्सा पद्धति को भी प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। संगीत व ललित कलाएँ व्यक्ति को सौंदर्यानुभूति की प्रेरणा देती है। अतः उनकी शिक्षा का सुचारु प्रबन्ध होना चाहिए। भारतीय संगीत और भारतीय शिल्प कला आदि से मालवीय जी को विशेष प्रेम था। सन् 1907 में प्रान्तीय कौंसिल में भाषण देते समय उन्होंने कहा कि प्रत्येक जिला व कमिश्नरी में इस प्रकार की माध्यमिक स्तर की औद्योगिक शिक्षण संस्थाएँ अपनाई जाएँ, जिनमें बुनाई, रंगाई, धुलाई, वस्त्र-छपाई, बढ़ईगिरी, मीनाकारी आदि की शिक्षा की व्यवस्था हो। इन संस्थाओं में कार्यकर्त्ताओं और सहायकों के प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध किया जाना चाहिए। वह यह भी चाहते थे कि प्रत्येक प्रान्त में एक उच्च स्तरीय औद्योगिक शिक्षा महाविद्यालय स्थापित किया जाय, जिसमें शिल्प विज्ञान संबंधी विषयों की उच्च स्तरीय शिक्षा का प्रबन्ध हो।

एक जनवरी सन् 1906 को कांग्रेस के पंडाल में हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव सार्वजनिक रूप से उद्घोषित कर दिया गया था, जिसका सब लोगों ने उत्साह के साथ स्वागत किया था। इसी वर्ष कुम्भ के अवसर पर प्रयाग में मठाधीश शंकराचार्य की अध्यक्षता में अनेक संतों, विद्वानों तथा महात्माओं की सभा में यह प्रस्ताव पुनः दोहराया गया, जिसके पाठ्यक्रम संबंधी मुख्य बिन्दु निम्न हैं:—

1. भारतीय विश्वविद्यालय के नाम से काशी में एक हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की जाय जिसके निम्नांकित उद्देश्य हों:—
   (अ) श्रुतियों व स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म के पोषक सनातन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए धर्म के शिक्षक तैयार करना।
   (आ) संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन की अभिवृद्धि।
   (इ) भारतीय भाषाओं और संस्कृत के द्वारा वैज्ञानिक तथा शिल्पकला संबंधी शिक्षा के प्रचार में योग देना।
2. विश्वविद्यालय में निम्नलिखित संस्थाएँ हों:—
   (अ) वैदिक विद्यालय— वेद, वेदांग, स्मृति, दर्शन, इतिहास, ज्योतिष व अन्तरिक्ष विद्या दी जाय।
   (आ) आयुर्वेदिक विद्यालय— वनस्पतिशास्त्र के लिए उद्यान हों, प्रयोगशालाएँ, चिकित्सालय व पशु चिकित्सालय भी हों।

(इ) स्थापत्य वेद तथा अर्थशास्त्र— भौतिकशास्त्र विभाग, प्रयोग व अन्वेषणों के लिए प्रयोगशालाएँ हों, मशीन व बिजली के कामों में इंजीनियरिंग की शिक्षा हो।

(ई) रसायन विभाग— प्रयोग व अन्वेषण की व्यवस्था और रासायनिक द्रव्य बनाने की शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

(उ) शिल्प कला विभाग— यन्त्रों द्वारा व्यवहार में आने वाली नित्यप्रति की वस्तुएँ तैयार की जायें। भूगर्भ शास्त्र, खनिज व धातु शास्त्र की शिक्षा भी सम्मिलित हो।

(ऊ) कृषि विश्वविद्यालय— प्रयोगात्मक व सैद्धान्तिक दोनों प्रकार की शिक्षा हो।

(ए) गन्धर्ववेद तथा अन्य ललित कलाओं का विद्यालय स्थापित किया जाय।

(ऐ) भाषा विद्यालय— अंग्रेजी, जर्मन तथा अन्य विदेशी भाषाओं की शिक्षा द्वारा भारतीय भाषाओं के साहित्य में वृद्धि की जाय।

3. (अ) धर्म सम्बन्धी कार्य तथा वैदिक विद्यालय का कार्य सनातन धर्मी हिन्दुओं के हाथ में हो तथा वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार ही प्रवेश हों।

(आ) अन्य सब विद्यालयों में बिना किसी भेदभाव के शिक्षा दी जाय।[1]

म्योर कॉलेज इलाहाबाद में मदनमोहन मालवीय ने एक हिन्दू छात्रावास की स्थापना की जिससे छात्र समुचित संरक्षण में रह सकें और अपनी संस्कृति की रक्षा कर सकें। इसका नाम 'मैकडोनेल विश्वविद्यालय हिन्दू छात्रावास' रखा गया। उक्त छात्रावास के उद्देश्यों को तत्कालीन उत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेंट गवर्नर 'एन्टनी मैकडोनेल' ने स्वयं इसके उद्घाटन समारोह में इस प्रकार स्पष्ट किया कि वह उन छात्रावासों में था जहाँ पर उपयुक्त नैतिक व धार्मिक शिक्षा दी जा सकती थी। इससे मालूम पड़ता है कि हिन्दू लोग इस सन्दर्भ में अपने बच्चों को शिक्षित करने के अपने कर्त्तव्य को समझने लगे हैं। भारत

1. सीताराम चतुर्वेदी— आधुनिक भारत के निर्माता पं० मदन मोहन मालवीय, भारत सरकार प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1980, पृ० 61

सरकार के प्रत्येक विद्यालय में उससे संबंधित एक हिन्दू छात्रावास होना चाहिए जो हिन्दुओं द्वारा प्रशासित हो ।[1]

मालवीय जी की शिक्षा नीति का व्यावहारिक रूप बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय है। इसकी स्थापना के समय सैन्ट्रल हिन्दू कॉलेज को कला संकाय का स्थान दिया गया। इसके पश्चात् विज्ञान, समाज विज्ञान एवं वाणिज्य संकायों का जन्म हुआ और साथ ही इतिहास, अर्थशास्त्र एवं राजनीति विभाग अपनी विशिष्ट भूमिकायें लिये हुए सम्मुख आए। कला और समाज विज्ञान संकाय में संध्या में कक्षाएँ भी प्रारम्भ की गयीं। विज्ञान संकाय के अन्तर्गत बहुत-सी महत्त्वपूर्ण योजनाएँ चल रही हैं। खनिज तेल व जल संबंधी अन्वेषण व खोज, कृषि और अरण्य भूभाग का मूल्यांकन, संचारण एवं आण्विक विकास, दवाइयों के लिए सूक्ष्म जैविकीय एवं संश्लेषिक मिश्रण सम्बन्धी अध्ययन आदि में प्रशंसनीय व महत्त्वपूर्ण शोध योजनायें इस समय विश्वविद्यालय में चल रही हैं।

सन् 1923 में इस विश्वविद्यालय के विधि संकाय की स्थापना हुई तथा विश्वविद्यालय की स्थापना के दो वर्षों के भीतर ही शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय की स्थापना हो गयी। विधि क्षेत्र के सर रासबिहारी घोष तथा तेज बहादुर सप्रू जैसे प्रख्यात व प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति उस संकाय के डीन रह चुके हैं। संगीत व ललित कला संकाय की स्थापना सन् 1950 में हुई। इसके अन्तर्गत छः विभाग हैं। परिसर में एक महिला महाविद्यालय भी है। यहाँ पर संस्थागत व वैयक्तिक सभी प्रकार की छात्राओं को परीक्षा में बैठने की अनुमति है। गृह-विज्ञान विभाग एक पृथक् संकाय के रूप में कार्य कर रहा है। माइनिंग तथा मैटलर्जी, तथा इंजीनियरिंग के क्षेत्रों में प्रायोगिक कार्य करने का श्रेय विश्वविद्यालय को प्राप्त है। तकनीकी संस्थान के अनेक प्रतिभासम्पन्न स्नातक देश के विभिन्न निजी व सरकारी औद्योगिक संस्थाओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। सम्प्रति संस्थान में नौ विभाग हैं। संस्थान में शोध के अत्याधुनिक यन्त्रों की बहुलता है। कला संकाय और आधुनिक प्राच्य विधा संकाय में प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार अध्ययन, अध्यापन और शोध कार्य होते हैं। प्राच्य विद्या और धर्म विज्ञान संकायों के अन्तर्गत प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृत और पुरातत्त्व संस्कृत एवं पाली तथा दर्शन जैसे विभाग हैं।

प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति— आयुर्वेद के छः विभागों सहित चिकित्सा विज्ञान संस्थान में सत्ताइस विभाग हैं। प्राचीन व आधुनिक चिकित्सा

---

1. Souvenir – Published by 68th Session of Indian Science Congress, 1981, p. 23

पद्धतियों के स्वस्थ सहयोग के कारण चिकित्सा व शल्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हुई हैं। संस्थान की दूसरी उपलब्धि न्यूक्लियर चिकित्साशास्त्र प्रभाग है जहाँ विभिन्न प्रकार के थायरइड एवं कैंसर सम्बन्धी रोगों के निदान व उपचार के लिए रेडियोधर्मी आइसोटोप्स का व्यापक प्रयोग होता है।

सन् 1931 में कृषि संकाय का जन्म हुआ। संकाय के पास विश्वविद्यालय परिसर में 150 एकड़ भूमि पर फार्म व दुग्धशाला है। इसका एक विकास खण्ड है जिसका कार्यक्षेत्र 10 गाँवों में फैला हुआ है। वार्षिक किसान मेला इस संकाय का एक अंग बन चुका है।[1] बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में इन विभागों के अतिरिक्त कम्प्यूटर केन्द्र, हॉर्टिकल्चर विभाग भी हैं। सन् 1935 में ग्लास टेक्नालॉजी का भी समावेश किया गया है।

मालवीय जी भारतीयता के पुजारी रहे हैं। जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई उस समय उन्होंने विश्वविद्यालय के अध्ययन विषयों में हिन्दी साहित्य को भी जोड़ दिया और इसका सम्पूर्ण श्रेय मालवीय जी को ही है कि उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में डॉ० श्यामसुन्दर दास, पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय और लाला भगवानदीन जैसे दिग्गज विद्वानों को एकत्रित कर दिया। मालवीय जी ने ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विज्ञान और तकनीकी विषयों के अतिरिक्त अन्य सब प्रश्नपत्रों का उत्तर हिन्दी में देने की सुविधा प्रदान की।

अपनी अत्यन्त वृद्धावस्था में जब उन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में दीक्षान्त भाषण देने के लिए आमंत्रित किया गया तब उन्होंने वहाँ की पुरानी परिपाटी तोड़कर हिन्दी में ही भाषण किया। क्योंकि वह सदा विश्वास करते थे कि विदेशियों के समूह में विदेशी भाषा का प्रयोग भले ही उपयुक्त हो, किन्तु जिस समाज में हिन्दी जानने वाले लोग हों, वहाँ विदेशी भाषा में भाषण करना देशद्रोह है।

मालवीय जी के अनुसार चरित्र-निर्माण का आधार धार्मिक शिक्षा है। अतः पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा की योजना भी होनी चाहिए। वह स्वयं एक कट्टर सनातनी थे किन्तु सभी धर्मों का आदर करते थे और सभी धर्मावलम्बियों को धर्म के रहस्यों को समझने का परामर्श देते थे। वह चाहते थे कि पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा का स्थान तो रहे किन्तु अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता उनका लक्ष्य होना चाहिए। इस प्रकार मालवीय जी की कल्पना का पाठ्यक्रम अत्यन्त विस्तृत है जिसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक आदि सभी शिक्षाएँ आ जाती हैं।

---

1. 'प्रज्ञा'— काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, हीरक जयन्ती वर्ष 1976–77

महायोगी श्री अरविन्द

श्री अरविन्द द्वारा समर्थित पाठ्यक्रम अत्यन्त विस्तृत है। वह वर्तमान शिक्षा की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह शिक्षा मशीनी हो गयी है जिसमें व्यक्ति की वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं है। वरन् उसके परिवार व विद्यालय के द्वारा उस पर किन्हीं निश्चित विषयों को ग्रहण करने के लिए दबाव डाला जाता है तथा उसके चरित्र व व्यक्तित्व को एक पूर्व निश्चित दिशा प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। श्री अरविन्द बालक की विभिन्न क्षमताओं को प्रशिक्षित करने के पक्ष में हैं। वे कहते हैं कि बालक के व्यक्तित्व का विकास स्वतः ही हो जाएगा यदि हम उसकी ज्ञानेन्द्रियों, मानसिक शक्तियों तथा तार्किक शक्तियों के विकास में उसकी सहायता करेंगे।

श्री अरविन्द बालक की छहों ज्ञानेन्द्रियों, नेत्र, नासिका, कान, जिह्वा, त्वचा और मन को कुशल बना देना चाहते हैं जिससे उसको बाह्य वातावरण से सही संवेदन प्राप्त हो सके और मन में उस विचार या वस्तु की सही प्रतिमा बन सके। यदि ऐसा नहीं होता है तब सत्य ज्ञान नहीं होगा। वह लिखते हैं कि यदि मस्तिष्क को सही सूचनायें मिलने में रुकावट होती हैं तो इसका कारण यह होता है कि उसकी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पर्याप्त संवेदन नहीं मिल रहे हैं। देखने, सुनने, चलने व स्पर्श ज्ञान की शक्तियों में कमी तथा चेतनाशून्यता के दोषों का उपचार किया जाना चाहिए. जबकि इनमें ऐसा किसी घाव के कारण अथवा अंग के स्वयं दोषयुक्त होने के कारण न हुआ हो। नाड़ी शुद्धि द्वारा रुकावटों को दूर किया जाना चाहिए तथा संवेदनों का परिमार्जन किया जाना चाहिए।[1] ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण के पश्चात् मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण होना चाहिए। इसके लिये ध्यान को केन्द्रित करने की आवश्यकता है। धैर्य-पूर्वक लगातार अभ्यास से एक समय में एक से अधिक वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। निरीक्षण, तुलना, स्मरण और निष्कर्ष की मानसिक योग्यताओं को विकसित और प्रशिक्षित करके समस्त वैज्ञानिक विषयों का सरलता से अध्ययन किया जा सकता है। वह लिखते हैं कि निर्णय करने की शक्ति को अन्य योग्यताओं के साथ ही प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। प्रत्येक पग पर बालक ही यह निश्चित करेगा कि कौनसा विचार उचित है। वह उसका मापन करेगा, रंगों, ध्वनियों तथा सुगन्धों की प्रशंसा करेगा और यह देखेगा कि कौनसी चीज त्रुटिपूर्ण है। यह निर्णय और विभाजन पूर्णरूपेण मृदु और विलक्षण प्रतिभा को दर्शाने वाला होना चाहिए। प्रारम्भ में बहुत-सी

---

1. Sri Aurobindo and The Mother— On Education, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1978, p. 37

कठिनाइयाँ इस काम में आयेंगी, परन्तु छात्र को यह प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए कि वह उसके परिणामों पर बिना ध्यान दिये अपने निर्णय पर विश्वास रखे। इस प्रकार हम जल्दी ही यह पायेंगे कि छात्र ने अपनी कमियों को दूर कर लिया है। उसके निर्णय सही व सूक्ष्म होंगे।[1]

मानसिक शक्तियों के प्रशिक्षण के पश्चात् तार्किक शक्तियों के प्रशिक्षण का कार्य प्रारम्भ होता है जिससे व्यक्ति घटनाओं के कारण और परिणामों को जान सके तथा अपने जीवन में सफलता या असफलता की कारणों सहित जानकारी प्राप्त कर सके। श्री अरविन्द लिखते हैं कि आजकल बालक की तार्किक शक्ति को प्रशिक्षित करने के लिए तर्कशास्त्र का अध्ययन कराया जाता है। यह एक प्रबल त्रुटि का दृष्टान्त है जिसमें वस्तु के स्थान पर उसकी पुस्तकीय व्याख्या अध्ययन का केन्द्र हो जाती है। तार्किक अनुभवों व उनकी त्रुटियों का ज्ञान मस्तिष्क को दिया जाना चाहिए और यह सिखाया जाना चाहिए कि यह तार्किक शक्तियाँ किस प्रकार कार्य करती हैं। इस ज्ञान को प्रदान करने के लिए सर्वप्रथम उदाहरणों को बताया जाना चाहिए तथा फिर उनसे संबंधित नियमों की व्याख्या होनी चाहिए। उसके पश्चात् नियमों को एकत्रित करके उनमें एकरूपता स्थापित करके औपचारिक ज्ञान प्रदान किया जाना चाहिए न कि अध्ययन कराते समय विषय से नियमों की ओर, और नियमों से उदाहरणों की ओर चला जाय। अतः वह आगमन विधि के प्रयोग पर बल देते हैं।[2]

श्री अरविन्द के अनुसार हमारी शिक्षा की आधारभूत त्रुटि यह है कि हम स्मृति को ही प्रशिक्षित करने का प्रयास करते हैं तथा विभिन्न प्रकार के तथ्यों को रटने पर जोर देते हैं, जबकि हमको तुलना करने, अन्तर खोजने तथा घटनाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता का विकास करना चाहिए। यह सत्य है कि कुछ विषय, कुछ निश्चित शक्तियों के विकास में अन्यों की अपेक्षा अधिक सक्षम हैं जैसे रेखागणित सत्य मापन योग्यता के लिये उचित है, इसी प्रकार भाषा के अध्ययन द्वारा तार्किक तथा राजनैतिक क्षमतायें प्राप्त की जा सकती हैं जबकि इतिहास का अध्ययन इस कार्य को नहीं कर सकता। लेकिन शायद कोई भी विषय ऐसा नहीं है जोकि मस्तिष्क की सभी शक्तियों को विकसित कर सके। इसलिए सर्वप्रथम हमको इस वर्तमान शिक्षण विधि को त्यागना पड़ेगा। ज्ञान के क्षेत्र में तीन विषय महत्त्वपूर्ण हैं— 1. मानवीय विषय, 2. गणित, 3. विज्ञान। लेकिन आजकल इन सब विषयों का एक ही प्रकार

---

1. *-Ibid-* ,, p. 46
2. *-ibid-* ,, p. 50

की शिक्षण विधि के माध्यम से ज्ञान प्रदान किया जाता है। छात्र की मानसिक क्षमताओं के प्रशिक्षण पर ध्यान नहीं दिया जाता। इसी कारण यूरोप के देशों में जाने वाला विद्यार्थी कुछ समय पश्चात् ही अपने को असमायोजित महसूस करने लगता है। आज भी विज्ञान का शिक्षक उसी विधि का प्रयोग करता है जो प्राचीन काल से चली आ रही है। इसको व्यावहारिक बनाना होगा। वह लिखते हैं कि छात्र के बौद्धिक चिन्तन को नैतिकता प्रदान करनी चाहिए। इसके लिए उसको अपनी मूल प्रवृत्तियों तथा भावों पर, अपनी संकल्प शक्ति और तर्क शक्ति द्वारा नियंत्रण रखना चाहिए। उसे संसार के वर्तमान व इतिहास की समस्त जानकारी प्राप्त करनी चाहिए तथा उस ज्ञान के आधार पर अपने सामाजिक व आर्थिक जीवन को संगठित करने योग्य होना चाहिए। उसे अपनी शारीरिक व भौतिक आवश्यकताओं को अनुशासित रखना चाहिए। यही विचारधारा आज के सभ्य समाज को शासित करती है।[1]

श्री अरविन्द धर्म को दैवीय रूप प्रदान करते हैं। उनके अनुसार धर्म अन्धविश्वासों या कर्मकाण्डों पर आधारित नहीं है वरन् मानवता पर आधारित है, जिसके द्वारा हम यह समझ सकते हैं कि सम्पूर्ण मानव जाति में एक ही आत्मा का वास है। यही दैवीय वास्तविकता है हम मानवता रूपी मशीन के पहिए हैं। इस मानव जाति को यह अनुभव करना चाहिए कि चिरन्तन सुख व शान्ति के लिए हमको दैवीय धर्म का पालन करना आवश्यक है। आज मानवता अपनी एकता को प्राप्त करने में इसी कारण असमर्थ है क्योंकि कोई भी सार्वभौमिक धर्म उसका मार्गदर्शन नहीं कर रहा है। अतः धार्मिक शिक्षा द्वारा मानवीय बंधुत्व, स्वतंत्रता, समानता व एकता की आंतरिक भावनाएँ विकसित की जानी चाहिए, जिससे मानव, जीवन की विभिन्न क्रियाओं में सम्मिलित होकर एकता महसूस करे। श्री अरविन्द का समस्त शिक्षा दर्शन मानवता के उच्च मूल्यों पर केन्द्रित है। वह मनुष्य तथा राष्ट्र की आत्मा व मस्तिष्क को शिक्षा द्वारा विकसित करना चाहते हैं। वह कहते हैं कि प्राचीन-गत तर्कों को अब त्यागने का समय आ गया है क्योंकि सार्वभौमिक मस्तिष्क और मानवता की आत्मा में व्यक्ति का मस्तिष्क व आत्मा अपने अनेक भेदों, समानताओं और एकता के साथ विद्यमान है और इनके बीच में एक राष्ट्रीय शक्ति क्रियाशील है जो व्यक्तियों की आत्मा है। यदि हमको मशीनी व्यक्ति के स्थान पर व्यक्तियों की आत्मा व मस्तिष्क का विकास करके एक जीवन्त व्यक्तित्व निर्मित करना है तो इन तीनों की शिक्षा दी जानी चाहिए।[2]

1. Sri Aurobindo— 'The Human Cycle', Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, p. 89

2. Sri Aurobindo— Mother India : A Preface on National Education, April, 1955.

श्री अरविन्द राष्ट्रीय साहित्य व इतिहास का अध्ययन आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार राष्ट्र एक महान् शक्ति है जो कोटि शक्तियों के योग बनती है। वह राष्ट्रीय इतिहास के माध्यम से छात्रों में प्रेम की भावना भर देना चाहते थे। बंगाल नेशनल कौंसिल के छात्रों के समक्ष भाषण करते हुए उन्होंने कहा था कि एक राष्ट्र के इतिहास में कभी-कभी ऐसे समय भी आते हैं जबकि दैव उसके सम्मुख एक ऐसा कार्य, ऐसा लक्ष्य उपस्थित कर देता है जिसके सामने प्रत्येक वस्तु त्याग देनी चाहिए चाहे वह कितनी भी ऊँची व पवित्र क्यों न हो। हमारी मातृभूमि के लिए अब ऐसा समय आ गया है जबकि उसकी सेवा से अधिक प्रिय और कुछ नहीं है, जबकि अन्य सब कुछ को इसी के लिए करो। जब तुम अपनी आजीविका कमाओगे, ताकि तुम उसके लिए जीवित रह सको। तुम विदेशों को जाओगे, ताकि तुम ज्ञान के साथ वापस लौट सको, जिससे उसकी सेवा कर सको।

श्री अरविन्द के विचारों को मूर्तिमान बनाने के लिए पांडिचेरी में 2 दिसम्बर सन् 1943 को बच्चों के लिए एक स्कूल की स्थापना की गई। सन् 1951 में पांडिचेरी में एक गोष्ठी का आयोजन हुआ जिसमें श्री अरविन्द की स्मृति में एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र प्रतिष्ठित करने का निश्चय हुआ। 6 जनवरी सन् 1952 को श्री माँ के कर-कमलों द्वारा एक केन्द्र का उद्घाटन हुआ। इस संस्था के पाठ्यक्रम में प्रत्येक विषय का स्वतंत्र महत्त्व है। सामान्यतः पाठ्यक्रम के दो विभाग विद्यालय पाठ्यक्रम तथा उच्च पाठ्यक्रम नामक किये जा सकते हैं। विद्यालय पाठ्यक्रम में शिशु अवस्था के दो-तीन वर्ष छोड़कर दस वर्षों के शिक्षण की अवधि है। प्राथमिक चार वर्षों में प्राथमिक तथा अंतिम छः वर्षों में माध्यमिक शिक्षा दी जाती है। साथ ही फ्रेंच तथा अंग्रेजी के शिक्षण की भी व्यवस्था है। उच्च पाठ्यक्रम की अवधि तीन वर्ष है और विद्यार्थी कला या विज्ञान के पाठ्यक्रम में से कोई भी एक पाठ्यक्रम चुन सकते हैं। छात्र के लिए भारतीय दर्शन, भारतीय संस्कृति, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाज विज्ञान, विभिन्न धर्मों का इतिहास, मनोविज्ञान, पाश्चात्य दर्शन तथा विश्व इतिहास आदि का प्रारंभिक ज्ञान आवश्यक है।

उच्च पाठ्यक्रम के पश्चात् विद्यार्थी के लिए श्री अरविन्द साहित्य, अंग्रेजी साहित्य, दर्शन और मनोविज्ञान, विश्व इतिहास व सभ्यता, फ्रेंच साहित्य, भारतीय संस्कृति व इतिहास, अर्थशास्त्र व समाज विज्ञान, गणित, जीवविज्ञान, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबंध में से किसी भी विषय में तीन वर्ष तक विशेष अध्ययन की व्यवस्था है। प्रारंभिक शिक्षा से लेकर अनुसंधान कार्यों की शिक्षा तक के पाठ्यक्रम में सभी विषयों, विज्ञान, इंजीनियरिंग, भाषा तथा कलाओं की शिक्षा के साथ-साथ खेल-कूद, नृत्य, संगीत की भी

व्यवस्था है। साथ ही यहाँ साधनसम्पन्न प्रयोगशालायें तथा पुस्तकालय भी उपलब्ध हैं।

महात्मा गांधी

गांधी जी के अनुसार पाठ्यक्रम ऐसा नहीं होना चाहिए कि उससे केवल बौद्धिक विकास हो। बौद्धिक विकास साहित्यिक विषयों से हो सकता है किन्तु उनसे शारीरिक एवं आध्यात्मिक विकास सम्भव नहीं है। प्रचलित शिक्षा में शारीरिक व आध्यात्मिक विकास की उपेक्षा की गयी है। केवल मस्तिष्क की शिक्षा पर बल दिया जाता है। गांधी जी के अनुसार यदि पाठ्यक्रम में किसी क्राफ्ट को केन्द्रीय स्थान दिया जाय तो प्रचलित शिक्षा के दोष दूर हो सकते हैं। अत: उन्होंने क्रिया-प्रधान पाठ्यक्रम की योजना बनायी। इस नवीन पाठ्यक्रम में शिल्प को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। यह शिल्प कोई भी हो सकता है। भारतीय समाज की दृष्टि में कृषि, कताई, बुनाई, गत्ते का कार्य, लकड़ी का काम, धातु का काम आदि में से एक क्राफ्ट को चुना जा सकता है। गांधी जी द्वारा कताई-बुनाई की ओर विशेष रुचि प्रदर्शित की गयी। अपनी शैक्षिक विचारधारा के सिद्धान्त तथा मूल्य गांधी जी ने सर्वप्रथम सन् 1932 में यर्वदा जेल में लिखे, जो निम्नलिखित हैं :—

1. लड़के व लड़कियों को एक साथ पढ़ाया जाय।
2. एक शिक्षक के पर्यवेक्षण में हस्त कार्य कराये जायें जो शिक्षा का एक भाग हो।
3. प्रत्येक बालक को उसकी इच्छानुसार कार्य दिया जाय।
4. बालक प्रत्येक क्रिया से संबंधित 'क्यों' और 'कहाँ के लिए' प्रश्नों का उत्तर जाने।
5. सामान्य ज्ञान जितनी जल्दी बच्चा जान सके उसे दिया जाय।
6. लिखना सीखने से पहले रेखाएँ खींचना सिखाएँ जिससे हस्तलेख अच्छा बन सके।
7. लिखने से भी पहले पढ़ना सिखाएँ जिसमें चित्रों का प्रयोग करें।
8. बालक पर प्रत्येक चीज सीखने के लिए दबाव न डालें।
9. बच्चा जो सीखता है उसमें उसकी रुचि होनी चाहिए।
10. शिक्षण कार्य खेल विधि द्वारा हो।
11. समस्त शिक्षण कार्य मातृभाषा में हों।
12. साहित्यिक शिक्षा से पहले प्रत्येक बालक हिन्दुस्तानी सीखें।
13. बालक की शिक्षा का दूसरा स्तर 8 से 16 वर्ष की आयु तक हो।

14. इस स्तर पर भी हस्त कार्य सिखाया जाय। आवश्यकतानुसार साहित्यिक विषय पढ़ाया जाना चाहिए।
15. भविष्य के लिए कुछ व्यावसायिक शिक्षा भी हो।
16. संसार के इतिहास, भूगोल, जीव-विज्ञान, खगोल शास्त्र, गणित आदि का सामान्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।
17. सोलह वर्ष के लड़के व लड़की को सिलना व खाना बनाना आना चाहिए।
18. तीसरा स्तर 16 वर्ष की आयु से 25 वर्ष की आयु तक का है। एक युवा स्त्री व पुरुष को अपनी इच्छा व परिस्थिति के अनुसार शिक्षा प्राप्त करना चाहिए।
19. वह शिक्षा जो 9 वर्ष की अवस्था में दी जाय वह स्वनिर्भर बनाने वाली हो जिससे विद्यालय का खर्च भी चल सके।
20. उत्पादन से प्राप्त आय स्कूल का खर्च चलाने के लिए पर्याप्त नहीं होगी तथा इसमें शिक्षकों को बड़ी आय प्राप्त नहीं होगी अतः उनको सेवा भावना से कार्य करना चाहिए और उनका चरित्र अच्छा होना चाहिए।
21. बड़े व महंगे विद्यालय भवन आवश्यक नहीं हैं।
22. अंग्रेजी हमारे पाठ्यक्रम में भाषा की भांति सम्मिलित होनी चाहिए। जैसे हिन्दी हमारी भाषा है वैसे ही अंग्रेजी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों व व्यापार की भाषा है।[1]

उपरोक्त विचारों को गांधी जी ने 22–23 अक्टूबर सन् 1937 में वर्धा में एक सम्मेलन में प्रकट किया। इस अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन (1937) के निश्चय के अनुसार महात्मा गांधी ने डॉ० जाकिर हुसैन के सभापतित्व में एक समिति का गठन किया जिसमें नौ सदस्य थे। उन सदस्यों में आचार्य विनोबा भावे, काका कालेलकर, जे० सी० कुमारप्पा, श्री आर्यनायकम्, श्रीमती आशा देवी और ख्वाजा गुलाम सैयदेन उल्लेखनीय हैं। इस समिति ने बुनियादी शिक्षा की योजना तैयार की जिसमें निम्नलिखित पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया :—

1. **बुनियादी दस्तकारी :** जो भी दस्तकारी चुनी जाय उससे विद्यार्थियों में उतनी कुशलता आ जानी चाहिए कि पूरी पढ़ाई खत्म करने के बाद, अगर आवश्यकता हो तो वे उसे अपना पेशा बना सकें। स्कूलों में नीचे लिखी दस्तकारियों में से कोई एक दस्तकारी सुविधानुसार चुनी जा सकती है—

1. Gandhi Centenary Papers, Vol. 4, Edited by K. S. Saxena, Oriental Research, Bhopal, 1972, p. 127

1. कताई व बुनाई।
2. बढ़ईगिरी।
3. खेती।
4. फल व साग सब्जी उत्पन्न करना।
5. चमड़े का काम।
6. अन्य कोई भी दस्तकारी जो भौगोलिक और स्थानिक परिस्थितियों के अनुकूल हो।

2. मातृभाषा : सात वर्ष की पढ़ाई के अन्त में निम्नलिखित ध्येय प्राप्त हो जाने चाहिए :—

बालक को इस योग्य हो जाना चाहिए कि वह अपने आसपास की चीजों, लोगों और घटनाओं के बारे में, स्वाभाविक रूप से, खुलकर और विश्वास के साथ बात-चीत कर सके और उसकी यह योग्यता धीरे-धीरे इतनी बढ़ जानी चाहिए कि—

1. वह दैनिक कार्य की किसी भी बात पर साफ-साफ व ठीक-ठीक बोल सके।
2. छपे हुए और लिखे हुए अन्य प्रकाशनों को जो अधिक कठिन न हों, मन ही मन सूझ-बूझ के साथ और शीघ्रता से पढ़ सके। इस योग्यता को कम से कम इतना तो बढ़ाना चाहिए कि बच्चे दैनिक पत्रों व मासिक पत्रिकाओं को आसानी से पढ़ व समझ सकें।
3. पद्य और गद्य दोनों को जोर-जोर से तथा साफ शब्दों में आनन्दपूर्वक पढ़ सके।
4. वह किताबों की विषय सूची, शब्द कोषों और सन्दर्भों की किताबों का व्यवहार जाने और अपनी आम जानकारी को बढ़ाने के लिए पुस्तकालयों का प्रयोग सकें।
5. वह ऐसा लिख सके कि उसकी लिखावट आसानी से पढ़ी जा सके। उसकी लिखने की गति अच्छी हो तथा लेख शुद्ध हो।
6. रात-दिन की बातों और घटनाओं को सादी व साफ भाषा में बोल सके। जैसे गांव की आम सभा की रिपोर्ट लेना आदि।
7. वह घरेलू और कारोबार को पत्र लिख सकें।
8. बच्चों को प्रतिष्ठित लेखकों की रचनाओं से चुनी हुई चीजों को पढ़ाया जाय।

3. गणित : इसमें जोड़, घटाना, गुणा, भाग (सादा व मिश्र), दशमलव, त्रैराशिक, आंकिक नियम, ब्याज, पैमाइश का मामूली ज्ञान, अमली रेखागणित और बहीखाते का साधारण ज्ञान कराया जाय। गणित की पढ़ाई केवल कक्षा में अंकों के हेर-फेर तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिए बल्कि बुनियादी दस्तकारी को सीखते समय और स्कूल व समाज के जीवन में जो व्यावहारिक प्रश्न उत्पन्न होते हैं उन प्रश्नों का इस शिक्षा से गहरा सम्बन्ध होना चाहिए।

4. सामाजिक विज्ञान : सामाजिक विज्ञान के प्रशिक्षण के ध्येय निम्न हैं—

1. मानव जाति और हिन्दुस्तान की प्रगति हेतु छात्रों में रुचि उत्पन्न करना।
2. विद्यार्थी अपने समाज व भौगोलिक परिस्थितियों को समझ सकें और उनमें सुधार करें।
3. विद्यार्थियों के हृदय में देशप्रेम हो, वह अतीत का आदर करें और उज्ज्वल भविष्य में आस्था रखें।
4. नागरिकता के अधिकारों व कर्त्तव्यों का ज्ञान देना।
5. विद्यार्थियों में ऐसे व्यक्तिगत और सामाजिक गुण पैदा करना जिससे वह सच्चे मित्र व मददगार पड़ोसी बन सकें।
6. दुनिया के सभी धर्मों के प्रति आदर भाव उत्पन्न करना।

उपरोक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उन्होंने कुछ बातों को आवश्यक बताया है :—

(अ) भारत के इतिहास को एक सरल रूपरेखा देनी चाहिये और उसके साथ इस देश के जन-साधारण के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की मुख्य घटनाओं पर जोर दिया जाना चाहिए। उसमें यह दिखाया जाना चाहिए कि किस प्रकार लोगों ने राजनैतिक व सांस्कृतिक एकता की दिशा में प्रगति की है। प्रेम, सत्य और न्याय के भाव. मिलजुल कर काम करना, राष्ट्रीय एकता, मनुष्य की समानता और भ्रातृत्व आदि ऐतिहासिक आदर्शों पर ही जोर दिया जाना चाहिये। इन बातों की शिक्षा छोटी कक्षाओं में महान् लोगों के जीवन की कहानियाँ बताकर और उच्च कक्षाओं में समाज के सम्पूर्ण जीवन और संस्कृति के विकास को दिखाकर देनी चाहिए।

(आ) सर्वसाधारण की सेवा-सुविधा के लिए जितनी व्यवस्थायें हैं उनसे विद्यार्थियों का परिचय कराया जाना चाहिए। उन्हें पंचायतों और सहकारी समितियों की कार्य-प्रणाली, सरकारी नौकरों के कर्त्तव्य, जिला बोर्ड और नगर-

पालिका के कानून बताने चाहियें। उन्हें यह भी जानना चाहिए कि वोट क्या है और किस प्रकार काम में लाया जाता है। स्कूल में बालक को स्वायत्त-शासन का कुछ व्यावहारिक अनुभव हो जाना चाहिए।

(इ) **भूगोल**— इसमें निम्नलिखित सामग्री आनी चाहिए—

1. भौगोलिक परिस्थिति, अपने देश और विदेश के उद्‌भिद् जीवन, प्राणी जीवन, और मनुष्य जीवन पर किस प्रकार प्रभाव डालती है? इसको कहानियाँ सुनाकर, चित्र दिखाकर, प्रकृति का प्रत्यक्ष चित्रण कराकर तथा उदाहरणों के माध्यम से पढ़ाना चाहिए।
2. मौसम की जानकारी प्राप्त करना, थर्मामीटर व बैरोमीटर का प्रयोग करना, हवा की दिशा की जानकारी और वर्षा का हिसाब रखना।
3. नक्शा देखना और बनाना— जमीन की ऊँचाई, निचाई, दुनिया की गोलाई का नक्शे द्वारा ज्ञान।
4. यातायात, माल वाहन तथा समाचार भेजने के साधनों का अध्ययन तथा उनका उद्योग-धंधों व मनुष्य-जीवन पर प्रभाव बताना।
5. उद्योग-धंधों का अध्ययन तथा उन पर भौगोलिक प्रभावों की जानकारी देना।

5. **साधारण विज्ञान** : बुनियादी शिक्षा योजना में इसके निम्नलिखित उद्देश्य बताये हैं :—

1. प्रकृति को बुद्धिपूर्वक देखना और उससे आनन्द लेना सीखना।
2. चीजों का सही अध्ययन व अनुभवों को प्रयोग द्वारा जानना।
3. वैज्ञानिक प्रयोगों व सिद्धान्तों को स्थानीय सन्दर्भ में देखना।
4. बच्चों को बड़े-बड़े वैज्ञानिकों के जीवन की ऐसी घटनाओं को चुनकर बताना जिससे वे समझ सकें कि उन लोगों को सत्य की खोज में कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं, जिससे वे उन पर श्रद्धा करना सीखें।

पाठ्यक्रम— (क) प्राकृतिक परिचय, (ख) उद्‌भिद विज्ञान, (ग) पशु-विज्ञान, (घ) शरीर विज्ञान, (ङ) आरोग्य विज्ञान, (च) स्वास्थ्य-विज्ञान, (छ) रसायनशास्त्र, (ज) ग्रह नक्षत्रों का ज्ञान, (झ) महान् खोज-कर्त्ताओं की कहानियाँ।

6. **चित्रकला :** इसके शिक्षण के ध्येय निम्नलिखित हैं :—

1. आँखों को उतना कुशल बनाना कि वह रंग रूप पहचान सकें व उनमें भेद कर सकें।
2. आकृतियों को याद रखने की आदत बनाना।
3. प्रकृति व कला की सुन्दरता को जानने और सराहने की योग्यता पैदा करना।
4. सुन्दर डिजाइन बनाने व सजावट के लिए रुचि पैदा करना।
5. नया सामान निर्मित करने के लिए मॉडल बनाने की योग्यता पैदा करना।

पाठ्यक्रम— 1. बच्चे जिन चीजों को देखें या पढ़ें उनके चित्र बनायें, 2. सुन्दर आलेखन बनाना, 3. स्केल ड्राइंग व ग्राफ ड्राइंग।

7. **संगीत :** विद्यार्थियों को कुछ अच्छे राग और भाव के गीत सिखाये जायें जिससे उनमें संगीत के प्रति अनुराग उत्पन्न हो। ताल देना सिखाया जाय। गाने अच्छे हों, उनका भाव ऊँचा और उत्साह देने वाला हो, स्वर मधुर हो। मिलकर गाने पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए।

8. **हिन्दुस्तानी :** हिन्दी भाषा अनिवार्य हो। जहाँ पर हिन्दी मातृ-भाषा है वहाँ विद्यार्थी हिन्दी व फारसी दोनों पढ़ें।

गांधी जी ने छात्र और छात्राओं के लिए एक ही पाठ्यक्रम रखा। चौथी और पाँचवीं कक्षा में छात्राएँ सामान्य विज्ञान में घरेलू कामकाज की जानकारी भी पायें। छठी और सातवीं कक्षा की छात्राएँ बुनियादी दस्तकारी के स्थान पर गृह विज्ञान ले सकती हैं।[1]

महात्मा गांधी का कथन है कि अंग्रेजी भाषा माध्यम होने के कारण उच्च शिक्षित व्यक्ति सामान्य जनता से अलग हो जाते हैं। वह अपने ही देश और अपनी ही भूमि पर अजनबी बन जाते हैं। गांधी जी मातृभाषा हिन्दी के द्वारा ही शिक्षा देने के पक्ष में हैं और उच्च अंग्रेजी साहित्य का ज्ञान हिन्दी में अनुवादित करके सामान्य जनता तक पहुँचाना चाहते हैं। वह लिखते हैं कि मैं अंग्रेजी भाषा को अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान तथा राजनयिकों की भाषा के रूप में सम्मान देता हूँ और यह मानता हूँ कि हममें से कुछ के लिए इसका जानना अति आवश्यक है। इस भाषा में कुछ बहुमूल्य विचारों व साहित्य का खजाना भी है। अतः मैं निश्चित रूप से उन लोगों को उनका अध्ययन करने के लिए

---

1. वर्धा शिक्षा परिषद् 1937 और जाकिर हुसैन समिति का विवरण, हिन्दुस्तानी तालीमी सेवा संघ प्रकाशन, वर्धा, 1939.

प्रोत्साहित करूँगा, जो इस भाषा का ज्ञान रखते हैं और उनसे आशा करता हूँ कि वह अपने राष्ट्र के नागरिकों के लिए उनकी मातृभाषा में इस सम्पदा का अनुवाद करेंगे।[1]

धार्मिक शिक्षा के विषय में गांधी जी का विचार है कि समस्त धर्मों में नैतिकता के मूलभूत सिद्धान्त एक ही समान हैं। इन सिद्धान्तों की शिक्षा छात्रों को अवश्य दी जानी चाहिए। वर्धा शिक्षा योजना के अन्तर्गत खोले गये स्कूलों के लिए इतनी ही धार्मिक शिक्षा यथेष्ट है।[2]

गांधी जी अनौपचारिक व्यावहारिकता शिक्षा प्रदान करने के लिए ग्रीष्मावकाश में छात्रों द्वारा कुछ रचनात्मक कार्यों को करने की संस्तुति करते हैं जिसमें छात्र ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर विभिन्न कार्यकलापों में सहयोग के आधार पर कार्य करेंगे, साथ ही ग्रामीण जनता को अधिक कुशलता से कार्य करने का प्रशिक्षण भी देंगे। वह अमेरिका के विद्यार्थियों का उदाहरण देते हैं कि वहाँ पचास प्रतिशत विद्यार्थी ग्रीष्मावकाश का प्रयोग धन को अर्जित करने में लगाते हैं तथा पढ़ाई के घन्टों के बाद भी कुछ समय वह इन कार्यों के लिए देते हैं। मिशीगन विश्वविद्यालय का उदाहरण देते हुए वह लिखते हैं कि मिशीगन विश्वविद्यालय सिविल तथा विद्युत इंजीनियरिंग में सहकारिता के पाठ्यक्रम को प्रारंभ करने के कारण विचार का विषय है। इसमें इंजीनियरिंग के स्नातकों को निश्चित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त एक वर्ष अधिक लगाना होता है जिसमें सहकारिता सम्बन्धी विषय सिखाया जाता है।[3]

डॉ० राधाकृष्णन

डॉ० राधाकृष्णन वैज्ञानिक विषयों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं लेकिन साथ ही कला विषयों को भी उतना ही महत्त्व देते हैं। वह लिखते हैं कि मेरी इस सिद्धान्त के साथ कोई सहानुभूति नहीं कि विज्ञान के विकास तथा कला के विकास के केन्द्र भिन्न-भिन्न हों। विशुद्ध कला तथा विज्ञान पारस्परिक पूरक, दोष विनाशक तथा साम्य विधायक हैं। इंग्लैण्ड व अमेरिका की साम्प्रदायिक घटनाओं ने धर्म एवं दर्शन में वैज्ञानिक विकास के महत्त्वपूर्ण स्थान को स्पष्ट कर दिया है। लॉर्ड हैल्डेन ने ब्रिस्टल में 'नागरिक विश्वविद्यालय' नामक भाषण में कहा है कि "आप विज्ञान का साहित्य और दर्शन से विच्छेद प्रत्येक

1. Young India, Vol. I, 1919-22, Ganesan, Madras, 1922, Dated 1-9-21

2. Harijan (Weekly), Navajivan Press, Ahmedabad, 16 July, 1939.

3. Young India, Vol. III 1927-28, Ganesan, Madras, 1935, Dated 2-8-1928

को अंशतः भूखों मारे बिना नहीं कर सकते। उनमें से प्रत्येक का समुचित विकास दूसरे के सान्निध्य में ही संभव है। प्रौद्योगिक मनोविज्ञान तथा मानव विज्ञान का कला व विज्ञान दोनों से ही निकट सम्बन्ध है।"[1]

डॉ० राधाकृष्णन आधुनिक शिक्षा के विशिष्टीकरण को स्वीकार करते हैं, जिसमें विज्ञान की किसी शाखा का अध्ययन करके व्यक्ति गहन ज्ञान प्राप्त करता है। लेकिन इसके साथ ही अन्य विषयों की सामायिक जानकारी को भी वह आवश्यक मानते हैं। वह कहते हैं कि विज्ञान की वह सफलता, जिसने अस्त-व्यस्त नियमहीन जीवन में सभ्यता की स्थापना की है, मानव प्रकृति की महत्ता की उतनी ही परिचायक है जितनी कला की सफलता। यद्यपि अपने देश के लिए शुद्ध तथा प्रयोगात्मक विज्ञान का मैं किसी से कम समर्थक नहीं हूँ, पर मैं उसके अध्ययन के साथ ही सभी विषयों का संक्षिप्त परिचय दे देना भी आवश्यक समझता हूँ। ज्ञेय विषय के किसी अंग विशेष का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। विश्वविद्यालय के प्रत्येक छात्र को उन वस्तुओं का साधारण ज्ञान होना चाहिए जिससे मनुष्य जीवन बहुमूल्य, सार्थक और गौरवपूर्ण बनता है तथा उस विद्या तथा कला का ज्ञान चाहिए जो उसके सांसारिक व्यवहार के रूप का विधान करती है। विश्वविद्यालय अपने उद्देश्य की प्राप्ति में तब तक असफल रहेगा, जब तक वह चारों ओर फैले हुए लोक का थोड़ा बहुत ज्ञान नहीं करा देगा।[2]

डॉ० राधाकृष्णन ने तकनीकी शिक्षा को मान्यता प्रदान की है। किन्तु मात्र मशीनीकरण से ही मानवीय सभ्यता का उच्च स्तर बनाये रखना असंभव है। मानवता के उच्च स्तर के लिए नैतिक नियम मूल्यवान है। मशीनीकरण के साथ-साथ मानवीय मूल्यों की शिक्षा, मशीनों के सदुपयोग के लिए आवश्यक है। अनैतिक विचारों वाले व्यक्ति के हाथों में मशीन घातक हो सकती है। वह लिखते हैं कि मशीन पदार्थ पर विजय का प्रतीक है। वह स्वयं अपने में उद्देश्य नहीं है। वह एक उपकरण है, जिसका आविष्कार मानव ने अपने आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए किया था। हमारे आदर्श ही गलत हों तो उसकी जिम्मेदारी हम पर है, मशीनों पर नहीं। हमारे आदर्श सही हों तो मशीन का प्रयोग अन्याय के निवारण, मानवता की दशा को सुधारने और आत्मा की परिपक्वता प्राप्त करने के प्रयत्न में सहायक हो सकता है।[3]

---

1. डॉ० राधाकृष्णन— 'स्वतंत्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली 1974, पृ० 24

2. –वही– पृ० 34

3. डॉ० राधाकृष्णन— 'पूर्व और पश्चिम कुछ विचार', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1965, पृ० 132

डॉ० राधाकृष्णन भारतीय संस्कृति को रूढ़िवादी नहीं मानते हैं। उनके अनुसार भारतीय सभ्यता के महान् प्रतिनिधियों ने सदैव गतिशीलता को अपनाया है और अनवरत साहस से सदैव परिस्थितियों का सामना किया है। इसलिए हमें भी बदलते हुए संसार में चुपचाप बैठकर मात्र अतीत को ही पुनर्स्थापित नहीं करना है बल्कि भारतीय संस्कृति के सच्चे भक्त के रूप में उसी साहस और प्रचण्ड उत्साह से कार्य क्षेत्र में कूदना है। आज हमारा प्रधान कर्त्तव्य है कि आज की परिस्थितियों का मुकाबला करें और ऐसा करते समय सभी प्रकार के भेदभाव और सम्प्रदायों की दीवारों को तोड़कर एकात्म भाव से कार्य करें। ऐसा करते समय धर्मों के आधारभूत सिद्धान्तों का ध्यान रखें जो संसार की आत्मीयता, व्यक्तित्व की पवित्रता, पारस्परिक सम्बन्ध, सेवा धर्म और त्याग की शक्ति है।[1]

डॉ० राधाकृष्णन कमीशन द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम से हम उनकी अवधारणा की जानकारी भली प्रकार प्राप्त कर सकते हैं। आयोग ने पाठ्यक्रम के तीन मुख्य लक्ष्य बताये हैं— 1. सामान्य शिक्षा देना— इससे तात्पर्य ऐसे तथ्यों व सिद्धान्तों के संकलित ज्ञान से है जिस पर छात्र अपने कार्य, विचार और निर्णय को आधारित कर सकें। 2. उदार शिक्षा देना— उदार शिक्षा द्वारा छात्र को स्वतंत्र विचार, आलोचनात्मक खोज, मूल्यांकन, सृजनात्मक तथा रचनात्मक कार्य के लिए तैयार करना है। 3. व्यावसायिक शिक्षा देना— इसके द्वारा बालक को भावी जीवन के कार्य तथा अन्य विशिष्ट हितों के लिए तैयार करना है। ऐसे पाठ्यक्रम को व्यावसायिक या प्राविधिक कहा जाता है। आयोग ने माध्यमिक कक्षाओं तथा उच्च कक्षाओं के संबंध में पाठ्यक्रम की रूपरेखा निम्न प्रकार से दी है :—

1. माध्यमिक कक्षा में— 1. मातृभाषा, 2. संघीय भाषा या एक प्राच्य भाषा अथवा जिनकी मातृभाषा संघीय भाषा हो, उनके लिए आधुनिक भारतीय भाषा, 3. अंग्रेजी, 4. प्रारंभिक गणित, 5. सामान्य विज्ञान, 6. सामाजिक अध्ययन तथा निम्नलिखित विषयों में से कोई दो विषय— (*i*) प्राच्य भाषा, (*ii*) आधुनिक भारतीय भाषा, (*iii*) गणित, (*iv*) भौतिकी, (*v*) रसायन, (*vi*) जीवविज्ञान, (*vii*) इतिहास, (*viii*) संगीत, (*ix*) शिल्प, (*x*) चित्रकला, (*xi*) गृहविज्ञान, (*xii*) बुककीपिंग, (*xiii*) कृषि, (*xiv*) टाइप-राइटिंग, (*xv*) वाणिज्य।

2. स्नातक पाठ्यक्रम— स्नातक की उपाधि प्राप्त करने की अवधि

---

1. डॉ० राधाकृष्णन — 'स्वतन्त्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृ० 37

तीन वर्ष हो और स्नातकोत्तर उपाधि ऑनर्स कोर्स के एक वर्ष पश्चात् तथा स्नातक बनने के दो वर्ष उपरान्त प्रदान की जाय। बी० ए० की परीक्षा में चार विषयों की व्यवस्था की जाय, जिनमें संघीय भाषा तथा प्राच्य भाषा या जिनकी मातृभाषा संघीय भाषा हो उनके लिए आधुनिक भारतीय भाषा और अंग्रेजी नामक विषय अनिवार्य हों तथा कला के अन्तर्गत दो विशेष विषय और लिए जाएँ जो इन दो वर्गों में से प्रत्येक से एक हों—

प्रथम वर्ग— भाषा शास्त्र—

1. एक प्राच्य या आधुनिक भारतीय भाषा, 2. अंग्रेजी, फ्रेंच या जर्मन, 3. दर्शन, 4. इतिहास, 5. मानव शास्त्र, 6. गणित, 7. ललित कला।

द्वितीय वर्ग— (अ) सामाजिक अध्ययन—

1. राजनीतिशास्त्र, 2. समाजशास्त्र, 3. मनोविज्ञान, 4. अर्थ-शास्त्र, 5. मानव शास्त्र, 6. भूगोल, 7. गृह-विज्ञान।

(ब) वैज्ञानिक अध्ययन—

1. गणित, 2. भौतिकी, 3. रसायन, 4. प्राणिशास्त्र, 5. वनस्पतिशास्त्र।

3. स्नातकोत्तर कक्षाएँ व शोध कार्य :

1. स्नातकोत्तर शिक्षा का कार्य एम० ए० या एम० एस-सी० प्रक्रम पर ही करना चाहिए और इसके लिए विद्यार्थियों को कठोर बौद्धिक प्रयास के लिए तैयार किया जाय तथा सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर कक्षाओं के नियमों में साम्यता होनी चाहिए।

2. एम० ए० तथा एम० एस-सी० उपाधियों के लिए स्नातक को कम से कम दो वर्ष तथा बी० ए० ऑनर्स को कम से कम एक वर्ष अध्ययन करना चाहिए और उनके पाठ्यक्रम में एक विशिष्ट विषय का उच्च अध्ययन व शोध की नवीनतम रीतियों का समावेश रहना चाहिए।

3. शोध कार्य के लिए विद्यार्थी को वही विषय चुनना चाहिए जिसका वह पहले ही सफलतापूर्वक अध्ययन कर चुका हो।

4. पी-एच० डी० व उसके समकक्ष उपाधि के प्रशिक्षण की अवधि दो वर्ष से अधिक होनी चाहिए।

5. शोध कार्य करने वाले छात्रों के लिए रिसर्च फैलोशिप का प्रबन्ध किया जाए।

6. डी० लिट्०, व डी० एस-सी० की उपाधियाँ केवल उच्च कोटि की कृतियों पर ही दी जायें तथा इस सम्बन्ध में प्रस्तुत शोध कार्य की परीक्षा केवल बाह्य परीक्षकों द्वारा ही हो।

उपरोक्त पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त आयोग ने व्यावसायिक शिक्षा के सम्बन्ध

में भी अपने सुझाव दिये जिनमें कृषि, वाणिज्य, शिक्षण, इंजीनियरिंग और टैक्नोलॉजी, विधि तथा चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा सम्मिलित है। धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग का सुझाव है कि धर्म सम्बन्धी पुस्तकें पाठ्यक्रम में सम्मिलित की जाएं तथा धर्म का अर्थ आध्यात्मिकता से लगाया जाय। विद्यालयों का कार्यक्रम कुछ समय मौन चिन्तन के पश्चात् प्रारम्भ हो। धर्म दर्शन में शोध कार्यों की ओर विद्यार्थियों को प्रेरित किया जाय।

हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में आयोग का विचार है कि विद्यालय और विश्वविद्यालयीय स्तर पर मातृभाषा, संघीय भाषा तथा अंग्रेजी तीनों भाषाओं का अध्ययन हो। उच्च शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा हो लेकिन हिन्दी भाषा में भी एक या अधिक विषयों का शिक्षण हो, संघीय भाषा के लिए केवल देवनागरी लिपि का प्रयोग हो। वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण करने के लिए एक मण्डल स्थापित हो और इन्टरनेशनल टैकनिकल एण्ड साइन्टिफिक टर्मिनोलॉजी को अपनाया जाय और भारतीय भाषाओं की ध्वनि, प्रकृति व उच्चारण के अनुरूप उनका भारतीयकरण कर लिया जाय। हिन्दी में नये-नये शब्दों की खोज हो और प्रचलित शब्दों को हिन्दी में आत्मसात् कर लिया जाय।

आचार्य विनोबा भावे

आचार्य विनोबा भावे की नई तालीम त्रिविध ज्ञान की समन्वित विचारधारा है। प्रथम भाग के ज्ञान का संगठन बच्चों को वर्तमान परिवेश तथा प्रकृति के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करने के उद्देश्य से किया गया है। द्वितीय भाग का कार्यक्रम बालकों को जीवन में आत्मनिर्भर बनाने के उद्देश्य से नियोजित है तथा तृतीय भाग का कार्यक्रम बच्चों को आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करने से संबंधित है। छोटी आयु के विद्यार्थियों के लिये उन्होंने एक ही विषय का प्रस्ताव रखा है और वह 'जीवन विकास' है। इस विषय के मुख्य तीन भाग हैं— वाणी, शरीर और मन। वाणी के विकास के लिये उन्होंने अच्छे भजनों व कविताओं का चयन किया है जिसको बालक मधुर कण्ठ से और स्वच्छ उच्चारण से गा सके, उनके अर्थ को समझ सके तथा उसकी व्याख्या सत्य रूप में, प्रिय रूप में और संयत वाणी में कर सके। शारीरिक विकास के लिये खुली हवा में उद्योग करे तथा दिनभर कुछ काम करता रहे। खेल, व्यायाम, उचित आहार, ऋतुचर्या, निसर्गोपचार का ज्ञान प्राप्त करे तथा उसके अनुसार आचरण करे। मन के विकास के लिये आत्मसंयम, सामाजिक कुशलता, व्यवहारकुशलता तथा आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान की जाय।[1]

1. विनोबा भावे— 'शिक्षण विचार', अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 64

विनोबा जी के पाठ्यक्रम में इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि बच्चे किसी एक भाषा के सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही किसी एक कला में भी दक्ष हो जायें। उनके विचार से एक भाषा का सम्यक् ज्ञान दूसरी भाषा या विदेशी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो सकेगा। वह अपना उदाहरण देते हुए कहते हैं कि पहले मैंने कुरान का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ा परन्तु उससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ, इसलिए मूल कुरान को पढ़ने के लिए मैंने अरबी भाषा पढ़ी। अब मैं इस्लाम को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह समझने लगा हूँ।[1]

विनोबा जी के पाठ्यक्रम की आधारभूत विशेषता व्यावहारिक ज्ञान देना है। इसीलिए वे कहते हैं कि आज की शिक्षा पद्धति को परिवर्तित करना होगा। उसमें आध्यात्मिक ज्ञान और व्यावसायिक शिक्षा दोनों को समान रूप से स्थान देना होगा जिससे व्यक्ति को आत्म-ज्ञान भी प्राप्त हो सकेगा और वह जीवन का सुचारु रूप से निर्वाह भी कर सकेगा। विनोबा जी का विचार है कि बालका की रुचि के अनुकूल किसी कला की शिक्षा प्रदान करने से उसकी जीविकोपार्जन की समस्या का समाधान हो जाएगा। बच्चों के सारे शिक्षण की रचना किसी एक मूल उपयोग पर करने से शिक्षण भी प्रभावशाली हो सकेगा और उद्योग की जानकारी भी होगी। विनोबा जी ने इस पद्धति को समवाय पद्धति का नाम दिया। इस पद्धति में किसी ऐसे उपयोग को आधार बनाकर शिक्षा दी जाती है जिसके विभिन्न अंग हों तथा जो जीवन की मूल आवश्यकताओं से संबंधित हो। यह उद्योग शिक्षण का साध्य व साधन दोनों ही हो सकता है। इस उद्योग के द्वारा इन तीन उद्देश्यों की प्राप्ति की जाती है— प्रथम बच्चे की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक आदि समस्त शक्तियों का विकास करना, द्वितीय बच्चे को जीविकोपार्जन हेतु सक्षम बना देना और तृतीय बच्चे को जीवनोपयोगी अन्य विविध ज्ञान देना।[2] विनोबा जी मनु के इस विचार के समर्थक हैं कि बच्चे को जब सोलहवाँ वर्ष लग जाय, तो उसके प्रति मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए। उस अवस्था में अपना भार स्वयं उठाने के लिए उसे धीरे-धीरे तैयार होना पड़ता है। इस तैयारी को ही शिक्षण कहा जाता है। विनोबा जी ने पाठ्यक्रम में गणित को भी उस सीमा तक स्थान दिया है जहाँ तक वह व्यावहारिक जीवन के लिए आवश्यक है। वह

---

1. श्रीमन्नारायण— कवि विनोवा, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1972, पृ० 176

2. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 57

विज्ञान की शिक्षा को भी आवश्यक मानते हैं। विनोबा जी स्वयं को पुराण-पन्थी मानने से इन्कार करते हैं और कहते हैं कि मैं तो एक प्रगतिशील वैज्ञानिक हूँ। वह रोग भूलते हैं जो सोचते हैं कि ग्रामोद्योग के यन्त्रों और उपकरणों को सुधारने में मैं विज्ञान के लाभ नहीं उठाना चाहता। इसके विपरीत मैं तो मानता हूँ कि आधुनिक विज्ञान को जितना गतिशील होना चाहिए, वह नहीं है।[1]

विनोबा जी ने पाठ्यक्रम का सृजन देश की परिस्थितियों और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया है। वह अवकाश के समय का उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिए करना चाहते हैं इसीलिए ग्रीष्मावकाश के स्थान पर विद्यार्थियों के लिए बरसात में छुट्टियाँ देना चाहते हैं जिससे वह खेतों में कार्य कर सकें, इससे अवकाश का सदुपयोग तथा उत्पादन कार्य दोनों होंगे। ग्रीष्मकाल में खेतों में उत्पादन कार्य नहीं होता है इसलिए बच्चे प्रायः समय नष्ट करते हैं। वह कहते हैं कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था अंग्रेजों ने अपने उद्देश्यों को ध्यान में रखकर बनाई थी। इस समय हमको अपने देश की आवश्यकताओं की ओर ध्यान देना है।[2]

किसी भी उद्योग को उसके उपांगों सहित जानने की आवश्यकता है। उन्होंने चर्खे के शिक्षण द्वारा निम्न बातों की जानकारी को आवश्यक बताया—

1. **धन्धे का ज्ञान**— इसमें बिनौला निकालना व कातना सम्मिलित है।
2. **कला का ज्ञान**— महीन सूत कातना।
3. **उपांग का ज्ञान**— चर्खे के विभिन्न भागों को ठीक करने के लिए बढ़ईगिरी, लोहारगिरी आदि का ज्ञान।
4. **यंत्र शास्त्र का ज्ञान :** चर्खे के विभिन्न भागों को समझना, घर्षण का अर्थ व उसे रोकने के उपाय।
5. **कताई के इतिहास का ज्ञान :** कताई कला का उद्‌गम व विकास। भारत में इस कला के पतन के कारण।
6. **चर्खे के अर्थशास्त्र का ज्ञान :** ग्राम रचना, सम्पत्ति का विभाजन, बेकारी का प्रश्न, वस्त्र उद्योग में भारत का स्थान, स्वावलम्बन तथा स्वराज्य की दृष्टि से कताई के उपयोग की खोज।
7. **धार्मिक दृष्टि से ज्ञान :** हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों की,

---

1. श्रीमन्नारायण— कवि विनोबा, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1972, पृ० 246

2. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 51

कताई के विषय में वृत्ति, स्वदेशी धर्म, गरीबों के लिए आस्था, श्रम की मान्यता, अस्पृश्यता निवारण, स्त्रियों की मर्यादा आदि।[1]

विनोबा जी ईश्वरीय प्रेम को प्रकट करने के दो माध्यम मानते हैं। इनमें से प्रथम संगीत तथा द्वितीय चित्रकला है। संगीत के माध्यम से उसके स्वरूप का गुणगान किया जाता है तथा चित्रकला द्वारा उसके रूप को चित्रित किया जाता है। इसके अतिरिक्त तृतीय मार्ग साधना है जो अव्यक्त मार्ग है। पाठ्यक्रम में संगीत व कला को भी स्थान दिया जाना चाहिए।[2]

धार्मिक शिक्षा को वह पाठ्यक्रम में स्थान देना नहीं चाहते क्योंकि यह पुस्तकीय विषय नहीं वरन् आचरण से संबंधित है। इसको प्राप्त करने का मार्ग सत्संगति है। अतः विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा देने का सर्वोत्कृष्ट साधन चरित्रवान व सुशील शिक्षकों का सम्पर्क है। आचार्य विनोबा इतिहास शिक्षण के प्रबल विरोधी हैं क्योंकि इतिहास वस्तुनिष्ठ ज्ञान नहीं है। इनके रचनाकारों ने अपने स्वार्थवश उनकी रचना की है। वह कल्पित कहानियों से भी निकृष्ट, इतिहास को मानते हैं। क्योंकि कल्पित कहानियों का कहानीकार उनकी असत्यता को स्वीकार करता है, लेकिन दूसरी ओर इतिहासकार इतिहास की सत्यता का दावा करता है कि मैंने ही सब सत्य लिखा है अन्य झूठ लिख रहा है।

विनोबा जी के विचार गांधी जी से साम्य रखते हैं। वास्तव में वह विद्यार्थियों को स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रुचि के अनुसार अध्ययन करने का अवसर प्रदान करना चाहते हैं। वह पाठ्यक्रमरहित शिक्षा के समर्थक हैं। क्योंकि पाठ्यक्रम बालकों की स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक हैं। मनुष्य व समाज की प्रगति के अनुसार पाठ्यक्रम को भी निरन्तर परिवर्तनशील होना चाहिए, तभी वह अपने उद्देश्यों में सफल हो सकता है। अन्यथा वह सीखने के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है। पाठ्यक्रम में ग्रामीण व शहरी परिवेश को ध्यान में रखना चाहिए। साथ ही धनी व निर्धन दोनों की शिक्षा ग्रहण करने का समान अवसर प्राप्त होना चाहिए। नित्यप्रति की आवश्यकताएँ पाठ्यक्रम का प्रारंभिक आधार होनी चाहिए।

उपरोक्त शिक्षाविदों की पाठ्यक्रम संबंधी अवधारणा का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि उनमें पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। शंकराचार्य के पाठ्यक्रम का आधार वैदिक दर्शन है। उन्होंने वेदान्त की शिक्षा पर ही अपना

---

1. विनोबा भावे— 'शिक्षण विचार', सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी 1960, पृ० 218

2. –वही– पृ० 190

ध्यान केन्द्रित रखा है। व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किसी भी प्रकार के रचनात्मक विषयों को मान्यता नहीं प्रदान की है। अतः इनका पाठ्यक्रम शास्त्रीय पाठ्यक्रम की श्रेणी में आता है। इस पाठ्यक्रम का ध्येय विषयवस्तु में निहित सामग्री को छात्रों को प्रदान करना है जिससे उनमें अपेक्षित गुणों का विकास हो सके। बाल-मनोविज्ञान का इसमें कोई स्थान नहीं है। शंकराचार्य का पाठ्यक्रम शास्त्रीय पाठ्यक्रम का ठोस उदाहरण है। महर्षि दयानन्द सरस्वती भी अपने पाठ्यक्रम को वेदान्त की शिक्षा पर आधारित रखते हैं। लेकिन वह व्यावहारिक जगत को त्यागते नहीं हैं। इसलिए वह वेदान्त के साथ-साथ व्याकरण धनुर्वेद, अथर्ववेद, यन्त्र कला आदि की शिक्षा की भी व्यवस्था करते हैं। उनकी शैक्षिक विचारधारा का जीवन्त स्वरूप गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली है। जिसमें उन्होंने वेद, वेदांग के आध्यात्मिक पहलू के समान ही जीवन की आवश्यकताओं से संबंधित विषय जैसे आयुर्वेद, यंत्र-कला, व्याकरण, युद्ध-कला आदि भी रखे। इस प्रकार महर्षि दयानन्द द्वारा प्रस्तावित पाठ्यक्रम विषय-केन्द्रित पाठ्यक्रम के अन्तर्गत आता है। इस पाठ्य-क्रम में निश्चित बौद्धिक विशिष्टताओं का संकलन होता है, जिसका योग यथार्थता का समग्र चित्र प्रस्तुत करने का दावा करता है। इसमें छात्र की रुचि के स्थान पर निर्धारित विषय वस्तु पर अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। दयानन्द सरस्वती भी एक निश्चित समय में निश्चित ज्ञान की मात्रा छात्रों को सिखा देना चाहते हैं। स्वामी विवेकानन्द के पाठ्यक्रम का प्रारूप उपरोक्त दोनों दार्शनिकों से भिन्नता रखता है। वह वेदान्त की शिक्षा के साथ-साथ वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक ज्ञान भी बालक को प्रदान करना चाहते हैं। इसलिए आत्मनिर्भरता व विश्व-बंधुत्व की शिक्षा देते हैं। उनकी धार्मिक शिक्षा आडम्बर से दूर है। वह वेदान्त और विज्ञान को एक ही मूलभूत सिद्धान्त पर आधारित पाते हैं क्योंकि दोनों का गन्तव्य ब्रह्माण्ड की खोज है। स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा तीनों कालों की खोज है। भूतकालीन ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह प्राचीन साहित्य वेदान्त आदि को आवश्यक मानते हैं। वर्तमान की आवश्यकताओं के लिए शारीरिक शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा और वैज्ञानिक शिक्षा पर बल देते हैं। भविष्य की चुनौतियों को स्वीकार करने के लिए अनन्त शक्ति, उत्साह और धैर्य की शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं। इस प्रकार उनका पाठ्य-क्रम जीवन की स्थायी परिस्थितियों पर आधारित पाठ्यक्रम है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की शैक्षिक विचारधारा 'बाल-केन्द्रित' है। उनकी सम्पूर्ण विचारधारा स्वतंत्रता के सिद्धान्त पर आधारित है जिसमें बालक अपने 'स्व' का विकास कर सकता है। यह पाठ्यक्रम समग्र रूप से बालक के अन्दर निहित है। वह स्वयं अपने चारों ओर के वातावरण से अनुभव प्राप्त करता है और स्वयं को शिक्षित

करता है। टैगोर पुस्तकीय शिक्षा का विरोध करते हैं तथा प्रकृति, मानवीय विषयों, कला, संगीत आदि के माध्यम से बालक के व्यक्तित्व का विकास करना चाहते हैं। उन्होंने अपने शान्ति निकेतन में भी कला, संगीत, शिल्प, भाषा तथा मानवीय विषयों की शिक्षा को महत्ता प्रदान की है। वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया है। जीवन की व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करने के लिए उन्होंने श्रीनिकेतन संस्था की स्थापना की, जिसमें ग्रामीण जीवन को केन्द्र मानकर कृषि, स्वास्थ्य रक्षा, शिक्षा तथा स्काउटिंग के प्रशिक्षण पर प्रयोग किये। आधुनिक समय में यह संस्था सरकारी प्रयत्नों द्वारा संचालित है तथा सरकार द्वारा नियोजित कार्यक्रम यहाँ चलाये जाते हैं।

पं० मदन मोहन मालवीय ने एक विशाल विश्वविद्यालय की स्थापना बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में की। इसमें उन्होंने औद्योगिक व प्राविधिक शिक्षा को प्रमुखता प्रदान की, जो आज के युग की आवश्यकता है। इन विषयों के साथ-साथ उन्होंने कला, सामाजिक विज्ञान, वाणिज्य, इतिहास, अर्थशास्त्र व राजनीति शास्त्र आदि सामाजिक विषयों की भी व्यवस्था की। मालवीय जी ने व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में चिकित्सा विज्ञान, कृषि, माइनिंग, मेटलर्जी की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया। आधुनिक समय में यहाँ कम्प्यूटर, हॉर्टिकल्चर व प्राविधिकी की शिक्षा प्रदान की जाती है। उन्होंने मातृभाषा को महत्त्व प्रदान किया तथा धार्मिक शिक्षा को आवश्यक बताया। इस प्रकार उनका पाठ्यक्रम जीवन की परिस्थितियों पर आधारित पाठ्यक्रम की श्रेणी में आता है।

महायोगी श्री अरविन्द का पाठ्यक्रम 'छात्र-केन्द्रित' पाठ्यक्रम है। वह माता-पिता तथा शिक्षकों द्वारा छात्र को एक निश्चित व्यवसाय के लिए तैयार करने की मनोवृत्ति की आलोचना करते हैं। उनकी शिक्षा बालक की क्षमताओं को विकसित करने पर केन्द्रित है। वह प्रारंभिक शिक्षा में छात्र की ज्ञानेन्द्रियों का विकास करना चाहते हैं जिससे उसके ज्ञान प्रत्यक्ष सुदृढ़ हों और उसका मस्तिष्क सही जानकारी प्राप्त कर सके। इसके पश्चात् वह उसकी मानसिक व तार्किक क्षमता का विकास चाहते हैं जिससे बालक संचित ज्ञान की तुलना, एकीकरण, आलोचना आदि कर सके। श्री अरविन्द शिक्षा द्वारा मानवीय मूल्यों को प्रदान करना चाहते हैं जिससे प्रेम, आपसी समझदारी तथा भ्रातृत्व का विकास हो सके साथ ही मानव स्वयं को विश्व का नागरिक समझ सके। उनके विचारों पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र में विभिन्न विषयों के साथ-साथ तकनीकी व वैज्ञानिक ज्ञान भी प्रदान किया जाता है। उन्होंने विभिन्न विषयों के एकत्रित रूप में शिक्षण पर बल दिया। महात्मा गांधी का शैक्षिक पाठ्यक्रम क्रियाप्रधान है। आधुनिक मनोविज्ञान भी इस बात को स्वीकार

करता है कि शिक्षा खण्डित पाठ्यविषयों या निर्जीव सामग्री द्वारा प्रदान नहीं की जा सकती। पाठ्यक्रम में छात्रों की वास्तविक समस्याओं के समाधान हेतु तथा सम्पूर्ण ज्ञान हेतु एकीकृत क्रियायें निहित होनी चाहिएँ। गांधी जी ने दस्तकारी को बुनियादी रूप में स्वीकार करके छात्रों को अनुभव व क्रिया द्वारा सीखने का अवसर प्रदान किया। किसी एक उद्योग के माध्यम से छात्रों को अन्य संबंधित विषयों की जानकारी करानी चाहिए। उनके विचारों के आधार पर बनायी गयी बेसिक शिक्षा योजना में मातृभाषा, गणित, सामाजिक विज्ञान तथा साधारण विज्ञान के साथ कला व संगीत को भी पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया। गांधी जी ने ग्रामीण क्षेत्रों में रचनात्मक कार्य करने के लिए छात्रों को प्रोत्साहित किया जिससे वह जीवन की समस्याओं का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकें। गांधी जी ने भारतवर्ष में प्रथम बार क्रिया-प्रधान पाठ्यक्रम की रूपरेखा रखी। उन्होंने पुस्तकीय व मात्र सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम की आलोचना की है। शिक्षा को जीवन से जोड़ने का प्रयास गांधी जी की अमूल्य देन है। इसी प्रकार का कुछ कार्य टैगोर द्वारा भी श्रीनिकेतन में किया गया है किन्तु अपने विस्तृत रूप में तथा शिक्षा के केन्द्र के रूप में वह गांधी जी. की शिक्षा नीति में ही दृष्टिगोचर होती है।

डॉ० राधाकृष्णन एकीकृत पाठ्यक्रम के समर्थक हैं। वह विज्ञान और अध्यात्म में समन्वय चाहते हैं। इसीलिए तकनीकी विषयों के साथ-साथ मानवीय विषयों को भी महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार किसी एक पक्ष का विशिष्ट ज्ञान देने से मानव के व्यक्तित्व का संतुलित विकास सम्भव नहीं है। वैज्ञानिक विषय मानव की शक्ति को बढ़ाते हैं तथा मानवीय विषय उसमें मानवीय गुणों का संचार करते हैं। मानवता के अभाव में, शक्ति विनाशकारी हो जाती है। उनकी अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग द्वारा माध्यमिक स्तर पर तीन भाषाएँ, गणित, विज्ञान तथा सामाजिक विषयों के लिए सुझाव दिये गये हैं। इसी प्रकार स्नातक स्तर पर भी दो भाषाओं तथा अन्य दो वैकल्पिक विषयों का सुझाव दिया है। यह पाठ्यक्रम सभी विषयों, तकनीकी, चिकित्सा, विधि आदि को संजोये हुए है। इस प्रकार डॉ० राधाकृष्णन द्वारा प्रदत्त पाठ्यक्रम जीवन की आवश्यकताओं पर आधारित पाठ्यक्रम है। आचार्य विनोबा जी ने 'क्रिया-प्रधान पाठ्यक्रम' दिया है। इसके तीन प्रमुख भाग हैं: प्रथम प्राकृतिक ज्ञान से संबंधित है, दूसरा जीविकोपार्जन से संबंधित है तथा तीसरा अध्यात्म पर आधारित है। उन्होंने किसी केन्द्रीय उद्योग के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया जिसे समवाय पद्धति कहा। इसी उद्योग के विभिन्न अंगों तथा उससे संबंधित ज्ञान का विभिन्न विषयों के सन्दर्भ में अध्ययन करना इनका केन्द्रीय कार्यक्रम है। इन्होंने बालकों के वाणी, शरीर

और मन तीनों को अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में विकसित करने की शिक्षा दी है। इसीलिए कला व संगीत को पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

आधुनिक विचारधारा के अनुसार पाठ्यक्रम कुछ सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए तभी वह जीवन में सर्वाधिक लाभप्रद हो सकता है। ये सिद्धांत निम्नवत् हैं :—

1. जीवन संबंधी समस्त क्रियाओं का सिद्धान्त : इस सिद्धांत के अनुसार जीवन के प्रारंभ से अन्त तक की समस्त क्रियाओं को सुचारु रूप से निर्वाह करने में पारंगत बनाना पाठ्यक्रम का उत्तरदायित्व है। अर्थात् उसमें जीवन के सभी पक्षों से संबंधित विषय होने चाहिएँ। इस श्रेणी में स्वामी विवेकानन्द, मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी, डॉ० राधाकृष्णन तथा विनोबा भावे का पाठ्यक्रम आता है। उन्होंने सामाजिक विषय, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, कला, वाणिज्य तथा आध्यात्मिकता आदि समस्त विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया है। शंकराचार्य व स्वामी दयानन्द सरस्वती तकनीकी व व्यावहारिक शिक्षा की उपेक्षा करते हैं और सैद्धान्तिक शिक्षा पर अधिक बल देते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने वैज्ञानिक शिक्षा तथा श्री अरविन्द ने तकनीकी शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया है।

2. उपयोगिता का सिद्धान्त : सामान्य रूप में सभी विषय जीवन के लिए किसी न किसी मात्रा में उपयोगी होते हैं जैसे कि आध्यात्मिक या धार्मिक ज्ञान अप्रत्यक्ष रूप में मानव जीवन के लिए उपयोगी है क्योंकि यह मानव के चारित्रिक गठन का आधार है। परन्तु कुछ विषय जैसे औद्योगिक ज्ञान, तकनीकी ज्ञान आदि प्रत्यक्षत: जीवन की समस्याओं से संबंधित होते हैं। इनको उपयोगी विषय कहा जाता है। अध्यात्म या धर्म में कुछ विचार ऐसे हो सकते हैं जो वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप न हों अत: उन्हें उपयोगी नहीं कहा जा सकता। भारतीय दार्शनिकों में से कुछ विद्वानों ने उपयोगिता को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम की व्याख्या की है। इनमें स्वामी विवेकानन्द, मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी तथा विनोबा भावे प्रमुख हैं। विवेकानन्द का विचार था कि शौर्यवर्धक ज्ञान ही प्रदान किया जाय। मालवीय जी ने देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर प्राविधिक शिक्षा पर विशेष बल दिया तथा गांधी जी व विनोबा भावे ने मानवीय जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम बनाया।

3. खेल व कार्य के अन्तर्सम्बन्ध का ज्ञान : आधुनिक मनोविज्ञान इस बात पर बल देता है कि बच्चों को क्रिया द्वारा या खेल विधि से ज्ञान प्रदान किया जाए, इससे बच्चे में रुचि का विकास होता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी तथा विनोबा भावे का प्रयास इसी प्रकार का रहा है। टैगोर

का समस्त शिक्षा दर्शन स्वतंत्रता की नींव पर आधारित है। वह बालक पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहते। प्राकृतिक वातावरण में बालक स्वयं खेल-खेल में ज्ञान प्राप्त करता है। महात्मा गांधी तथा विनोबा जी किसी शिल्प के माध्यम से बच्चे की रुचि के अनुसार, शिक्षित करने के पक्ष में हैं। इसमें बालक स्वयं कार्य करके सीखता है। इन दोनों विचारकों का प्रमुख उद्देश्य जीविकोपार्जन में निपुणता के साथ अन्य विषयों की शिक्षा देना था, किन्तु रचनात्मक शिक्षा होने के कारण खेल विधि इसमें स्वतः ही अपना स्थान ग्रहण कर लेती है।

4. **रचनात्मक क्रियाओं का सिद्धान्त :** प्राचीन शिक्षा प्रणाली मुख्यतः सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान करने तक सीमित थी। धीरे-धीरे इस बात की आवश्यकता अनुभव की गयी कि सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक प्रशिक्षण भी दिया जाय जिससे मनुष्य संसार से अपना सामंजस्य स्थापित कर सके। व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए रचनात्मक क्रियाओं पर जोर दिया गया और शिक्षा में प्रयोग प्रारंभ हुए। रचनात्मक शिक्षा की संस्तुति स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी, डॉ० राधाकृष्णन तथा विनोबा भावे ने की है। स्वामी विवेकानन्द ने आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक व तकनीकी शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शान्तिनिकेतन व श्रीनिकेतन में विभिन्न रचनात्मक कार्यक्रमों को अपनाया। मालवीय जी ने औद्योगिक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना पर बल दिया। डॉ० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने कृषि, इंजीनियरिंग, तकनीकी, चिकित्सा आदि विषयों की शिक्षा का सुझाव दिया। महात्मा गांधी व विनोबा जी की शिक्षा का आधार ही रचनात्मक क्रियायें हैं। शंकराचार्य, दयानन्द सरस्वती तथा श्री अरविन्द के शैक्षिक विचार इस वर्ग में नहीं आते हैं।

5. **उत्तम आचरण के आदर्शों की प्राप्ति का सिद्धान्त :** भारतीय विचारकों में से सभी ने इस आदर्श की प्राप्ति पर बल दिया है तथा इस उद्देश्य को अन्य उद्देश्यों की तुलना में प्राथमिकता प्रदान की है।

6. **विकास की सतत प्रक्रिया का सिद्धान्त :** विकास के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपनी प्रारंभिक अवस्था से धीरे-धीरे विकसित होता हुआ अनुभव ग्रहण करता है। उसके साथ-साथ वह अपने वातावरण से सामंजस्य भी स्थापित करता है। शिक्षा का कार्य विकास की अवस्था में बालक के सम्मुख उचित परिस्थितियों को प्रस्तुत करना है। इसके अन्तर्गत पाठ्यक्रम में वही विषय रखे जाते हैं जो बच्चे की शारीरिक व मानसिक अवस्था के अनुकूल हों। इस सिद्धान्त को कुछ भारतीय दार्शनिकों ने अपनाया है जैसे रवीन्द्रनाथ टैगोर

बाल्यावस्था में बच्चे को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं जिससे वह अपनी क्षमता के अनुसार प्राकृतिक वातावरण से शिक्षा ग्रहण कर सके। श्री अरविन्द बाल्यावस्था में बालक की ज्ञानेन्द्रियों के विकास पर बल देते हैं। वह मानव की चेतना को विकसित करना चाहते हैं तथा मानव से उच्च स्तर के जीवधारी अतिमानव की कल्पना करते हैं। विनोबा भावे ने बाल्यावस्था में वाणी, शरीर और मन की शिक्षा पर बल दिया है।

7. **लचीलेपन का सिद्धान्त** : इस सिद्धान्त के अनुसार पाठ्यक्रम को समय व परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील होना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, मदनमोहन मालवीय, डॉ० राधाकृष्णन तथा गांधी जी ने परम्परागत पाठ्यक्रम का विरोध करते हुए समयानुसार शिक्षा देने पर बल दिया है। इस प्रकार इस सिद्धान्त को शंकराचार्य व दयानन्द सरस्वती को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दार्शनिकों ने स्वीकार किया है।

8. **अवकाश के सदुपयोग का सिद्धान्त** : इस सिद्धान्त का पालन रवीन्द्रनाथ टैगोर, गांधी जी व विनोबा भावे ने किया है। वह अवकाश के समय को रचनात्मक कार्यों में व्यतीत करने पर बल देते हैं। अन्य भारतीय शिक्षा दार्शनिकों ने इस पहलू पर विचार नहीं किया है।

9. **विषयों के पारस्परिक संबंध का सिद्धान्त** : इस सिद्धान्त को मानने वालों में स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द व डॉ० राधाकृष्णन हैं। इन सभी दार्शनिकों ने विषयों को एकीकृत करके पढ़ाने पर जोर दिया क्योंकि ज्ञान संगठित होता है और विषयों का विभाजन मात्र अध्ययन की सरलता और विशिष्ट लोगों को प्रोत्साहन देने के लिए किया गया है। जीवन के सभी पक्ष आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक व धार्मिक आदि एक दूसरे से संबंधित हैं तथा एक दूसरे पर निर्भर भी हैं। अतः इनके अध्ययन विषय भी पारस्परिक संबंधों को दर्शाते हुए पढ़ाए जाएँ।

शिक्षण-विधि

शंकराचार्य

शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान जीवात्मा का मौलिक गुण है। आत्मा शुद्ध है व चैतन्य स्वरूप है। ज्ञान व आत्मा एक दूसरे से उसी प्रकार संबंधित हैं जिस प्रकार अग्नि गर्मी से संबंधित है। किन्तु माया के कारण जीवात्मा अज्ञान की स्थिति में रहता है। प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य सदानन्द ने अपनी कृति वेदान्तसार में इस अज्ञान की दो शक्तियाँ बताई हैं, प्रथम आवरण शक्ति और द्वितीय विक्षेप शक्ति। सच्चिदानन्द परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को ढकने वाली शक्ति को आवरण शक्ति कहते हैं। आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में

नित्य है, उसको किन्हीं भी सांसारिक बन्धनों में बाँधा नहीं जा सकता। ब्रह्म से लेकर स्थूल वस्तुओं तक के सम्पूर्ण नाम रूपात्मक जगत को पैदा करने वाली शक्ति को विक्षेप शक्ति कहते हैं। जिस प्रकार रज्जु से संबंधित अज्ञान, अपनी शक्ति से, रस्सी से साँप की भावना उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार आत्मा के विषय में अज्ञान अपनी शक्ति से विशुद्ध आत्मा में विशेष शक्ति के द्वारा सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक प्रपंच की उद्‌भावना कर देता है।

इस अज्ञान को दूर करना आवश्यक है। शंकराचार्य ने ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया का 'विवेक चूड़ामणि' तथा 'उपदेश साहसी' में वर्णन किया है। उनके अनुसार ज्ञान ही मोक्ष का सीधा साधन है। आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान अथवा इन दोनों का एकत्व दर्शन मानव जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त करने का एकमात्र सीधा साधन है। परन्तु ज्ञानियों में से केवल कुछ लोग ही यथावत् तत्त्व-दर्शन कर पाते हैं। यदि ब्रह्म के स्वरूप को जानने के लिए अन्तर्दृष्टि नहीं है तो व्याख्यान मात्र से ब्रह्म ज्ञान नहीं हो सकता। वास्तविक स्वरूप के सच्चे और अव्यवहृत ज्ञान के लिए हमें दृढ़ता से नैतिक और आध्यात्मिक संयम करना पड़ेगा और लक्ष्य के अनुरूप सत्यनिष्ठा के साथ निरन्तर साधना करनी पड़ेगी। ज्ञान-प्राप्ति के दो साधन हैं—

1. अंतरंग
2. बहिरंग।

अंतरंग साधनों में विवेक, वैराग्य, शमदमादि षटसम्पत और मुमुक्षत्व आते हैं तथा बहिरंग साधनों में फल की इच्छा से रहित कार्य आते हैं, इसके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन मार्ग को अपनाया गया है।

उपरोक्त साधनों को अपनाने पर ही छात्र ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी बनेगा। इन गुणों से युक्त होकर शिष्य आचार्य के पास जाएगा और ब्रह्म ज्ञान की जिज्ञासा प्रकट करेगा। ब्रह्म का ज्ञान करने के लिए गुरु दो विधियों का प्रयोग करता है—

1. अध्यारोप विधि
2. अपवाद विधि।

1. अध्यारोप विधि— किसी वस्तु के गुणों को किसी अन्य वस्तु पर आरोपित करना अध्यास कहलाता है। इस प्रकार अध्यारोप में वस्तु और अवस्तु अपेक्षित हैं। यह अध्यास केवल भ्रामक प्रतीतियों में ही नहीं होता वरन् आत्मा और अनात्मा के मिथ्या तादात्म्य में भी देखा जाता है। इस प्रकार का अध्यास हमारे समस्त सांसारिक अनुभवों का एक अंग है। इसी प्रकार जब ब्रह्म में जगत का अध्यारोप हो जाता है, तब ब्रह्म वस्तु है और जगत अवस्तु। इस अध्यारोप विधि में शिक्षक छात्र के समक्ष यह प्रस्तुत करता है कि आत्मा

शरीर है, आत्मा ही बुद्धि है, आत्मा ही अन्तःकरण है और आत्मा ही समस्त पदार्थ है। अवस्तु के अन्दर वस्तु का, जगत के भीतर ब्रह्म का इस विधि द्वारा अध्यास कराया जाता है।

2. अपवाद विधि— इस विधि में युक्तियों और तर्कों का महत्त्व है। तर्क के आधार पर इसमें सिद्ध किया जाता है कि आत्मा शरीर, मन और बुद्धि से भिन्न है। अध्यारोप द्वारा ब्रह्म में जिन गुणों को आरोपित किया जाता है अपवाद विधि द्वारा तर्क के माध्यम से उन गुणों को अलग कर दिया जाता है और अन्त में एक परम तत्त्व बचता है जो शुद्ध व चैतन्य होता है। वस्तुतः अध्यारोप और अपवाद दोनों ही विधियों का प्रयोग एक साथ किया जाता है। पहले गुरु प्रत्यक्ष तथ्यों द्वारा ब्रह्म के गुणों की व्याख्या करता है। ब्रह्म की महत्ता का ज्ञान होने पर वह उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराता है।

ज्ञान-प्राप्ति के तीन मार्ग हैं— ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग और कर्म मार्ग। इन मार्गों को छात्र की योग्यता के आधार पर निश्चित किया जाता है। उत्तम छात्र ज्ञान मार्ग को, मध्यम छात्र भक्ति मार्ग को तथा निकृष्ट छात्र कर्म मार्ग को अपनाते हैं। इस दृष्टि से शिक्षण विधि भी तीन प्रकार की हो जाती हैं-—

1. ज्ञान-केन्द्रित विधि : शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान ही मोक्ष का सीधा साधन है। ज्ञान का अर्थ ब्रह्मत्व या आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करना है। वह कहते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान ही ऐसा साधन है, जिसमें अमृतत्व प्राप्त होता है। उनके विचार से ज्ञान द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है और यह तथ्य उनके सभी समर्थकों को मान्य है और यही समस्त शास्त्रों का सार भी है। तर्क द्वारा भी इसी मार्ग की सिद्धि होती है।[1] इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही शंकराचार्य ने अध्यारोप व अपवाद विधियाँ बतायी हैं।

2. उपासना-केन्द्रित विधि : इस विधि में अनेक देवों की उपासना पर बल है। इसमें मूर्ति की पूजा का भी निषेध नहीं है। उपासना द्वारा चित्त की एकाग्रता और ब्रह्म ज्ञान की इच्छा होती है। उपासना को दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है। प्रथम अर्थ है— समीप रहना और द्वितीय अर्थ है—- स्थिति लाभ। उपास्य देवता के समीप रहना या उसमें स्वयं को लीन कर देना या प्रवाहित कर देना उपासना है। स्थिति लाभ के लिए ईश्वर के प्रतीकों की उपासना की जाती है। एक फल के लिए एक प्रतीक की तथा अनेक फल के लिए अनेक की उपासना की जाती है। उपास्य का साक्षात्कार करना उपासना का फल है।

---

1. डॉ॰ रामस्वरूप सिंह नौलखा— 'आचार्य शंकर ब्रह्मवाद', किताबघर, आचार्य नगर, कानपुर, 1974, पृ॰ 254

3. **क्रिया-केन्द्रित विधि :** इस विधि में पवित्र कर्मों पर बल है। वैदिक कर्मों को करना, फलादि कार्यों में तत्परता आवश्यक है। पठन-पाठन, दान-यज्ञ-व्रत, उपवास का अपना मूल्य है। शंकराचार्य के अनुसार जो कर्म विद्या, श्रद्धा, और योग से मुक्त होकर किया जाता है, वही कर्म वीर्यवत्तर होता है अर्थात् अविद्वान द्वारा किए गए कर्म से अधिक फल वाला होता है। इस प्रकार कर्म अंग रूप से विद्या का केवल श्रवण या कर्मरहित विद्या मोक्ष का हेतु नहीं है। लेकिन इसके साथ ही वे कहते हैं कि जीवनपर्यन्त कर्म करते हुए भी तत्ववित् पुरुष में विद्या की सामर्थ्य से कर्मलेप (अर्थात् फल बन्धन के लिए) नहीं होता है।[1] कुछ विद्वान ज्ञान व कर्म के समन्वय पर बल देते हैं। यह विद्वान ज्ञान व कर्म दोनों को समान रूप से मोक्ष का साधन मानते हैं। परन्तु शंकराचार्य ने इसका घोर विरोध किया है। क्योंकि वह कर्म का कारण आसक्ति मानते हैं और ज्ञान का कारण अनासक्ति है। कर्म जड़ स्वरूप है और ज्ञान प्रकाश स्वरूप है। इस प्रकार दोनों का साथ रहना संभव नहीं है। कर्म विषयी होता है क्योंकि कर्त्ता पर आधारित होता है और ज्ञान वस्तु पर आधारित होने के कारण वैषयिक होता है। इस विषय में ज्ञाता को स्वतंत्रता नहीं है। अतः दोनों का समुच्चय नहीं हो सकता। लेकिन कर्म की भी अपने स्थान पर महत्ता है।

इस प्रकार जो छात्र वैदिक क्रियाओं, यज्ञ, दान, व्रत आदि में लीन रहते हैं, यह अधार्मिकों से तो श्रेष्ठ हैं, किन्तु ब्रह्म ज्ञान के मार्ग में निकृष्ट स्तर पर ही हैं। कर्म-केन्द्रित विधि से उपासना-केन्द्रित विधि उचित है, जिसमें साकार व निराकार ईश्वर की उपासना की जाती है। सगुणोपासना से निर्गुणोपासना श्रेष्ठ है, और ज्ञान द्वारा ब्रह्ममय हो जाना सर्वश्रेष्ठ है।

उपरोक्त ब्रह्मज्ञान की विधियों को अपने छात्रों के समक्ष रखते हुए शंकराचार्य ने प्रश्नोत्तर तथा व्याख्यान विधियों का प्रयोग किया, क्योंकि अपने ब्रह्मसूत्र का अध्यापन करने से प्राप्त अनुभव के आधार पर ही उन्होंने अपना ग्रन्थ लिखा। उन्होंने पहले एक-एक सूत्र की व्याख्या की तथा अपने छात्रों के समक्ष विस्तृत रूप में विवरण किया उसके पश्चात् उस ज्ञान को संक्षिप्त रूप देकर ग्रंथ लिखा। इसीलिए उसकी भाषा-शैली संवाद की भाषा-शैली के समान है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकराचार्य परम्परावादी विधियों जैसे प्रश्नोत्तर

---

1. शंकराचार्य— 'ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य', स्वामी सत्यानन्द सरस्वती विरचित भाषानुवाद, वाराणसी, सम्वत् 2028, पृष्ठ 754

2. विनोबा भावे— 'शिक्षण विचार', सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1972, पृ० 238

विधि, वाद-विवाद विधि तथा अन्तर्दृष्टि की विधि को अपनाते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक शिक्षण विधियाँ उनके क्षेत्र से बाहर हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती

अधिकांश भारतीय दार्शनिक मानव का मूल लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति मानते हैं। ब्रह्म को प्राप्त करने की दिशा में तीन मार्गों को अपनाया गया है, ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग व कर्म मार्ग। इन तीनों मार्गों की कार्यप्रणाली भिन्न-भिन्न होते हुए भी लक्ष्य एक ही है। ज्ञान मार्ग में ज्ञान द्वारा, भक्ति मार्ग में उपासना द्वारा तथा कर्म मार्ग में सांसारिक कार्यों के निःस्वार्थ पालन द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति का विधान है। इन मार्गों में से कौनसा मार्ग श्रेष्ठ मार्ग है, इस विषय में मतैक्य नहीं है जैसे कुछ विद्वान ज्ञान मार्ग को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, उदाहरणार्थ शंकराचार्य ने एकमात्र ज्ञान द्वारा ही ब्रह्म की प्राप्ति को संभावना बतायी है। कुछ अन्य विद्वान, तीनों में से किसी भी एक मार्ग द्वारा आत्मज्ञान हो सकता है, यह स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार तीनों मार्ग स्वयं में महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन महर्षि दयानन्द तीनों मार्गों को एक दूसरे का पूरक मानते हैं, तीनों मार्गों का अनुसरण करके ही हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। वह कहते हैं कि लोगों का यह भ्रम है कि ज्ञान, कर्म और भक्ति ब्रह्म की प्राप्ति के तीनों अलग-अलग मार्ग हैं। वास्तव में ये तीनों उपाय लक्ष्य की प्राप्ति में एक दूसरे के पूरक हैं। ज्ञान हमको लक्ष्य को निश्चित करने में सहायक है। बिना ज्ञान के लक्ष्य स्थिर नहीं हो सकता, इस प्रकार सर्वप्रथम हम ज्ञान मार्ग से अपने लक्ष्य का निर्धारण करते हैं। भक्ति द्वारा उस कार्य की ओर जिज्ञासा बनती है और हमको कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। कार्य की प्रेरणा उत्पन्न होने के पश्चात्, हम उस दिशा में कार्य करना प्रारंभ करते हैं। इस प्रकार ज्ञान के बिना लक्ष्य निर्धारित नहीं हो सकता। श्रद्धा भक्ति के बिना अटल विश्वास और लगन उत्पन्न नहीं हो सकती और लगन के बिना कार्य का सम्पादन नहीं हो सकता तथा बिना कर्म किए कोई भी उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार तीनों ही हमारे लक्ष्य की प्राप्ति में समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।[1]

शिक्षण हेतु उपदेश विधि अत्यन्त प्राचीन शिक्षण विधि है। इसका प्रचलन भारतवर्ष में वैदिक काल से हो रहा है। महर्षि दयानन्द ने भी इस विधि के प्रयोग पर सर्वाधिक बल दिया है। वह सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में कहते हैं कि 'आचार्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस

1. यदुवंश सहाय— 'महर्षि दयानन्द', लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971, पृष्ठ 26

प्रकार उपदेश करे कि तू सदा सत्य बोल, धर्माचरण कर, प्रमादरहित होकर पढ़, पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण कर ···।[1] इस प्रकार वह उपदेश के द्वारा शिष्य को जीवन की सफलता के लिए आवश्यक कार्यों को समझाना चाहते हैं। आधुनिक समय में भी इस विधि का प्रचलन है। व्याख्यान विधि उपदेश विधि पर ही आधारित है। स्वामी दयानन्द छात्रों को स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हैं, वह वेदों को वैज्ञानिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते हैं और कहते हैं, सत्य का यह अनुसंधान ज्ञान के प्रत्यक्ष अनुभव, विवेकशील चिन्तन और आत्म साक्षात्कार के आधार पर हुआ है। इस समस्त ज्ञान को प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों को स्वाध्याय की आदत का विकास करना चाहिए और अध्ययन में कभी आलस्य नहीं करना चाहिए। इस प्रकार महर्षि स्वाध्याय पर बल देते हैं।

महर्षि दयानन्द ने आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति की शिक्षा के पठन-पाठन की आवश्यकता पर बल दिया है। इस शिक्षा हेतु प्राकृतिक निरीक्षण व परीक्षण की आवश्यकता पड़ती है। वह यह स्वीकार करते हैं कि विभिन्न इन्द्रियों द्वारा सांसारिक घटनाओं के विषय में जानकारी मिलती है। इन्द्रियों का सम्बन्ध मन से व मन का सम्बन्ध आत्मा से होता है। निरीक्षण व परीक्षण के लिए इन्द्रियों की सहायता ली जाती है। इस प्रकार दयानन्द निरीक्षण विधि को भी शिक्षण का आवश्यक अंग मानते हैं।

वैदिक कालीन शिक्षा की पद्धति तार्किक रही है जिसमें गुरु व शिष्य आमने सामने बैठकर किसी विषय पर विचार-विमर्श करते हैं। महर्षि ने स्वयं भी इस विधि का प्रयोग अपने व्याख्यानों में किया है। इन्होंने प्रमुख रूप से निगमन विधि का प्रयोग किया है जिसमें किसी सिद्धान्त या तथ्य के विभिन्न पहलुओं पर एक-एक करके विचार किया जाता है। छात्र की योग्यता के मापदण्ड के रूप में भी इसी पद्धति का प्रयोग किया गया है। इसमें प्रश्नोत्तर विधि का प्रयोग भी साथ-साथ किया गया है, जिसमें छात्र अपनी जिज्ञासा को व्याख्यान द्वारा व उदाहरण देकर शान्त करता है।

महर्षि दयानन्द ने अधिकांशतः सैद्धान्तिक विधियों का ही प्रयोग किया है। व्यावहारिक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। किन्तु फिर भी कुछ ऐसे विषयों की संस्तुति उन्होंने की है जिनमें व्यावहारिक ज्ञान अपेक्षित है, जैसे—आयुर्वेदिक शिक्षा, संगीत, विज्ञान, खेलकूद, शारीरिक व्यायाम और गुरु की सेवा आदि में छात्र को क्रियात्मक कार्य करने होते हैं और निरन्तर अभ्यास

---

1. महर्षि दयानन्द सरस्वती— सत्यार्थ प्रकाश, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, विक्रम 2026, पृष्ठ 68

द्वारा वह उपरोक्त योग्यताओं के ज्ञान प्रत्ययों को सुदृढ़ कर सकता है। इस प्रकार व्यावहारिक प्रशिक्षण भी कुछ मात्रा में महर्षि की शिक्षण विधि के क्षेत्र में आ जाता है।

हम देखते हैं कि महर्षि दयानन्द ने परम्परागत शिक्षण विधियों को ही अपनाया है तथा उन्हीं को प्रयोग करने पर बल दिया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक विधियाँ जैसे खेल-विधि, योजना पद्धति, क्रियात्मक विधि आदि को नहीं अपनाया है। मनोवैज्ञानिक विधियाँ छात्र की रुचि, योग्यता व क्षमता के अनुरूप शिक्षण कार्य करने पर बल देती हैं जबकि दयानन्द की शिक्षण पद्धतियाँ सभी विद्यार्थियों के लिए एक समान हैं।

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द को तत्कालीन शिक्षण विधि में कोई आस्था नहीं थी। उनके अनुसार ज्ञान की प्राप्ति के लिए केवल एक ही मार्ग है और वह है एकाग्रता। मन की एकाग्रता ही शिक्षा का सम्पूर्ण सार है। ज्ञानार्जन के लिए निम्नतम श्रेणी के मनुष्य से लेकर उच्चतम योगी तक को इसी मार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है। एकाग्रता द्वारा ही प्रहार में शक्ति और जोर आता है। उनका विचार है कि मनुष्य की बुद्धि की शक्ति की कोई सीमा नहीं है। जितना ही अधिक एकाग्रता के साथ किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है, उतनी ही शक्ति उस वस्तु पर ध्यान-केन्द्रित होती है, यही शक्ति का रहस्य है। मन की एकाग्रता द्वारा ही शिक्षण हो सकता है। रसायनशास्त्री, ज्योतिषी, अध्यापक या मेधावी छात्र आदि सभी लोग मन-शक्तियों को एकाग्र करके ही सफलता प्राप्त कर सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी विशेष को जानने की इच्छा रखता है तो उसे इसी मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा।[1] स्वामी विवेकानन्द राजयोग की व्याख्या करते समय भी इस बात की ओर विशेष बल देते हैं। वह कहते हैं कि राजयोग हमको यही शिक्षा देता है कि मन की समस्त शक्तियों को एकत्र करके मन पर ही उनका प्रयोग करना होगा। राजयोग में जितने भी उपदेश हैं, उन सबका प्रथम उद्देश्य मन को एकाग्र करने से संबंधित है, उसके पश्चात् विभिन्न कार्यों का ज्ञान प्राप्त करके उनसे साधारण सत्यों को जानना तथा फिर उन सत्यों के आधार पर सिद्धान्त का निर्माण करना है।[2] विवेकानन्द कहते हैं कि मनुष्य व पशु में जो अन्तर है उसका कारण चित्त की

---

1. स्वामी विवेकानन्द— 'शिक्षा', श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975, पृष्ठ 14

2. भास्करेश्वरानन्द— 'विवेकानन्द संचयन', जन्मशती प्रकाशन, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1964, पृष्ठ 81

एकाग्र शक्ति का तारतम्य ही है। पशुओं में एकाग्रता की शक्ति बहुत कम होती है। निम्नतर मनुष्य में यह शक्ति कम होती है और उच्चतम पुरुष में अधिक। मनुष्य में भेद इसी शक्ति के आधार पर है। शिक्षा की सफलता भी इसी शक्ति के आधार पर निर्भर है। कला, संगीत आदि में प्रवीणता इसी एकाग्रता का फल है।

एकाग्रता की शक्ति प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। वह कहते हैं कि मात्र ब्रह्मचर्य के पालन से ही व्यक्ति में इतनी शक्ति पैदा हो जाती है कि सारा ज्ञान अल्प काल में ही अर्जित किया जा सकता है। इसकी स्मरण शक्ति तीव्र हो जाती है। इसी कारण ब्रह्मचारी एक बार सुनने अथवा देखने से ही किसी बात को याद रख सकता है। वह खेद प्रकट करते हैं कि ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण हमारा देश विनाश की दिशा में पहुँच रहा है।[1]

ब्रह्मचर्य पालन से मस्तिष्क में प्रबल कार्य शक्ति व इच्छा शक्ति का विकास होता है। इससे मानव जाति पर अद्भुत प्रभुता प्राप्त होती है। आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने के लिए नैतिकता आवश्यक है। आध्यात्मिक गुरु अखण्ड ब्रह्मचारी रहे हैं, इसी से उन्हें शक्ति प्राप्त हुई है। अतः बालकों को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए तथा मन, वाणी तथा कर्म से शुद्ध रहना चाहिए।

मनुष्य को ऊँचा उठने के लिए स्वयं में आत्मविश्वास पैदा करना होगा तथा श्रद्धा को जागृत करना होगा। ज्ञान के प्रति व कर्म के प्रति श्रद्धा ही सारी उन्नति का मूल है। हमें आज इसी श्रद्धा की आवश्यकता है। व्यक्तियों में इसी श्रद्धा के अन्तर के कारण ही भिन्नता दिखाई पड़ती है। बड़ा होना व छोटा होना इस श्रद्धा पर ही निर्भर है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं— इस श्रद्धा या आत्मविश्वास के सिद्धान्त का प्रचार करना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। मैं इस बात को दुबारा कहता हूँ कि यह आत्मविश्वास मानवता का एक सबसे शक्तिशाली अंग है। पहले अपने आप में विश्वास रखो।[2]

स्वामी विवेकानन्द के विचार से ज्ञान मनुष्य में रहता है और शिक्षा का कार्य उस पूर्णता के प्रकट होने में सहायता करना है। वह बच्चे को स्वतंत्रता प्रदान करना चाहते हैं जिससे बालक स्वयं अपनी क्षमताओं के अनुसार विकास कर सके। वह किसी भी प्रकार के दबाव को पसन्द नहीं करते हैं। वह कहते हैं कि उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को आप दूर कर दें। समय आने पर

---

1. The Complete Works of Swami Vivekanand in 7 volumes, Advaita Ashram, Almora, 1947, Vol. VII, p. 222

2. स्वामी विवेकानन्द— 'शिक्षा', श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975, पृ. 18-19

बालक बड़े से बड़े सत्य को स्वयं जान लेगा क्योंकि व्यक्ति स्वयं को शिक्षित करता है।

स्वामी विवेकानन्द द्वारा समर्पित शिक्षण में पुस्तकीय शिक्षा की प्रधानता नहीं है। वह कहते हैं कि हमको सूचनायें एकत्रित करने पर जोर नहीं देना चाहिए वरन् मस्तिष्क व बुद्धि को इस प्रकार प्रशिक्षित करना चाहिए कि वह तथ्यों की तुलना, सामान्यीकरण, श्रेणी विभाजन आदि कर सकें। सूचनायें एकत्रित करना शिक्षा नहीं है। यदि यही शिक्षा होती तो पुस्तकालय व विश्व कोष संसार के सबसे बड़े ज्ञानी होते। स्वामी जी कहते हैं कि "यदि मुझे एक बार फिर से अपनी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले, तो मैं विषयों का अध्ययन नहीं करूँगा, मैं तो एकाग्रता की तथा मन को विषय से अलग करने की शक्ति बढ़ाऊँगा और तब साधन या यंत्र की पूर्णता प्राप्त हो जाने पर इच्छानुसार विषयों का संग्रह करूँगा।"[1]

इस प्रकार यदि पुस्तकें आत्मविश्वास व एकाग्रता की शक्ति को विकसित नहीं करती हैं तो उनको पढ़ना व्यर्थ है।

स्वामी विवेकानन्द प्रत्यक्षीकरण को सर्वाधिक उपयुक्त विधि मानते हैं। वह कहते हैं कि हमको राजयोग से भी यही शिक्षा मिलती है कि जब तक कोई बात स्वयं प्रत्यक्ष न कर सको तब तक उस पर विश्वास न करो। प्रत्यक्ष जानकारी व निरन्तर अभ्यास की साधना से ही सत्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में दृश्य-श्रव्य सामग्री के प्रयोग का परामर्श इन्होंने 80 वर्ष पहले ही दे दिया था, जिसकी महत्ता हमने आजकल समझी है।

स्वामी विवेकानन्द ने भ्रमण व प्राकृतिक निरीक्षण की विधि को भी महत्त्व प्रदान किया है। वह कहते हैं कि मेरी संसार को देखने की इच्छा को आप मात्र मानचित्र दिखाकर शान्त नहीं कर सकते। पुस्तकीय शिक्षा व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने में सहायक मात्र हो सकती है। शल्य चिकित्सक मात्र पुस्तकों के पढ़ने से कुशल नहीं हो सकता उसके लिए वास्तविक अनुभव की आवश्यकता है। किताबों से चिपकने से मनुष्य के मस्तिष्क का ह्रास ही होगा। इस प्रकार वह पुस्तकीय शिक्षा को आंशिक महत्त्व प्रदान करते हैं।[2]

इसी प्रकार अनौपचारिक शिक्षा की अवधारणा भी हमको विवेकानन्द के विचारों में सर्वप्रथम देखने को मिलती है और हम अज्ञान के कारण उसको इतने समय पश्चात् अपना रहे हैं। अनौपचारिक शिक्षा के बारे में उन्होंने

1. स्वामी विवेकानन्द— शिक्षा, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975, पृष्ठ 16

2. The Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. I, Advaita Ashram, Almora, 1947, p. 185

बताया कि यदि कोई बालक स्कूल नहीं आ पाता है, तब शिक्षक को उसके गाँव में जाना होगा और उस बालक की सुविधानुसार, उसको शिक्षा प्रदान करनी होगी। इस कार्य के लिए वह धार्मिक गुरुओं को प्रशिक्षण देना चाहते हैं, क्योंकि धार्मिक गुरु सामान्यत: गाँवों में जाते रहते हैं, प्रशिक्षण प्राप्त करके वह शिक्षा के प्रसार में भी अपना योगदान दे सकेंगे, और बालक अपने पिता के काम में सहायता करता हुआ भी शिक्षित हो सकेगा।

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द व्याख्यान विधि, निरीक्षण विधि तथा अनौपचारिक शिक्षण पद्धति को प्राथमिकता देते हैं तथा शिक्षा ग्रहण करने की मूल शक्ति ब्रह्मचर्य को मानते हैं जिससे एकाग्रचित होने की शक्ति प्राप्त होती है। वह बालक को स्वतंत्रता प्रदान करते हैं, इस प्रकार मनोवैज्ञानिक पक्ष को भी ध्यान में रखते हैं।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर

रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार शिक्षण-विधि को वास्तविकताओं पर आधारित होना चाहिए। वह पुस्तक-केन्द्रित शिक्षा की आलोचना करते हैं। वास्तविक जीवन में हम जिस परिस्थिति को पाते हैं, वह पुस्तकीय क्षेत्र से बाहर होती है। हमारी जो पुस्तकीय विद्या है उसकी विपरीत दिशा में जीवन को निर्देशित करते-करते हमारे मन में उस शिक्षा के प्रति अविश्वास व अश्रद्धा का जन्म होता है। हम सोचते हैं कि वह विद्या एक सारहीन व मिथ्या वस्तु है। हम यह नहीं देखते कि विशेष कारणों से हमारे लिए शिक्षा निष्फल सिद्ध हुई है, बल्कि हम यह कहते हैं कि इस विद्या के अन्दर स्वभावत: एक वृहत निष्फलता विद्यमान है। रवीन्द्र नाथ टैगोर पुस्तकों से प्रेम करते हैं और इतना अधिक पढ़ना चाहते हैं, जितना कि वे पढ़ सकते हैं, लेकिन पुस्तक-केन्द्रित शिक्षा की आलोचना करते हैं। क्योंकि मात्र पाठ्य-पुस्तक पर निर्भर रहने से विकसित होते हुए मस्तिष्क तथा खोज की प्रवृत्ति पुस्तकों तक सीमित हो जाती है। इसलिए टैगोर का विचार है कि शिक्षण विधि, जीवन की परिस्थितियों, समाज के वास्तविक जीवन तथा प्रकृति के वास्तविक तथ्यों पर आधारित होनी चाहिए। प्राकृतिक विज्ञानों का अध्ययन प्रकृति का निरीक्षण करके किया जाय। सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन सामाजिक समस्याओं, घटनाओं एवं संस्थाओं के निरीक्षण द्वारा किया जाना चाहिए। टैगोर कहते हैं कि हम भूगोल पढ़ाने के लिए बालक को पृथ्वी से अलग कर देते हैं, वह व्याकरण पढ़ने के लिए इच्छुक हैं परन्तु हम उसे कुछ बातों का नीरस इतिहास व तारीख पढ़ाते हैं।[1]

---

1. Tagore—Personality, Lectures delivered in Japan and the United States in 1916-17, p. 116

टैगोर का विचार है कि वास्तविक वस्तुओं के सम्पर्क में आने से उनकी निरीक्षण तथा तर्क शक्ति का विकास होता है। इसके लिए वह वाद-विवाद और प्रश्नोत्तर विधि को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसमें बालक दैनिक जीवन की समस्याओं के संबंध में वाद-विवाद करते हैं और उनका हल खोजते हैं। उन्होंने बताया कि शिक्षण विधि जीवन से पूर्ण होनी चाहिए। प्रचलित शिक्षण पद्धति जीवन-विहीन होने के कारण अभावशील, अरुचिपूर्ण और अनुपयोगी हो गयी है। प्रचलित विद्यालय शैक्षणिक उद्योग की भाँति बालक की आवश्यकताओं, रुचियों तथा अभिवृत्तियों पर ध्यान दिए बिना एक ही सी सामग्री उत्पन्न करते हैं। उन्होंने अपने शान्ति निकेतन में पाठ्यक्रम के साथ-साथ संस्कृति के अन्य अंगों जैसे— संगीत, कला, नृत्य व ऋतु त्यौहारों और पास के ग्रामों में समय-समय पर सहायता इत्यादि का भी आयोजन किया है। इस विद्यालय में छात्रों को अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। अपने विचारों को वह भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं, साथ ही भावों के प्रकटीकरण से स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं जिसका माध्यम संगीत, कला तथा अभिनय है।[1] भारतीय शिक्षा शास्त्रियों में सर्वप्रथम टैगोर ने मनोवैज्ञानिक विधियों का अपने शिक्षण संस्थान में प्रयोग किया। उन्होंने स्वप्रयास एवं स्व-चिन्तन द्वारा सीखने पर बल दिया। उनका विचार है कि वही ज्ञान स्थायी रूप से बालकों के मस्तिष्क में रह सकता है जोकि उनको स्वयं के प्रयत्नों एवं चिन्तन से प्राप्त हुआ है। वह लिखते हैं कि "मुझे याद है जब मैं टीयरिंग क्रिया के विषय में अंग्रेजी की कक्षा में पढ़ा रहा था, उस समय मैंने प्रत्येक विद्यार्थी से पास के आम के पेड़ पर चढ़कर वहाँ से पत्तियाँ तोड़ कर लाने को कहा था। इस प्रक्रिया में छात्र का सम्पूर्ण शरीर कार्य करता है, तब शिक्षा जीवन्त हो जाती है।"[2]

टैगोर का विचार है कि स्कूलों को ऐसी प्रयोगशालाएँ होना चाहिए जहाँ केवल ज्ञान को ग्रहण करना अथवा सुरक्षित रखना ही प्रमुख उद्देश्य न समझा जाए, वरन् वहाँ व्यावहारिक अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में साहस से प्रविष्ट होना और अपने को सुरक्षित रखना, स्वयं पर अनुशासन रखना, आत्म नियंत्रण करना सिखाया जाए, साथ ही आध्यात्मिक चिन्तन के तथा मानव कल्याण के संसार में अपने विचारों और व्यक्तित्व को प्रकट करने की शिक्षा दी जाए। टैगोर ने सीखने की अत्याधुनिक 'भ्रमण' विधि का समर्थन किया है। उनके

---

1. Tagore— An Eastern University, Essay of Tagore, (available in Visva-Bharti and its institutions).

2. Bhupendra Nath Sarkar— Tagore the Educator, Academic Publishers, 5A Bhawani Dutta Lane, Calcutta, 1974, p. 19

अनुसार भ्रमण के समय पढ़ना सर्वोत्तम विधि है। क्योंकि भ्रमण के समय हमें वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तथा हमारी मानसिक शक्तियाँ सतर्क व क्रियाशील होती हैं, जिससे हम तथ्य को सरलता से समझ लेते हैं। इसमें मस्तिष्क व शरीर दोनों का सम्बन्ध होता है, और दोनों एक साथ क्रियाशील रहते हैं।

गुरुदेव टैगोर ने अपने विचारों का व्यावहारिक प्रयोग शान्तिनिकेतन में किया। वह अपने शान्तिनिकेतन के लिए कहते हैं कि यह वह संस्थान है जहाँ हम सब सत्य का अनुसरण करते हुए आपसी सहयोग द्वारा अपनी विरासत में भाग लेंगे तथा यह अनुभव करेंगे कि संसार के जिन समस्त कलाकारों ने सौंदर्य का सृजन किया है, वैज्ञानिकों ने ब्रह्माण्ड के अज्ञात तथ्यों की ख़ोज की है, दार्शनिकों ने अस्तित्व की व्याख्या तथा ऋषियों के आत्मिक संसार के सत्य को समझा है, वह मात्र अपनी विशेष प्रजाति के लिए नहीं वरन् समस्त मानव जाति के लिए किया है।[1]

ब्रिटेन के शिक्षाशास्त्री माइकल सैडलर ने विश्व भारती की यात्रा के पश्चात् लिखा कि यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में अनुपयोगी शिक्षा प्रदान की जा रही है, क्योंकि बोलपुर में एक शिक्षा संस्थान, जो पूर्ण विकसित है, ऐसी शिक्षा प्रदान कर रहा है, जहाँ सूचनाएँ प्रदान करने पर कम बल दिया जाता है। यह विद्यालय स्वयं में एक समुदाय है जिसमें प्रत्येक सदस्य अपने कर्त्तव्यों को प्रसन्नता से करता है। एक विद्यार्थी वही सीखता है जो वह सीखना चाहता है। यह शिक्षा कक्षा में तथा घर पर पुस्तकों द्वारा पढ़ाई जाने वाली शिक्षा से किसी प्रकार कम नहीं है।

टैगोर ने क्रिया द्वारा सीखने पर बल दिया है, क्योंकि शारीरिक क्रिया का प्रभाव शरीर व मस्तिष्क दोनों पर पड़ता है। इसलिए उन्होंने नृत्य व अभिनय को शिक्षा का अंग बनाया। श्रीनिकेतन में उद्योग-प्रधान शिक्षा देकर भी उन्होंने इसी उद्देश्य को प्राप्त करना चाहा। किसी उद्योग के प्रशिक्षण द्वारा बालकों में स्वाभिमान, आत्मनिर्भरता आदि गुणों का विकास होता है। श्री निकेतन की शिक्षा प्रणाली उनके इस विचार का प्रत्यक्ष उदाहरण है। उन्होंने बालवपुर, जिमूरिया तथा पाली ग्रामों में अपने प्रयोग किए। कृषि शिक्षा तथा आर्थिक उत्थान के लिए उन्होंने धर्मगोला सहकारी समिति, चालगोला नारायन संघ तथा पाली उन्नयन कोष की स्थापना की। इनके माध्यम से ग्रामवासियों

---

1. Sunil Chandra Sarkar— Tagore's Educational Philosophy and Experiments, Published by Ranjit Roy, Visva-Bharti Research Publication, Santiniketan 1961, p. 96

को कम ब्याज पर ऋण प्रदान किया तथा अच्छे बीज, कृषि हेतु ऋण व चावल खरीदने के लिए ऋण आदि की व्यवस्था की। पाली उन्नयन कोष महिलाओं के शिल्प कार्यों से प्राप्त आय का कोष बनाया, जिसका उद्देश्य समय पर गाँव वालों की सहायता करना था। सामाजिक पुनरुत्थान के लिए ज्योति संघ (बाराती बालक संगठन) तथा बालवपुर स्वास्थ्य समिति का गठन किया। इन संगठनों के माध्यम से पुस्तकालय, खेल, सुरक्षा दल, मेला आयोजन, बीज वितरण तथा मलेरिया उन्मूलन आदि कार्य किए गए। इन समस्त कार्यों को उन्होंने ग्रामीणों द्वारा तथा ग्राम्य साधनों द्वारा ही सम्पन्न कराया। इससे स्पष्ट है कि वह सहकारिता में अत्यधिक विश्वास करते थे।[1]

इस प्रकार टैगोर का शिक्षा संस्थान मानवीय प्रेम व सहयोग का जीता-जागता उदाहरण है। जहाँ समस्त विश्व एक रूप में समुदाय है और उसका प्रत्येक कार्य सम्पूर्ण मानव जाति के लिए है। उनकी शिक्षण विधियों में सहयोगात्मक कार्य द्वारा शिक्षा तथा मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धति नवीन प्रयोग हैं।

मदनमोहन मालवीय

मदनमोहन मालवीय ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राचीन साहित्य तथा आधुनिक वैज्ञानिक व तकनीकी विषयों दोनों को समान स्थान दिया है, इसलिए इन विषयों के सन्दर्भ में शिक्षण विधि भी प्राचीन व आधुनिक दोनों प्रकार की प्रयोग की गयी। प्राचीन साहित्य के लिए व्याख्यान, तर्क-वितर्क व निगमन प्रणाली का प्रयोग किया जाता है तथा वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान करने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। मालवीय जी ने व्यावहारिक शिक्षा की ओर अधिक बल दिया है, क्योंकि व्यावहारिक कार्यों के द्वारा ही ज्ञान को भली प्रकार ग्राह्य किया जा सकता है। उन्होंने कृषि, आयुर्वेदिक, इंजीनियरिंग आदि विषयों के विशेषज्ञों को काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में नियुक्त किया। इन विषयों की व्यावहारिक शिक्षा हेतु इन्होंने विश्वविद्यालय में कृषि की सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध किया, इसी प्रकार तकनीकी शिक्षा प्रदान करने के लिए व्यावहारिक शिक्षण हेतु विभिन्न उपकरणों के निर्माण को प्रोत्साहित किया। उन्होंने दैनिक जीवन के उपयोग की विभिन्न वस्तुओं जैसे साबुन आदि के निर्माण के लिए विश्वविद्यालय में प्रबन्ध किया जिससे छात्र व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें

---

1. Rabindra Nath Tagore's Birth Centenary Celebrations, Vol. VII, 1961, p. 54

तथा भविष्य में जीविकोपार्जन की समस्या का समाधान कर सकें और स्वयं में आत्मविश्वास भी उत्पन्न कर सकें।

छात्रों को व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करने हेतु मालवीय जी ने उन्हें सामाजिक कार्यों की ओर भी प्रेरित किया। सन् 1918 में प्रयाग में अखिल भारतीय सेवा समिति 'बॉय स्काउट एसोसियेशन' की स्थापना की गई जिसकी व्यवस्था का भार बाजपेयी जी को सौंपा गया। मालवीय जी इसके चीफ स्काउट बने और पंडित हृदयनाथ कुंजरू चीफ स्काउट कमिश्नर नियुक्त किए गए। इस संस्था द्वारा समाज में सुधार लाने के अनेक प्रयास किए गए।[1] उन्होंने चारित्रिक शिक्षा प्रदान करने के लिए अनुकरण विधि को स्वीकार किया। छात्र व शिक्षक के आपसी संबंधों का छात्र के चरित्र पर व सोचने के ढंग पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसलिए वह शिक्षकों से अपेक्षा करते हैं कि वे दृढ़ चरित्र के हों तथा अपने देश के लिए उनमें श्रद्धा व भक्ति की भावना हो, उनके समस्त प्रयास देश की उन्नति की दिशा में हों। इसीलिए शिक्षकों की नियुक्ति के समय पर उनसे राष्ट्र के हित के लिए संकल्प कराने की संस्तुति करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मालवीय जी ने प्राचीन व आधुनिक व्यावहारिक विधि दोनों को स्वीकार किया है, लेकिन मनोवैज्ञानिक विधियों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है।

महायोगी श्री अरविन्द

महायोगी श्री अरविन्द ने शिक्षण के तीन सिद्धान्तों की व्याख्या की है—

1. प्रथम सिद्धान्त के अनुसार बालक को अपनी ओर से कुछ भी न पढ़ाया जाए। शिक्षक का कार्य निर्देशक का नहीं, वरन् एक सहायक के रूप में है। उसका कार्य केवल सुझाव देना है, किसी भी प्रकार का दबाव शिक्षक को बालक के ऊपर नहीं डालना चाहिए। वास्तव में शिक्षक बालक के मस्तिष्क को प्रशिक्षित नहीं करता है, वरन् वह केवल मार्ग दिखाता है जिसकी सहायता से बालक अपनी ज्ञानेन्द्रियों को कुशल बनाता है।

2. द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार मस्तिष्क को अपने स्वयं के विकास में लगाना चाहिए। श्री अरविन्द का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ दैवीय तत्त्व होता है, वह उसका स्वयं का है। ईश्वर ने व्यक्ति को एक अवसर प्रदान किया है कि चाहे वह उस आत्मा का विकास करे या उसको छोड़ दे। इस

1. सीताराम चतुर्वेदी— 'आधुनिक भारत के निर्माता मदनमोहन मालवीय', भारत सरकार प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1980, पृष्ठ 100.

आत्मा को विकसित करने की आवश्यकता है। इसलिए शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य उस आत्मा का विकास करना है, जिससे बालक की आंतरिक शक्तियों का सर्वोत्तम रूप में विकास हो सके तथा उसका आदर्श प्रयोग कर सके।

3. तीसरे सिद्धान्त के अनुसार शिक्षण 'निकट से दूर' का अनुसरण करे। अर्थात् जो आज है, वह भविष्य में कैसा होगा, इस बात का अध्ययन किया जाए।[1]

उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षण कार्य करते समय ज्ञान की चार प्रणालियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम ज्ञान तारतम्य द्वारा प्राप्त होता है। यह हमारी सारभूत सत्ता का प्रत्यक्ष ज्ञान है। द्वितीय प्रकार का ज्ञान निकट संबंध द्वारा प्राप्त होता है। तृतीय प्रकार का ज्ञान विभाजनकारी प्रत्यक्ष संबंध द्वारा प्राप्त होता है, यह ज्ञान बौद्धिक शक्तियों के क्षेत्र से संबंधित है। चतुर्थ प्रकार का ज्ञान अप्रत्यक्ष संबंध द्वारा एक पूर्णतया विभाजनकारी ज्ञान है जो आत्म ज्ञान है।

श्री अरविन्द ने सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानेन्द्रियों, मानसिक शक्तियों व तार्किक शक्तियों के प्रशिक्षण पर जोर दिया। उनके द्वारा एकाग्रता के द्वारा ही सत्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, तथा स्मृति को सुदृढ़ बनाया जा सकता है। बालक के सीखने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बालक की रुचि है। पाठ्य विषय को रुचिकर बनाकर छात्रों के सम्मुख रखा जाए, जिससे वह ध्यान लगा कर विषय को समझने का प्रयास करें, इसी ध्यान को एकाग्रता कहते हैं। मस्तिष्क को एकाग्रचित्त करने से उसकी क्षमता में वृद्धि होती है, तथा निरन्तर अभ्यास से व्यक्ति एक ही समय में दो या अधिक वस्तुओं पर भी ध्यान केन्द्रित कर सकता है। मानसिक शक्तियों के प्रशिक्षण के साथ-साथ व्यक्ति में निरीक्षण करने, तुलना करने तथा निर्णय करने की शक्तियों का विकास होता है। इस प्रकार कोई भी वैज्ञानिक विषय ऐसा नहीं है, जिसके ज्ञान के लिए बाल्यावस्था में ही बालक मस्तिष्क को प्रशिक्षित न किया जा सके। यह कार्य बालक में विषय के प्रति रुचि जागृत करके आसानी से किया जा सकता है, इससे बालक अपने में अवकाश के समय का सदुपयोग भी करता है तथा स्वाध्याय के कारण बड़ी कक्षाओं में उसे प्रत्येक बात सिखानी नहीं पड़ती।

मानसिक शक्तियों के प्रशिक्षण के पश्चात् उसकी तार्किक शक्तियों का प्रशिक्षण किया जाना चाहिए, जिससे वह सत्य-असत्य, उचित-अनुचित का निर्णय कर सके। उनके अनुसार तार्किक शक्ति के प्रशिक्षण के लिए तीन बातें

---

1. Sri Aurobindo and the Mother— On Education, Sri Aurobindo Ashram Trust ; Pondicherry, 1978, p.20-21

आवश्यक हैं। प्रथम जो भी तथ्य या निर्णय हो वह सत्य हो, द्वितीय तथ्य पूरे हों और पर्याप्त हों, तृतीय उसी प्रकार के तथ्यों से लिए गए पूर्व निर्णयों का इन तथ्यों पर कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए। इन तीनों बातों को ध्यान में रखकर ही किसी सही निर्णय पर पहुँचा जा सकता है।[2] इस प्रकार श्री अरविन्द शिक्षण कार्य हेतु जिज्ञासा प्रवृत्ति को उद्‌बुद्ध करना चाहते हैं। उनके अनुसार विज्ञान शिक्षण के लिए प्राकृतिक पदार्थों के निरीक्षण के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। फूलों के निरीक्षण व तुलना द्वारा विज्ञान का ज्ञान प्राप्त किया जाय। भूमि और पाषाणों के निरीक्षण द्वारा भूगर्भ शास्त्र का अध्ययन लाभप्रद होगा, तथा जीव विज्ञान का शिक्षण करने के लिए पशुओं का परीक्षण व उन पर प्रयोग किये जायें। खगोल विज्ञान के अध्ययन के लिए तारों का निरीक्षण आवश्यक है। उसी प्रकार दर्शन के अध्ययन के लिये बालक की बौद्धिक चेतना को जाग्रत किया जाना चाहिये। इतिहास का अध्ययन राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत कराने वाला हो। इनके अनुसार— रूप व सौन्दर्य की भावना, उचित, सुडौल व मनोहर का संवेदन-कलात्मक मात्र है तथा यह राष्ट्र में प्रत्यक्ष दर्शन और संवेदनों के कलात्मक प्रशिक्षण द्वारा ही पोषित किये जा सकते हैं। वह बालक की शिक्षा वर्णमाला से प्रारम्भ नहीं करना चाहते वरन् पुष्पों, लताओं, सितारों आदि का निरीक्षण प्रथम आवश्यक मानते हैं। इसके बाद शब्द ज्ञान देना चाहिए। उनका विचार है कि शब्दों के प्रयोग का छात्रों को बहुत अधिक अभ्यास कराना चाहिये। इससे उनमें साहित्यिक योग्यता का विकास होता है।

श्री अरविन्द के अनुसार प्राचीन भारत की शिक्षण पद्धति आधुनिक पद्धति से अधिक उत्तम थी, जिसमें एक विषय का पर्याप्त ज्ञान प्रदान करने के पश्चात् अन्य विषय का अध्ययन प्रारम्भ किया जाता था। इसमें अधिक जानकारी तो नहीं प्रदान की जाती थी लेकिन विषय का गहन अध्ययन संभव था जिससे सभ्यता व संस्कृति का सत्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था। प्राचीन पद्धति में एक दोष यह था कि बाद के विषयों का अध्ययन करते समय पूर्व का अर्जित ज्ञान कुछ धूमिल हो जाता था परन्तु स्मृति के पर्याप्त प्रशिक्षण के कारण इस दोष को दूर किया जा सकता था। वह कहते हैं, कि भविष्य में हमको प्राचीन अथवा वर्तमान शिक्षण पद्धतियों से स्वयं को नहीं बाँधना है, वरन् इन साधनों को अपनाना है जिनकी सहायता से पूर्ण ज्ञान कम से कम समय में प्राप्त किया जा सके। उनके अनुसार आधुनिक राष्ट्रीय शिक्षा की आलोचना का मुख्य कारण यही बताया गया है कि वह विभिन्न प्रकार की सूचनायें प्रदान करने का

---

2. Sri Aurobindo and the Mother— On Education, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1978, p. 42-49

कार्य करती है, सूचनायें प्राप्त करना शिक्षा का एक उद्देश्य तो हो सकता है परन्तु अन्तिम उद्देश्य नहीं । शिक्षा का केन्द्रीय उद्देश्य मस्तिष्क व आत्मा की शक्तियों को विकसित करना है ।

शिक्षा में सुधार लाने के लिए शिक्षा के उद्देश्यों व शिक्षण विधि में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है, हमें शिक्षकों को इस बात के लिए तैयार करना चाहिए कि वह अपनी शक्ति का नवां-दसवां भाग बालकों की क्रियात्मक मानसिक शक्तियों के प्रशिक्षण में लगाएँ तथा निष्क्रिय शक्ति को जिसे हम स्मृति कहते हैं द्वितीय स्थान पर रखें । हमें अपने स्कूल व विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं में क्रियात्मक शक्ति के परीक्षण पर ही बल देना चाहिए न कि स्मृति के परीक्षण पर ।[1] इस प्रकार श्री अरविन्द छात्र में स्मृति, निर्णय, कल्पना, तर्क, प्रत्यक्षण चिन्तन जैसी शक्तियों का विकास करना चाहते हैं, तथा इसके लिए बालक को स्वयं प्रयास करना होगा । क्रोध व बुराइयों आदि पर विजय प्राप्त करने तथा सत्य, शान्ति, प्रकाश व आनन्द का प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत प्रयासों की आवश्यकता है ।[2] अतः शिक्षण विधि ऐसी होनी चाहिए कि विषय सामग्री का चयन कुशलतापूर्वक होता चले ।

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए, क्योंकि मातृभाषा ही राष्ट्र के स्वरूप को बालक के समक्ष प्रस्तुत कर सकती है । मातृभाषा पर अधिकार करने के पश्चात् ही अन्य भाषाओं का ज्ञान बालकों को प्रदान किया जाए । श्री अरविन्द ने एक नवीन विचार प्रस्तुत किया, उन्होंने कहा कि बालक को ऐसा प्रशिक्षण दिया जाए कि वह निष्क्रियता से भी सीख सके । इससे मस्तिष्क की बाह्य शक्ति बढ़ेगी और अर्जित ज्ञान अधिक स्थायी भी होगा, साथ ही अनावश्यक विषयों से छात्र स्वयं को निर्लिप्त कर सकेगा ।

अरविन्द की विचारधारा पर आधारित, श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र, पांडिचेरी में स्वतंत्र विकास का अवसर प्रदान किया गया है । इसमें प्रत्येक बालक को स्वयं अध्ययन करने की ओर प्रोत्साहित किया जाता है । वह अपनी इच्छा से व अपने प्रयास द्वारा आत्म का विकास करता है । शिक्षक इस कार्य में उसकी सहायता करता है कि उसको ज्ञान कहाँ से प्राप्त होगा तथा उसको अपनी अन्तरात्मा से किस प्रकार ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ।[3] इस संस्थान

---

1. Sri Aurobindo and The Mother— On Education, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1978, p. 59

2. The Mother— A Practical Guide to Integral Yoga, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1976, p. 102

3. Sri Aurobindo Centenary— Souvenir, Edited by L.P. Sharma, A.C.S. Delhi, 1972, p. 47

में छात्रों के विकास हेतु निम्नलिखित साधन प्रयुक्त किए जाते हैं—

1. छात्रों का शारीरिक विकास करने की दृष्टि से उनके लिए भारतीय व विदेशी खेलों का प्रबन्ध किया गया है, जिसमें सभी छात्रों का भाग लेना अनिवार्य है।
2. नेतृत्व व शौर्य आदि गुणों को विकसित करने के लिए उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य सौंपे जाते हैं।
3. चित्रकला, संगीत, नृत्य व फोटोग्राफी आदि विषयों की व्यवस्था है, जिसमें छात्र इच्छानुसार विषय का चयन कर सकते हैं।
4. मानसिक विकास के लिए भाषा, गणित, भूगोल, विज्ञान आदि के शिक्षण की व्यवस्था है।
5. प्रत्येक वर्ष 1 से 3 दिसम्बर तक वार्षिक समारोह मनाया जाता है जिसमें सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं।
6. विशाल पुस्तकालय व वाचनालय की व्यवस्था की गयी है।

इस प्रकार श्री अरविन्द ने वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग पर बल दिया है जिससे बालक स्वयं अपने प्रयासों द्वारा अपनी क्षमताओं का विकास कर सके। निरीक्षण व परीक्षण पर उन्होंने अधिक बल दिया है, तथा परम्परागत पाठ्य पुस्तक विधि की आलोचना की है। पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री हरबर्ट की भाँति उन्होंने 'निकट से दूर' शिक्षण सूत्र की व्याख्या करके शिक्षण कार्य की दिशा व गन्तव्य की जानकारी दी है।

महात्मा गांधी

गांधी जी ने जिस नवीन शिक्षा योजना का विचार जनता के समक्ष रखा, उसमें शिक्षण विधि नितान्त नवीन है। वर्तमान शिक्षण पद्धति में शिक्षक व छात्र का कोई सम्पर्क नहीं रहता। अध्यापक अपना कार्य मात्र व्याख्यान देना समझते हैं तथा छात्र निष्क्रिय श्रोता के रूप में बैठे रहते हैं। इस प्रकार की दोषपूर्ण शिक्षण पद्धति के विपरीत गांधी जी ऐसी शिक्षण पद्धति को लाना चाहते हैं, जिसमें शिक्षक व छात्र के बीच की खाई कम हो और छात्र निष्क्रिय श्रोता के रूप में न होकर सक्रिय अनुसंधानकर्ता, निरीक्षणकर्ता व प्रयोगकर्ता के रूप में हों।

शिक्षण विधि में गांधी जी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन चाहते थे। इस परिवर्तन की दिशा में वे पहली बात चाहते थे कि शिक्षण का माध्यम मात्र भाषा हो। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि शिक्षण पुस्तकीय न हो, क्योंकि वह कहते थे कि पाठ्य पुस्तकों के प्रारम्भिक पाठ ही ऐसे विषयों से प्रारंभ होते हैं, जिनका

वास्तविकता से कोई संबंध नहीं होता। वे उन विषयों से संबंधित नहीं होते जिनसे बालक-बालिकाएँ अपने दैनिक घरेलू जीवन के सम्पर्क में आते हैं, वरन् पूर्णतः अनभिज्ञ विषय उन पुस्तकों में पाए जाते हैं। अपने घर व वातावरण से प्रेम और सौहार्द की शिक्षा उन्हें नहीं दी जाती, वरन् जितना ही बालक उच्च शिक्षा प्राप्त करता है, उतना ही वह अपने घर और वातावरण से दूर होता जाता है, उसमें घर के प्रति रुचि नहीं होती क्योंकि उन पुस्तकों में उसकी सभ्यता व संस्कृति का वीभत्स चित्रण होता है, जिसमें बताया जाता है कि उसकी संस्कृति बर्बर, पागलपन और अन्धविश्वास पर आधारित है और व्यावहारिक दृष्टि से बेकार है।[1] इसीलिए गांधी जी पुस्तकीय शिक्षा के स्थान पर व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करने पर बल देते हैं तथा किसी एक क्राफ्ट को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाते हैं। वह क्राफ्ट को मात्र मनोरंजन का साधन न मानकर चरित्र-निर्माण का साधन भी मानते हैं। उनका विश्वास है कि मस्तिष्क की सच्ची शिक्षा शारीरिक अंगों, हाथ, आँख, कान, नाक आदि के उचित अभ्यास और प्रशिक्षण से प्राप्त की जा सकती है। वह बालकों को लिखना सिखाने से पहले पढ़ना और वर्णमाला सिखाने से पहले रेखाएँ खींचना अर्थात् ड्राइंग का अभ्यास कराना चाहते हैं। गांधी जी का विचार है कि जो ज्ञान बालक अपने स्वयं के अनुभव द्वारा प्राप्त करता है, वह अति स्थायी और उपयोगी होता है। बालक इस ज्ञान का व्यावहारिक जीवन में सफलतापूर्वक स्थानान्तरण कर सकते हैं। उन्होंने विचार, वाचन और कर्म द्वारा सीखने पर बल दिया है, यदि इन तीनों क्रियाओं में से किसी का भी अभाव रहता है, तब वह अस्थायी और अनुपयोगी होगा।

गांधी जी ने सीखने की प्रक्रिया में विभिन्न विषयों में समन्वय स्थापित करने पर बल दिया है। क्राफ्ट केन्द्रित शिक्षा में विषयों का शिक्षण पृथक् विषयों के रूप में न होकर समन्वित ज्ञान के रूप में किया जाएगा। क्राफ्ट का शिक्षण केन्द्र बिन्दु होगा और सभी विषय क्राफ्ट में समन्वित किए जाएँगे।

बुनियादी शिक्षण हेतु गठित जाकिर हुसैन समिति के विवरण में वर्धा योजना की शिक्षण पद्धति के विषय में बताया गया कि बालक स्वभाव से चंचल होते हैं, इस कारण पुस्तकों से बंधे नहीं रह सकते। वर्धा शिक्षा योजना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उपयुक्त है क्योंकि यह विधि बालक के मस्तिष्क व हाथों में समन्वय बनाये रखती है। इससे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होता है और व्यक्ति उपयोगी कार्य करने में सक्षम हो जाता है। सामाजिक दृष्टि से भी

1. Young India, Vol. III, 1927-28, Ganesan, Madras, 1935, 21 June, 1928

इसका महत्त्व है, क्योंकि यह श्रम के महत्त्व से बालकों को परिचित कराती है और शारीरिक व मानसिक श्रम की खाई को कम करने का प्रयास करती है। आर्थिक रूप में बालकों को सक्षम बनाने के साथ ही साथ वह समय के सदुपयोग की शिक्षा भी प्रदान करती है, जिससे बालक रचनात्मक कार्यों हेतु अपने अवकाश का उपयोग करते हैं। समिति ने इस बात पर बल दिया है कि उद्योग-धन्धों का प्रशिक्षण वैज्ञानिक होना चाहिए। बालकों में प्रत्येक यन्त्र व क्रिया के बारे में यह भी ज्ञात होना चाहिए कि वह क्यों और किस लिए की जाती है।

समिति ने वर्धा शिक्षा योजना द्वारा उच्च नागरिकता के प्रशिक्षण का लक्ष्य भी सामने रखा। नागरिक अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकें तथा समाज के रचनात्मक कार्यकर्त्ता बन सकें। सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक लोकतंत्र में अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकें तथा संगठित सभ्य समाज के अंग के रूप में समाज के ऋण से किसी न किसी प्रकार उऋण हो सकें। समिति का कथन है कि इस योजना में विद्यालय व समाज में इतना गहरा संबंध होगा कि बालक स्कूल में सीखी बातों का प्रयोग समाज में कर सकेंगे तथा इस समाज की नींव सहयोग पर आधारित होगी।[1]

गांधी जी ने शिक्षा की नवीन योजना में श्रम को आध्यात्मिक एवं नैतिक महत्त्व प्रदान किया है। वह शिल्प के द्वारा बालक को गीता में वर्णित निष्काम कर्म के महत्त्व से परिचित कराना चाहते थे। उनके इसी प्रकार के चिन्तन और टॉलस्टाय फार्म पर किए गए उनके प्रयोगों के परिणामस्वरूप शिल्प केन्द्रित शिक्षा का उदय हुआ।

शैक्षणिक उपलब्धि के मूल्यांकन का आधार गांधी जी ने छात्रों द्वारा दिन प्रतिदिन के कार्य को बताया। वार्षिक परीक्षा तथा बाह्य परीक्षा के स्थान पर उन्होंने शिक्षकों द्वारा किए गए आंतरिक मूल्यांकन को उचित बताया है। शिक्षण कार्य का संगठन स्वयं के प्रयासों द्वारा सहयोगात्मक क्रियाओं पर आधारित होगा, जिसमें शिक्षक व छात्रों के मध्य प्रगाढ़ संबंध होंगे।

इस प्रकार गांधी जी ने अमेरिकी शिक्षा शास्त्री ड्यूवी के समान शिक्षण में क्रियात्मक पद्धति पर जोर दिया है। यह विचार भारतवर्ष में सर्वप्रथम गांधी द्वारा ही प्रसारित किया गया। इस दृष्टि से मनोवैज्ञानिक पद्धति का व्यावहारिक प्रयोग गांधी जी की शिक्षा जगत को अमूल्य देन है। पाठ्य-पुस्तक व व्याख्यान आदि परम्परागत विधियों को उन्होंने अनुपयुक्त बताया है।

---

1. वर्धा शिक्षा परिषद् 1937 और जाकिर हुसैन समिति का विवरण, हिन्दुस्तानी तालीमी सेवा संघ प्रकाशन, वर्धा, 1939, पृ० 125

डॉ० राधाकृष्णन

डॉ० राधाकृष्णन शिक्षण विधि के अन्तर्गत निरीक्षण विधि, प्रयोग विधि तथा प्रकृति व समाज से सम्पर्क को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। विषय वस्तु के अतिरिक्त उन्होंने अनौपचारिक शिक्षा पर भी जोर दिया। उनका विचार है कि विश्वविद्यालयों में एक ऐसा विभाग होना चाहिए जो उनकी परिधि से बाहर उपयुक्त केन्द्रों में व्याख्यानों का समुचित प्रबन्ध करे। विशिष्ट विषयों का अध्ययन भी कराया जाना चाहिए। डॉ० राधाकृष्णन समाज को भावी खतरों से सावधान करते हुये यह भी कहते हैं कि यदि हमको व्यावसायिकों के निरंकुश शासन के खतरे से बचना है और अपनी अज्ञानी बनकर प्रशंसा करने की प्रवृत्ति की ओर फिर से नहीं लौटना है तो हमें एक विराट् शिक्षा की आयोजना करनी होगी, इसके लिए उन्होंने ग्रामीण क्षेत्र में अनौपचारिक शिक्षण द्वारा जागृति लाने का प्रयास करने का आह्वाहन किया।[1]

डॉ० राधाकृष्णन का मत है कि नैतिक आदर्शों की शिक्षा निर्देशन और वास्तविक उदाहरण द्वारा देनी चाहिए। औद्योगिक प्रशिक्षण में वह अनुकरण के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह मानव को चिन्तन व योगाभ्यास की ओर प्रवृत्त करते हैं। विभिन्न विषयों के अनुभव हेतु अन्तर्ज्ञान के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अनुकरण प्रत्यक्षण, अन्तर्ज्ञान, चिन्तन, योगाभ्यास, प्रयोग आदि विधियों का समर्थन करते हुए वह कहते हैं कि 'शरीर ही विचार निमग्न हो' उनका कथन है कि सम्पूर्ण प्राणी ही विचार कर सकता है। मनुष्य को हमें मात्र बुद्धि व्यवसायी जीव ही नहीं समझना चाहिए, बुद्धि में उठे हुए विचार अचेतन में जाकर हमारे चेतना चेतन सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करते हैं और हमारे शब्द, हमारे विचार साकार रूप में धारण करते हैं। वह कहते हैं कि बिना परिश्रम के ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। ज्ञान प्राप्ति के लिए अतिशय चिन्तन और कठिन आभ्यान्तरिक परिश्रम की आवश्यकता होती है। जब हमारे मानस क्षेत्र में रहने वाले विचार क्रियाशील होकर हम पर शासन कर लें और हममें क्रान्ति उत्पन्न करके नया जीवन दें तब ज्ञान ही जीवन बन जायेगा। अपने स्वप्नों को साकार करने के लिये उन्हें हृदय रक्त से सींचने की आवश्यकता होती है उसी समय हम अपनी संस्कृति को ग्राह्य कर सकते हैं। इस संस्कृति की प्राप्ति पर ही आत्मिक शक्ति, मानसिक निरोगता व स्वभाव माधुर्य की प्राप्ति होती है।[2]

---

1. डॉ० राधाकृष्णन— 'स्वतन्त्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृ० 51
2. डॉ० राधाकृष्णन— 'स्वतंत्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली 1974, पृ० 32

डॉ० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में गठित विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने प्रचलित शिक्षण पद्धति की आलोचना की है, तथा उसके सुधार हेतु सुझाव भी दिये हैं। आयोग का विचार है कि विश्वविद्यालयों में शिक्षण स्तर निम्न है, इसी कारण हमारे देश की उपाधियों को विदेशों में सम्मान नहीं प्राप्त होता है, इसलिए शिक्षण स्तर को उच्च उठाने की आवश्यकता है साथ ही अनुसंधान कार्य भी उच्च कोटि का होना चाहिए। आयोग का विचार है कि विभिन्न विषयों में किये जाने वाले प्रायोगिक कार्यों का स्तर भी अत्यन्त निम्न है इससे छात्रों को व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता है। आयोग के विचार से परीक्षा पद्धति में भी सुधार अपेक्षित है। शिक्षण पद्धति के सुधार हेतु आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं—

1. प्रत्येक प्रान्त में अधिक संख्या में माध्यमिक स्कूलों की स्थापना की जाए तथा उनमें योग्य शिक्षकों व पर्याप्त शिक्षण सामग्री की व्यवस्था की जाए।
2. माध्यमिक शिक्षा के पश्चात् तकनीकी व व्यावसायिक शिक्षा की ओर छात्रों को प्रोत्साहित किया जाए।
3. विश्वविद्यालयों में छात्रों की संख्या को नियंत्रित किया जाए।
4. शिक्षकों के लिए अभिनव पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की जाए।
5. शिक्षण कार्य के दिन वर्ष में कम से कम 180 हों।
6. व्याख्यान परिश्रम से तैयार किये जाएँ। ट्यूटोरियल कक्षाओं तथा पुस्तकालय में अध्ययन व लेखन की व्यवस्था की जाए।
7. अध्ययन के पाठ्यक्रम के लिए पाठ्य पुस्तकें निश्चित न की जाएँ।
8. व्यक्तिगत परीक्षार्थियों को नियंत्रित किया जाए, योग्य को ही परीक्षा देने की अनुमति दी जाए।
9. व्यवसाय में कार्यरत व्यक्तियों के लिए सायंकालीन कक्षाएँ चलायीं जाएँ।
10. स्नातकोत्तर कक्षाओं में विचार गोष्ठियों को प्रोत्साहित किया जाए।
11. पुस्तकालयों को अधिक समृद्ध बनाया जाए व अधिक समय तक खुला रखा जाए। इनमें प्रशिक्षित पुस्तकालयाध्यक्षों की नियुक्ति हो तथा 'खुली अलमारी पद्धति' हो।
12. प्रयोगशालाओं में पर्याप्त भवन, प्रयोग सामग्री हो। छात्रों को वैज्ञानिक यंत्र बनाने और अधिक प्रयोगात्मक कार्यों को करने के

लिए प्रोत्साहित किया जाए।

13. वार्षिक परीक्षा में कुछ अंक प्रतिदिन के कक्षा कार्य के लिए रखे जाएँ।
14. कम वेतन पाने वाले शिक्षकों को पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ आदि खरीदने के लिए अनुदान दिया जाए।

इस प्रकार आयोग ने शिक्षण को प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये; जैसे— प्रयोगात्मक कार्य अधिक कराए जाएँ, पुस्तकालयों में उचित व पर्याप्त व्यवस्था हो, सायं कक्षाओं का आयोजन किया जाए तथा ट्यूटोरियल कक्षाएँ चलाई जाएँ और शिक्षकों के लिए अभिनव पाठ्यक्रमों की व्यवस्था हो। इसके अतिरिक्त डॉ० राधाकृष्णन ने प्राचीन विधियों जैसे अन्तर्ज्ञान, चिन्तन, योगाभ्यास के साथ-साथ नवीन विधियों जैसे निरीक्षण, प्रयोग आदि को समान महत्त्व प्रदान किया जाए।

आचार्य विनोबा भावे

आचार्य विनोबा भावे ने दो प्रकार के शिक्षण की व्यवस्था की है। प्रथम आंतरिक शिक्षण है जो कक्षा के अन्दर प्राप्त होता है। द्वितीय बाह्य शिक्षण है जोकि इस अनन्त विश्व के प्रत्येक पदार्थ से मानव को लगातार प्राप्त होता रहता है उसमें कभी बाधा नहीं पड़ती। वृक्ष, वनस्पति, पुष्प, नदियाँ, पर्वत, आकाश, तारे सभी अपने-अपने ढंग से मनुष्य को शिक्षा दे रहे हैं। जीवन जीने की क्रिया ही शिक्षण है। आचार्य विनोबा का कथन है कि जो बिना किसी पद्धति के पद्धतियुक्त या व्यवस्थित बनता है, जिसे कोई भी गुरु नहीं दे सकता, फिर भी जो दिया जाता है, शिक्षण का यही अनिर्वचनीय रूप है। इसलिए दिव्य दृष्टि सम्पन्न महात्माओं ने यही उद्गार व्यक्त किए कि शिक्षा कैसे दी जाए, हम यह नहीं जानते। शिक्षा पद्धति, पाठ्यक्रम, समय पत्रक ये सब अर्थ-शून्य शब्द हैं, उनमें आत्म-वंचना ही मिलती है जब जीने की क्रिया से भिन्न 'शिक्षण' नाम की कोई स्वतंत्र क्रिया बन जाती है तब किसी विजातीय द्रव्य के शरीर में प्रविष्ट होने पर संभाव्य दुष्परिणाम की तरह शिक्षा का भी मन पर विषैला और रोगयुक्त प्रभाव पड़ता है।[1]

आंतरिक शिक्षण के अन्तर्गत विनोबा जी ने व्यावहारिक कला को शिक्षा का माध्यम बनाया है। उनके विचार से यह कला साध्य व साधन दोनों है। साधन रूप में यह व्यक्ति की समस्त अंतरंग शक्तियों के विकास का कार्य करती

---

1. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 9, 19

है, और साध्य रूप में यह भविष्य में व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाकर एक सम्मानपूर्ण जीवन का मार्ग प्रशस्त करती है। उनके विचार से जिस कला का भी चुनाव किया जाए वह वहाँ के आर्थिक, भौगोलिक व सामाजिक वातावरण के अनुकूल होनी चाहिए। अपनी शिक्षण पद्धति को उन्होंने समवाय पद्धति कहा है। इस पद्धति में ज्ञान व कर्म दोनों का समन्वय है। वह कहते हैं कि इस पद्धति में ज्ञान व कर्म दोनों एकरूप हो जाते हैं। कर्म से ज्ञान मिलता है, ज्ञान से कर्म सम्पन्न होता है, और ज्ञान तथा कर्म दोनों के मिलने से चित्त का विकास होता है। देखने में तो बालक कर्म करता दिखाई पड़ता है, लेकिन भीतर से वह ज्ञान प्राप्त करता रहता है, शिक्षक उसकी सहायता के लिए निमित्त मात्र रहता है।[1]

समवाय पद्धति की कुछ विशेषतायें हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

1. *समवाय पद्धति की प्रथम विशेषता व्यावहारिक ज्ञान है।* कर्म करते हुए जो समस्याएँ बालक के सम्मुख आयेंगी उनका समाधान उसको आना चाहिये। विनोबा जी भगवद्गीता का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि अर्जुन के सम्मुख प्रत्यक्ष कर्त्तव्य करते हुए सवाल उत्पन्न हुआ और उसका उत्तर देने के लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसी का नाम शिक्षा है। उनका विचार है कि बालकों को खेत पर काम करने दो, यदि वहाँ कोई प्रश्न उत्पन्न हो तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टिशास्त्र अथवा पदार्थ विज्ञान की या दूसरे जिस विषय की भी आवश्यकता हो, उसका ज्ञान दो। यही सच्चा शिक्षण होगा।[2] पाठशाला में बच्चे की रुचि के अनुसार कार्य का विवरण किया जाए, इससे वह रुचिपूर्वक अध्ययन करेगा और उसमें स्वतः ही कर्त्तव्यनिष्ठा, चित्त की एकाग्रता, सतर्कता आदि गुणों का विकास होगा। साथ ही उसमें उपयोगितावादी दृष्टिकोण पनपेगा और वह सौन्दर्यानुभूति भी कर सकेगा।

2. समवाय पद्धति की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें बालकों के मन, बुद्धि व शरीर तीनों का सन्तुलित विकास होता है। मन के आधार पर वह स्वयं को उस वातावरण से अनुकूलित करता है जिसमें उसको कार्य करना होता है। उद्योग द्वारा विद्यार्थियों में शास्त्रीय बुद्धि का विकास होता है, जिसमें वह किसी वस्तु का विश्लेषण करना, समायोजन करना, तथा वर्गीकरण व सारणीयन सीखता है। इससे वह किसी कार्य के सम्भावित परिणामों की जाँच करना भी सीख जाता है तथा वस्तुओं व घटनाओं की तुलना करने में उसमें

---

1. –वही– पृष्ठ 100
2. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० ३४

साहचर्य की खोज भी वह कर सकता है।[1] रुचिपूर्वक कार्य करते समय वह खेल-खेल में व्यायाम भी कर लेता है। विनोबा जी का विचार है कि यदि छात्र यह समझने लगे कि मैं शिक्षा ग्रहण कर रहा हूँ तो शिक्षण प्रक्रिया नीरस हो जाती है। छोटे बच्चों के लिए खेलना उत्तम व्यायाम है, क्योंकि खेलने में व्यायाम तो हो जाता है, लेकिन 'हम व्यायाम कर रहे हैं' ऐसा अनुभव नहीं होता। वस्तुतः इसमें खेलना आनन्द व मनोरंजन का साधन रहता है। व्यायाम कर्त्तव्य रूप नहीं होता। यही प्रक्रिया सभी प्रकार की शिक्षाओं पर भी लागू होनी चाहिए।[2] कार्य करने से बालक श्रम के प्रति सम्मान करने लगते हैं और भविष्य में सभी परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं।

3. इस पद्धति में बालकों को अपने श्रम का फल शीघ्र ही मिल जाता है, इससे उनकी क्रियाशीलता में और अधिक वृद्धि हो जाती है और वह अधिक कुशलता से कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं।

विद्यालय की शिक्षण प्रक्रिया के अतिरिक्त विनोबा जी ने स्वाध्याय पर भी अत्यधिक बल दिया है। वह कहते हैं कि अध्ययन में रुचि लेने वाला व्यक्ति प्रत्येक कार्य के साथ-साथ स्वाध्याय भी करता है। वह प्राचीन ऋषियों के उपदेश जनता के समक्ष रखते हैं, कि हर काम करो, पर उसके साथ ही स्वाध्याय व प्रवचन भी करो। सत्य में, तप में, जनसेवा कार्य में तथा गृहस्थाश्रम के सभी कार्यों के साथ-साथ स्वाध्याय व प्रवचन भी करना चाहिए। विद्याभ्यास इस ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि ही करता जाता है, इसे किसी भी परिस्थिति में छोड़ना नहीं चाहिए।[3]

इस प्रकार विनोबा जी ने परम्परागत स्वाध्याय विधि के साथ-साथ अति आधुनिक मनोवैज्ञानिक विधियों के प्रयोग पर भी बल दिया है, जो शिक्षा जगत में सक्रियता को प्रोत्साहन देता है और आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उपयोगी व व्यावहारिक कदम है, उन्होंने नितान्त सैद्धान्तिक ज्ञान की आलोचना की है।

वास्तव में शिक्षण विधि विषय-वस्तु से प्रभावित होती है। सैद्धान्तिक विषयों के शिक्षण हेतु अन्तर्दृष्टि, व्याख्यान व निगमन पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है, जबकि व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करने के लिए क्रियात्मक विधियाँ प्रयुक्त होती हैं। विभिन्न शिक्षा दार्शनिकों द्वारा अपनाई गई शिक्षण पद्धतियों में से कुछ प्राचीन व कुछ आधुनिक शिक्षण प्रणालियाँ हैं।

---

2. –वही– पृ० 149

2. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 13

3. –वही– पृ० 86

1. **अन्तर्दृष्टि की विधि :** जीवन में विभिन्न क्रियाओं के माध्यम से व्यक्ति को कुछ अनुभव प्राप्त होता है। इसी अनुभव की निरन्तर वृद्धि से मनुष्य में निरन्तर चेतना का विकास होता रहता है। चेतना व्यक्ति को अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है जिससे व्यक्ति किसी समस्या का अकस्मात् हल ढूँढ़ सकता है। इस शक्ति का विकास निरन्तर चिन्तन करते रहने से होता है। शंकराचार्य ने अन्तरंग साधनों द्वारा शिक्षा प्राप्त करने पर बल दिया है, ये साधन, विवेक, वैराग्य, शमदमादि षटसम्पन्न और मोक्ष हैं। इन साधनों द्वारा मनुष्य में स्वतः ही अन्तःचेतना का विकास होता है, जिससे वह किसी भी वस्तु की गहन खोज कर सकता है। इह प्रकार शंकराचार्य ने अपरोक्ष रूप से इस विधि को स्वीकार किया है। श्री अरविन्द व्यक्ति की चेतना के उच्च स्तर अति मानव को प्राप्त करना चाहते हैं। उनके अनुसार अन्तर्दृष्टि कम ही व्यक्तियों में पायी जाती है, अभी यह क्षमता विकसित दशा में है। अतः शिक्षा को इसकी प्राप्ति में सहयोग करना चाहिए। डॉ० राधाकृष्णन विषयों की प्रकृति के अनुकूल शिक्षण विधि प्रयोग करने पर बल देते हैं। उनका विचार है कि विषयों का गहन अध्ययन करने के लिए अन्तर्ज्ञान की आवश्यकता है। श्री अरविन्द के योग में इसके दर्शन होते हैं। अन्य शिक्षा शास्त्रियों ने इस विधि की ओर ध्यान नहीं दिया है।

2. **व्याख्यान विधि :** प्राचीन शिक्षा शास्त्रियों का विचार है कि इस विधि के द्वारा अध्यापक वस्तुनिष्ठ ज्ञान देता है। व्याख्यान के द्वारा कलात्मक रचनाएँ और सौन्दर्यानुभूति की भावना जागृत की जा सकती है। व्याख्यान विधि प्राचीन काल की प्रमुख शिक्षण पद्धति है, जिसका आधुनिक समय में भी प्रयोग किया जाता है। शंकराचार्य ने उपदेश देते समय इस विधि का प्रयोग किया है। दयानन्द सरस्वती भी इस विधि को प्राथमिकता देते हैं। मदन मोहन मालवीय ने साहित्यिक विषयों के शिक्षण हेतु इस विधि को उपयुक्त बताया है। अन्य शिक्षा शास्त्री सीमित मात्रा में इसको स्वीकार करते हैं। व्याख्यान विधि में नीरसता व यांत्रिकता आ जाने के कारण आधुनिक काल में इसका महत्त्व कम हो गया है। व्याख्यान विधि का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें छात्र निष्क्रिय श्रोता बनकर रह जाता है। इसी कारण स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्र नाथ टैगोर, महात्मा गांधी और आचार्य विनोबा ने इस विधि को अपने विचारों में कोई स्थान नहीं दिया है।

3. **पाठ्य पुस्तक विधि :** पाठ्य पुस्तक एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा निश्चित व संकलित ज्ञान प्राप्त हो जाता है और ज्ञान प्राप्ति के लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता होती है। प्राचीन काल में प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन ही प्रमुख विषय वस्तु थी, इस कारण यह विधि सर्वाधिक प्रचलन में रही।

शंकराचार्य, दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन पर बहुत बल दिया है। लेकिन अन्य शिक्षा शास्त्री मात्र सूचनाएँ प्रदान करो वाली शिक्षा की आलोचना करते हैं और व्यावहारिक प्रशिक्षण पर अधिक बल देते है, इस कारण पाठ्य पुस्तकों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी मात्र पाठ्य पुस्तक केन्द्रित शिक्षा को अनुपयुक्त बताते हैं। टैगोर, महात्मा गांधी तथा विनोबा भावे ने पाठ्य पुस्तकों द्वारा अध्यापन को अपने शिक्षण क्षेत्र में कोई स्थान नहीं दिया है।

4. प्रश्नोत्तर विधि : यह विधि भी अत्यन्त प्राचीन विधि है, इसका प्रयोग आदि कालीन शंकराचार्य तथा पाश्चात्य दार्शनिक सुकरात ने भी किया है। कक्षा की नीरसता को दूर करने के लिए तथा बालकों की जिज्ञासा प्रवृत्ति को शान्त करने के लिए यह अति उत्तम पद्धति है। इसमें बच्चे का मस्तिष्क सक्रिय रहता है और वह विषय को गम्भीरता से समझ सकता है। इस विधि का प्रयोग प्राचीन तथा आधुनिक सभी शिक्षा शास्त्रियों ने किया है। इस विधि के प्रयोग से बालक में तार्किक शक्ति का विकास होता है, जिससे वह सही निर्णय लेने के योग्य बन जाता है। स्वामी विवेकानन्द बालक को स्वतन्त्र चिन्तन का अवसर प्रदान करते हैं तथा शिक्षक को एक सहायक रूप में स्वीकार करते हैं, जो सयय-समय पर उठने वाले प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है। टैगोर तार्किक शक्ति के विकास के लिए वाद-विवाद व प्रश्नोत्तर विधि को प्रयोग करते हैं। मदनमोहन मालवीय सैद्धान्तिक विषयों के अध्ययन में इस विधि को महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा श्री अरविन्द की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र ही मानसिक व तार्किक शक्तियों का विकास है। इस प्रकार यह शिक्षा शास्त्री परोक्ष रूप में प्रश्नोत्तर विधि को अपनाते हैं। महात्मा गांधी तथा विनोबा जी का विचार है कि प्रयोगात्मक कार्य करते समय विभिन्न समस्याएँ बालक के सम्मुख आती हैं, जिनका समाधान वह प्रश्न पूछकर शिक्षक द्वारा प्राप्त करेगा। इसलिए प्रश्नोत्तर विधि इनके द्वारा भी मान्यता प्राप्त करती है।

5. निगमन विधि : प्राचीन समय में निगमन विधि का प्रयोग सिद्धान्तों का ज्ञान प्रदान करने हेतु किया जाता था। इसमें विषय वस्तु को सांश्लिष्टात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है, विभिन्न भागों का अलग-अलग अध्ययन नहीं कराया जाता। शंकराचार्य व दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन ग्रंथों का ज्ञान प्रदान करने हेतु उस विधि का प्रयोग किया। सभी सामग्री को कंठस्थ कराना भी इसमें सम्मिलित है। अन्य भारतीय दार्शनिकों ने इस विधि का प्रयोग नहीं किया है, उन्होंने आगमन विधि के प्रयोग पर अधिक बल दिया है।

6. स्वाध्याय विधि : दार्शनिकों का विचार है कि ज्ञान की सम्पूर्ण राशि कक्षा की सीमा में प्रदान नहीं की जा सकती। समय परिवर्तन के साथ-

साथ विषय वस्तु में भी परिवर्तन होता रहता है, अतः निरन्तर नवीन ज्ञान के अर्जन हेतु स्वाध्याय परम आवश्यक है। इस विधि का महत्त्व आदि काल से आधुनिक काल तक सर्वसम्मति से स्वीकार किया जाता रहा है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसको छात्रों के लिए आवश्यक बताया है। स्वामी विवेकानन्द एकाग्रता की शिक्षा देते हुए इस पद्धति को स्वीकार करते हैं। टैगोर, अरविन्द, गांधी व विनोबा जी का विचार है कि बालक स्वयं करने व स्वयं के अनुभवों से शिक्षा ग्रहण करें। स्वाध्याय की आदत डालने पर ही व्यक्ति समाज की विभिन्न घटनाओं की जानकारी रख सकता है, इससे उसे समाज से सामंजस्य स्थापित करने में भी सहायता मिलती है।

7. **निरीक्षण विधि :** यह आधुनिक शिक्षण पद्धति है लेकिन भारतीय शैक्षिक परम्परा में प्राचीन काल से विद्यमान है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जब आयुर्वेद की शिक्षा देने का विचार रखते हैं जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष निरीक्षण व परीक्षण पर ही संभव है तब वह व्यावहारिक शिक्षा पर बल देते हैं। स्वामी विवेकानन्द पुस्तकीय शिक्षा के स्थान पर प्रत्यक्ष जानकारी प्रदान करने पर बल देते हैं, और टैगोर ने तो समस्त विद्यालय को ही एक प्रयोगशाला में परिवर्तित कर दिया है जहाँ सब ज्ञान प्रत्यक्ष निरीक्षण व प्रयोग द्वारा प्राप्त किया जाता है। उन्होंने भ्रमण की भी शिक्षा का माध्यम बताया है। मदनमोहन मालवीय की सम्पूर्ण तकनीकी शिक्षा निरीक्षण व परीक्षण पर ही आधारित है। श्री अरविन्द बाल्यावस्था में ही सृष्टि के निरीक्षण द्वारा बालक की ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करना चाहते हैं। डॉ० राधाकृष्णन वैज्ञानिक विषयों के अध्यापन हेतु इस विधि को स्वीकार करते हैं, तथा विनोबा भावे जी भी बाह्य शिक्षण के विचार के अन्तर्गत समस्त प्रकृति को शिक्षक मानते हैं और उसके अध्ययन द्वारा बालक को ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इस प्रकार भारतीय शिक्षा शास्त्रियों में से शंकराचार्य के अतिरिक्त अन्य सभी दार्शनिकों ने निरीक्षण विधि को महत्त्वपूर्ण माना है।

8. **स्वक्रिया विधि :** शिक्षा जगत में मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के साथ-साथ ही मनोवैज्ञानिक शिक्षण विधियों का श्रीगणेश हुआ। इन विधियों का आधार पाठ्य विषय वस्तु के स्थान पर बालक की रुचियाँ व क्षमताएँ होती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बालक का सर्वोत्तम व सर्वाधिक विकास उसकी रुचि के अनुरूप कार्य प्रदान करके किया जा सकता है। तभी वह अपने प्राकृतिक रूप में विकास भी करता है। इन्हीं विधियों में स्वक्रिया विधि भी है। इसके अनुसार बालक किसी भी कार्य को स्वयं सम्पन्न करके भली प्रकार सीख सकता है क्योंकि उसका मस्तिष्क व शरीर दोनों क्रियाशील हो उठते हैं और वह कार्य व्यवहार में आने वाली बाधाओं से भी भली प्रकार परिचित हो जाता है।

भारतीय शिक्षा दार्शनिकों में से रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी तथा विनोबा जी ने इस विधि को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने अपने शैक्षिक प्रयोगों का आधार व्यावहारिक प्रशिक्षण ही रखा है। मदनमोहन मालवीय व श्री अरविन्द भी इस विधि को महत्त्व देते हैं। डॉ० राधाकृष्णन वैज्ञानिक विषयों के शिक्षण हेतु इस विधि को अपनाते हैं। स्वामी विवेकानन्द का मत है कि बालक को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जाए तथा वह निरीक्षण के द्वारा अपने ज्ञान को अर्जित करे व निरन्तर अभ्यास से ज्ञान को स्थायी बनाएँ। इस प्रकार विवेकानन्द भी बाल मनोविज्ञान के अध्ययन के पश्चात् ही शिक्षा का प्रारूप तैयार करते हैं क्योंकि बालक अपनी प्रकृति के अनुसार ही विकास करता है। माता-पिता या शिक्षकों को किन्हीं पूर्व निर्धारित विशिष्ट विषयों की शिक्षा ग्रहण करने के लिए उन पर दबाव नहीं डालना चाहिए, उसे स्वयं प्रयासों द्वारा ज्ञान अर्जित करने का अवसर प्रदान करना चाहिए। इस परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य के अतिरिक्त लगभग सभी शिक्षा शास्त्रियों ने कुछ सीमा तक इस विधि को अपनाया है लेकिन पूर्ण प्रायोगिक रूप में यह पद्धति रवीन्द्रनाथ टैगोर, गांधी जी, विनोबा जी की शिक्षा नीति में ही दृष्टिगोचर होती है।

शंकराचार्य

शंकराचार्य के अनुसार सर्वोच्च ज्ञान ब्रह्मज्ञान है और जब तक ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक यह सांसारिक वस्तुयें भी सत्य हैं अर्थात् अस्तित्ववान हैं। जिस प्रकार का भेद परमार्थिक व व्यावहारिक सत्ता के मध्य है, उसी प्रकार का भेद गुरु व शिष्य के मध्य शंकराचार्य पाते हैं। उनके अनुसार गुरु वह है, जिसने ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लिया है तथा शिष्य वह है जो इस लक्ष्य की प्राप्ति में लगा हुआ है अर्थात् जिसे अभी ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, उसका ज्ञान इन सांसारिक तथ्यों से ही संबंधित है। गुरु शिष्य से उसी प्रकार श्रेष्ठ है जिस प्रकार इस नष्टप्राय: संसार से ब्रह्म श्रेष्ठ है। इसी सन्दर्भ में शंकराचार्य की शिक्षक व शिष्य के संबंध में कुछ मान्यताएँ हैं, जो निम्न प्रकार से हैं—

उनके मत से शिक्षक को सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना चाहिए क्योंकि स्वयं इस मोह माया से दूर रह कर ही शिक्षक अन्य व्यक्तियों को इस मार्ग पर चलने का उपदेश दे सकता है, इसलिए स्वयं ब्रह्म की अनुभूति करने के पश्चात् ही वह शिक्षक बनने के योग्य हो सकता है। वेदान्त के मत से सत्य ज्ञान प्राप्ति के लिए किसी गुरु का होना अवश्यम्भावी है, बिना गुरु की सहायता से कोई भी व्यक्ति सत्य मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकता। गुरु का शिष्य पर

प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रकार का प्रभाव पड़ता है। प्रत्यक्ष रूप में गुरु जो शिक्षा देता है, उसे शिष्य ग्राह्य करता है तथा परोक्ष रूप में गुरु की बोल-चाल, भाषा, रहन-सहन, व्यवहार आदि का प्रभाव बालक पर पड़ता है। बालक में अनुकरण करने की प्रवृत्ति होती है, अतः सही दिशा निर्देश हेतु शिक्षक का ब्रह्मज्ञानी होना व आदर्श चरित्रवान होना अति आवश्यक है। इसीलिए शंकराचार्य लिखते हैं कि प्रत्येक छात्र को ऐसे गुरु से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जो संयमी हो, जिसका मन स्वस्थ हो और जिसके हृदय में छात्रों के प्रति प्रेम हो। शिक्षण की प्रक्रिया में श्रवण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्याख्यान देते समय शिक्षक व छात्र में आमने-सामने के निकट संबंध होते हैं तथा विद्यार्थी वाद विवाद द्वारा भी अपनी समस्याओं का समाधान चाहते हैं। इस कारण आदर्श चरित्र तथा ब्रह्मज्ञान दोनों ही गुरु की अवश्यम्भावी विशेषताएँ हैं।

शिक्षण कार्य में गुरु भी अपनी पूर्णता को प्राप्त करना है। प्रारम्भ में जब वह शिक्षण कार्य प्रारम्भ करता है, तब छात्र को वह व्यक्तिगत छात्र के रूप में देखता है लेकिन निकट सम्पर्क होने के कारण उसमें सभी छात्रों के प्रति सामुदायिक भावना का उदय होता है उसमें सबमें एक ही आत्मा के दर्शन होते हैं और धीरे-धीरे सभी विभिन्नताएँ लुप्त हो जाती हैं।

अन्य जीवधारियों की भाँति छात्र भी शरीर व आत्मा के संयोग से बना हुआ है। समस्त ब्रह्माण्ड तथा उसके तत्त्वों से निर्मित शरीर नाशवान है, इनकी सत्ता सार्वकालिक नहीं है। इस प्रकार सृष्टि अज्ञान या माया की उत्पत्ति है, उसी प्रकार शरीर भी माया की सृष्टि है। वास्तविक सत्ता आत्मा है जो ब्रह्म से तादात्म्य रखती है। सभी छात्रों में उसी एक आत्मा का वास है। छात्रों में भिन्नता का कारण उनके कार्य व्यवहार, शारीरिक भौतिक सत्ता तथा अन्य वाह्य कारण हैं। सामाजिक व्यवस्था के कारण भी अनेक प्रकार के विभेद छात्रों के मध्य किए जाते हैं जैसे— जाति-वर्ण तथा वर्ग आदि के आधार पर। किन्तु अपने मूल रूप में सब छात्र एक समान हैं, एक ही प्रकार के तत्त्वों से निर्मित हैं तथा एक ही ब्रह्म का अंश है। अद्वैत वेदान्त आत्मा की एकता में ही विश्वास रखता है।

शंकराचार्य ने ब्रह्म के दो लक्षण बताए हैं, प्रथम स्वरूप लक्षण तथा द्वितीय तटस्थ लक्षण। जो लक्षण वस्तु की वास्तविक प्रकृति बताते हैं उन्हें स्वरूप लक्षण कहा जाता है तथा जो अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता बताते हैं, उन्हें तटस्थ लक्षण कहते हैं। छात्रों के कार्यों व्यवहारों में भिन्नता के कारण उनमें हमको विभिन्न एन्द्रिक, मानसिक व बौद्धिक भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं, इनको शंकराचार्य छात्र के तटस्थ लक्षण बताते हैं। अपने वास्तविक रूप में सभी छात्र एक समान हैं जोकि उनका स्वरूप लक्षण है। छात्रों से निरन्तर

में निरन्तर सम्बन्ध बढ़ने व उनके विषय ज्ञान में वृद्धि होने से सभी विभिन्नताएँ समाप्त हो जाती हैं और एकता ही रह जाती है। परन्तु इसकी जानकारी कम विद्वान ही कर पाते हैं और इस दृष्टिकोण को व्यवहार में लाने का श्रेय बहुत कम गुरुओं को प्राप्त होता है, क्योंकि आत्मानुभूति के बिना यह कार्य असम्भव है। शंकराचार्य इस व्यावहारिक कठिनाई से भिज्ञ थे, अतः उन्होंने व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस संसार को सत्य मानते हुए छात्रों की विभिन्नताओं को भी स्वीकार किया है, तथा छात्र के शरीर, उसके वातावरण तथा उसके आत्मिक तत्त्व की जानकारी प्राप्त करने व उसके अनुरूप उसके साथ व्यवहार की विवेचना की है। जहाँ तक स्वरूप लक्षण का प्रश्न है, उसमें सभी छात्र समान हैं और सभी विभिन्नताएँ मिथ्या हैं।

इस प्रकार शंकराचार्य गुरु व शिष्य में आत्मिक सम्बन्ध की आवश्यकता महसूस करते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती

महर्षि दयानन्द सरस्वती का विचार है कि सत्य की प्रामाणिकता, मूल्यों का निर्धारण और आदर्श की स्थापना शिक्षक के द्वारा ही संभव है, इसलिए शिक्षक को सद्गुणी व सर्वगुणसम्पन्न होना चाहिए। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह ब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करे। अध्यापक सत्य ज्ञान का द्रष्टा होता है जिसके अभाव में शिक्षार्थी सत्य ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकता। परन्तु यह बात प्रदीप्त व्यक्तित्व वाले शिक्षक पर ही निर्भर है। शिक्षक के गुणों की विवेचना करते हुए वह कहते हैं कि जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता है, जिनका स्वभाव सुन्दर शीलयुक्त है, जो सत्य भाषण करते हैं तथा अभिमान व अपवित्रता से रहित हैं, जो सत्य के उपदेश व विद्या दान से अन्य लोगों की मलिनता को दूर करते हैं, वह नर व नारी धन्य हैं। उनका विचार है कि 8 वर्ष की अवस्था में छात्राओं को छात्राओं की शाला में तथा छात्रों को छात्रों के विद्यालय में भेज दें और वह कहते हैं कि जो अध्यापक दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलाएँ। भावपूर्ण विद्यायुक्त व धार्मिक व्यक्ति ही विद्या दान के योग्य हैं।[1]

महर्षि दयानन्द का कथन है शिक्षक व छात्र दोनों में घनिष्ठ संबंध होना चाहिए। माता-पिता व अन्य संबंधियों से छात्र-छात्राएँ दूर रहें। पाठशालाएँ शहर व ग्राम से दूर होनी चाहिएँ। उनमें सभी वर्गों व जातियों के छात्र-

---

1. महर्षि दयानन्द सरस्वती— 'सत्यार्थ प्रकाश', आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, विक्रम 2026, पृ० 49

छात्राओं के लिए समान वस्त्र, खान-पान व आसन दिए जाएँ। सभी छात्रों को तपस्वी होना चाहिए। माता-पिता अपनी सन्तानों से न मिलें और न ही पत्र व्यवहार करें। भ्रमण आदि के समय शिक्षक विद्यार्थियों के साथ रहें।[1]

महर्षि दयानन्द विद्यार्थियों को गुरु के चरणों में विद्याध्ययन का उपदेश देते हैं। विद्यार्थियों में ज्ञान के प्रति जिज्ञासा की प्रवृत्ति होना आवश्यक है तभी वह कुछ अर्जित कर सकता है। छात्र को शुद्ध आचरण करने वाला व सत्य का पालन करने वाला होना चाहिए। कठोर आत्मनियंत्रण में रहते हुए एकाग्रचित्त अध्ययन से ही विद्यार्थी कुछ सीख सकता है। उनके अनुसार विद्यार्थी को अनुशासन में रहना चाहिए तथा नियमित, संयमित और ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करना चाहिए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती शिक्षकों व छात्रों दोनों से जन-कल्याण की अपेक्षा करते हैं। वह लिखते हैं कि विद्वानों और विद्यार्थियों को सभी प्रकार के बैर त्याग कर मानव मात्र के कल्याण हेतु मधुर और सुशीलतायुक्त वाणी में उपदेश करना चाहिए। जो व्यक्ति धर्म की उन्नति चाहते हैं, वह सदा सत्य का आचरण करें व सत्य का ही उपदेश दें। उनके अनुसार जिन मनुष्यों की वाणी और मन शुद्ध होते हैं तथा सदैव सुशिक्षित रहते हैं, वही सब वेदों के वास्तविक आनन्द फल को प्राप्त करते हैं।[2]

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने भारत में वैदिक काल में जो गुरु एवं शिष्य के बीच पिता-पुत्र तुल्य संबंध पाया जाता था उसी का समर्थन किया है। जहाँ एक ओर गुरु का कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थियों के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक आदि समस्त पक्षों के विकास की ओर ध्यान दे, वहीं विद्यार्थियों का भी कर्त्तव्य है कि वह आत्मानुशासन में रहते हुए गुरु की आज्ञाओं का भी पालन करें और ब्रह्मचर्याश्रम तक ज्ञानार्जन करें।

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द शिक्षा को 'गुरु गृहवास' का समानार्थी मानते हैं। उनके विचार से शिक्षक के व्यक्तित्व का सीधा प्रभाव बालक पर पड़ता है, बिना व्यक्तिगत सम्बन्धों के शिक्षा संभव नहीं है। इस कारण यह आवश्यक है कि शिक्षक सद्गुणी व चरित्रवान हों तथा उनमें त्याग की भावना होनी चाहिए, क्योंकि त्यागी व्यक्ति ही निःस्वार्थ भाव से शिक्षा प्रदान कर सकता है। वह

---

1. महर्षि दयानन्द सरस्वती — 'सत्यार्थ प्रकाश', आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, विक्रम 2026, पृ० 50

2. –वही– पृ० 66

कहते हैं कि प्राचीन काल में भी शिक्षा का कार्य भार इन्हीं जाज्वल्यमान चरित्र के व्यक्तियों के पास था। उसी प्रकार आजकल भी इन्हीं गुणों से परिपूर्ण व्यक्तियों को ही शिक्षा का उत्तरदायित्व सम्भालना चाहिए। भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली में मन, वचन व कर्म से शुद्ध शिक्षक मुक्त हस्त होकर शिष्यों को शिक्षा प्रदान करते थे, जो उन्हें धनिकों तथा राजाओं से दान स्वरूप प्राप्त होते थे। आज भी इसी भावना के द्वारा शिक्षण कार्य किया जाना चाहिए।[1]

स्वामी विवेकानन्द की शैक्षिक विचारधारा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। वह प्रत्येक बालक की रुचियों व क्षमताओं को देखकर व उनका मूल्यांकन करके ही शिक्षा की दिशा व शिक्षण विधि का निर्धारण करना चाहते हैं। उनका विचार है कि शिक्षक को बालक की रुचियों को उनके उच्च स्तर तक पहुँचाने का प्रयास करना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए कि शिक्षण में बालक की भावनाओं का किसी भी प्रकार दमन हो। सफल शिक्षक वही है जो बालक के स्तर पर स्वयं को स्थापित करके चिन्तन करे तथा उसका मन तथा उसकी आवश्यकताओं को समझ कर उसकी सहायता करे। शिक्षक को छात्र के प्रति सच्ची सहानुभूति होनी चाहिए, तभी वह यथार्थ में शिक्षा दे सकता है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षक में तीन गुणों का होना परमावश्यक है—

1. शिक्षक को शास्त्रों के मर्म का ज्ञाता होना चाहिए।
2. शिक्षक को निष्पाप होना चाहिए। उसका हृदय व मन पवित्र होना चाहिए।
3. शिक्षक को स्वार्थ सिद्धि हेतु शिक्षा नहीं देनी चाहिए।

स्वामी जी का विचार है कि गुरु के संबंध में यह जान लेना आवश्यक है कि उन्हें शास्त्रों का मर्म ज्ञान हो। वैसे तो सारा संसार ही बाइबिल, वेद और कुरान पढ़ता है, परन्तु वह केवल शब्द राशि है। जो गुरु शब्दाडम्बर में पड़ जाते हैं, अर्थात् जिनका मन शब्दों की शक्ति में बह जाता है, वह भीतर के मर्म को खो बैठते हैं। जो शास्त्रों के वास्तविक मर्मज्ञ हैं वही वास्तव में सच्चे गुरु हैं। शब्दों का जाल गहन अरण्य के समान है, जहाँ मनुष्य का मन भटक जाता है, और बाहर निकलने का मार्ग नहीं पाता। शब्द योजना को विभिन्न रीतियाँ, सुन्दर भाषा बोलने की विभिन्न शैलियाँ शास्त्रों के अर्थ समझाने के अनेक रूप में सब विद्वानों के आनन्द भोग की वस्तुएँ हैं। उनमें से किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती।[2] गुरु के लिए दूसरी आवश्यकता निष्पापता है।

---

1. स्वामी विवेकानन्द— 'शिक्षा', श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975, पृ० 30
2. भास्करेश्वरानन्द— विवेकानन्द संचयन, जन्मशती प्रकाशन, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1964, पृ० 59

अपने लिए आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि करने और दूसरे में उसका संचार करने का एक मात्र उपाय हृदय व मन की पवित्रता है। गुरु को पूर्णरूपेण शुद्ध चित्त होना चाहिए, तभी उनके शब्दों का मूल्य होगा। गुरु का वास्तविक कार्य स्वामी जी के अनुसार शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति का संचार करना है वह बुद्धि अथवा अन्य किसी शक्ति के विकास से पूर्व आध्यात्मिकता को महत्ता देते हैं। गुरु की प्रेरणा से शिष्य में एक शक्ति का संचार होता है, अतः गुरु का शुद्ध चित्त होना परम आवश्यक है।[1] आध्यात्मिक विषय के शिक्षण में इस बात को देखना अति आवश्यक है कि गुरु की विचारधारा क्या है, क्योंकि आदि से अन्त तक अपवित्र आत्मा में धर्म की ज्योति का होना असंभव है, अतः वह शिक्षण भी नहीं कर सकता। बौद्धिक विषयों के शिक्षण हेतु यह आवश्यक नहीं है क्योंकि बौद्धिक विषय-विषयी की अपेक्षाकृत विषय से अधिक संबंधित होते हैं, इसलिए उनमें शिक्षक के व्यक्तित्व की अपेक्षा उसका शिक्षण महत्त्वपूर्ण है।[2] तीसरी आवश्यक बात शिक्षण कार्य के उद्देश्य को जानना है। गुरु को धन-नाम या यश संबंधी स्वार्थ सिद्धि हेतु धर्म शिक्षा नहीं देनी चाहिए। आध्यात्मिक शक्ति का संचार केवल शुद्ध प्रेम के माध्यम से ही हो सकता है। किसी भी प्रकार की स्वार्थपूर्ण भावना इस प्रेम रूपी माध्यम को नष्ट कर देगी। अतः गुरु में स्वार्थ के स्थान पर त्याग भाव होना चाहिए। उसमें अपने शिष्यों के प्रति प्रेम होना चाहिए, जो केवल शिवम् द्वारा निर्देशित हो।[3]

शिक्षक के कार्यों की विवेचना करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, शिक्षक का कार्य मात्र सहायक का है। बालक में जन्म से ही नैसर्गिक शक्तियों का वास होता है, वह स्वयं विकसित होता है। गुरु का कार्य उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को समाप्त करना है। एक माली जिस प्रकार पेड़ों की देखभाल करता है उसी प्रकार का कार्य शिक्षक को बालक के लिए करना है। स्वामी जी का विचार है कि जिस प्रकार की औपचारिक शिक्षा प्रदान की जा रही है उससे बालक का प्राकृतिक विकास संभव नहीं है, प्राकृतिक विकास हेतु छात्र को अपनी मानसिक शक्तियों को जागृत करना होगा तथा इसके लिए हमें अपनी शिक्षण प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन करना होगा।

उनका विचार है कि यह कार्य शिक्षक के व्यक्तिगत प्रयास, रुचि तथा आत्मविश्वास से हो सकता है। जब बालक पर शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव

---

1. स्वामी विवेकानन्द— 'शिक्षा', श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975, पृ 22

2. भास्करेश्वरानन्द— 'विवेकानन्द संचयन', जन्मशती प्रकाशन, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1964, पृष्ठ 60

3. स्वामी विवेकानन्द— 'शिक्षा', श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975, पृष्ठ 22

पड़ेगा तब उसमें भी आत्मविश्वास व प्रेम की भावनाओं का उदय होगा। सभी प्रकार के विद्यार्थियों के लिए शिक्षक स्वयं में एक आश्चर्यजनक उदाहरण है। आधुनिक शिक्षण पद्धति ने अधिकांशतः छात्रों के आत्मविश्वास को समाप्त कर दिया है। आत्मविश्वास छात्रों की सफलता में पचास प्रतिशत से भी अधिक योगदान करता है।[1]

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि इन गुरुओं से भी परे गुरुओं की एक श्रेणी है। जो पृथ्वी के ईसा मसीह होते हैं वह गुरुओं के भी गुरु होते हैं— स्वयं भगवान मनुष्य के रूप में अवतरित होते हैं। वह बहुत ऊँचे होते हैं और अपने स्पर्श या इच्छा मात्र से दूसरों में धार्मिकता एवं पवित्रता का संचार करते हैं।[2]

स्वामी जी का विचार है कि जिस मानव आत्मा का जीवन कमल मुकुलित हो चुका होता है, वही समस्त प्रकृति नदी-नाले आदि से भी शिक्षा प्राप्त करते हैं। इसके लिए विनय, नम्रता, श्रद्धा और विश्वास आदि गुणों की आवश्यकता है।

स्वामी जी ने शिष्य के लिए भी कुछ आवश्यक गुण बताए हैं, शिष्य के लिए शुद्धता, ज्ञान की सच्ची पिपासा तथा लगन के साथ परिश्रम की आवश्यकता है। विचार, वाणी तथा कर्म से उसे पवित्र होना चाहिए। हम जो कुछ चाहते हैं वही प्राप्त करते हैं, इसलिए ज्ञान प्राप्ति के लिए ज्ञान के प्रति चाह का होना आवश्यक है। सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए छात्र को अपनी पाशविक प्रवृत्ति के साथ निरन्तर संघर्ष करना होगा, जब तक कि हृदय में उच्चतर आदर्शों के लिए सच्ची व्याकुलता उत्पन्न न हो जाए। जो शिष्य इस प्रकार अध्यवसाय के साथ लग जाता है उसकी अन्त में सफलता प्राप्ति निश्चित है।[3] स्वामी जी छात्रों को निरन्तर अध्ययन व परिश्रम की प्रेरणा देते हैं। वह अंग्रेज लेखकों द्वारा लिखे गए भारतीय इतिहास की आलोचना करते हैं और छात्रों के सम्मुख इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या का कार्य प्रस्तुत करते हैं, जिससे इतिहास का सही रूप समाज के सम्मुख आ सके क्योंकि अंग्रेजों ने हमारे पतन को ही इतिहास में दिखाया है। हमारे आदर्श व शिष्टाचार तथा धर्म व दर्शन की वास्तविक व्याख्या किसी भी अंग्रेज इतिहासकार ने नहीं की है। इसलिए

---

1. V. K. R. V. Rao – Swami Vivekananda, Govt. of India Publications, 1979, p. 183

2. भास्करेश्वरानन्द— विवेकानन्द संचयन, जन्मशती प्रकाशन, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1964, पृ० 63

3. स्वामी विवेकानन्द— शिक्षा, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975, पृ. 21

हमको स्वयं अपने इतिहास की खोजपूर्ण व्याख्या स्वयं वैज्ञानिक आधार पर करनी होगी जो हमारी मातृभूमि की, सत्य, सहानुभूतिपूर्ण तथा हृदय स्पर्शी विशेषताओं को बताएगी ।[1]

स्वामी विवेकानन्द ने उपनिषदों से अभय की शिक्षा लेने पर बल दिया है। वह कहते हैं कि मानव विकास में भय सबसे बड़ा शत्रु है। आज भारतीय जनों की दुर्दशा का कारण भय और असहाय अवस्था है। भय के कारण ही दुर्भाग्य, मृत्यु तथा विभिन्न अपराधों का उदय होता है। इस कारण शिक्षक को ज्ञान द्वारा तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करके इस भय को दूर करना चाहिए। गुरु के साथ शिष्य का उसी प्रकार का संबंध है जैसा पूर्वज के साथ वंशज का। गुरु के प्रति विश्वास, नम्रता विनय और श्रद्धा के बिना धर्म भाव नहीं पनप सकता। जिन देशों में गुरु-शिष्य संबंध की उपेक्षा हुई है उनमें शिक्षक मात्र वक्ता बनकर रह गए हैं। परन्तु स्वामी जी किसी के अन्धानुकरण की आलोचना करते हैं क्योंकि इससे व्यक्ति में दुर्बलता आती है और वह व्यक्तित्व की उपासना की ओर झुकने लगता है वह कहते हैं कि गुरु की पूजा ईश्वर दृष्टि से करो परन्तु उसकी आज्ञा का पालन आंखें मूंदकर न करो स्वयं भी स्वतंत्र रूप से विचार करके कोई निर्णय लो ।[2]

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द के अनुसार सच्चा शिक्षक वह है जो उज्ज्वल चरित्र वाला तथा ज्ञान से सम्पन्न हो और वह अपनी आत्मा को छात्र की आत्मा में डाल सके तथा अच्छा छात्र वह है जिसमें ज्ञान के प्रति तो जिज्ञासा हो और जो अव्यवसायी हो। उनका प्रत्येक कार्य अच्छाई को ग्रहण करने वाला तथा कमियों पर नियंत्रण पाने वाला होना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ टैगोर

रवीन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षक से संबंधित विचार अत्यन्त व्यापक हैं। उनके अनुसार शिक्षक मशीन नहीं है, वरन् एक जीवित व्यक्ति है। वह समाज का सर्वाधिक क्रियाशील मानव है क्योंकि वह मानवता को उसके आदर्शों से परिचित कराता है तथा उसकी प्राप्ति की प्रेरणा देता है। वह अपने ज्ञान द्वारा शिष्य के हृदय व मस्तिष्क को जीवनीशक्ति प्रदान करता है। शिष्य शिक्षक के निकट सम्पर्क से प्रेरणा ग्रहण करता है। शिक्षक व छात्र का यह प्रेरणात्मक सम्बन्ध

---

1. V. K. R. V. Rao— Swami Vivekananda, Govt. of India Publication, 1979, p. 179

2. स्वामी विवेकानन्द— शिक्षा, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975, पृ० 22

जिससे मानसिक शक्तियों का विकास होता है आश्रम का एक सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण तत्त्व है ।[1]

छात्र को उसकी मौलिक प्रकृति के अनुकूल शिक्षा दी जानी चाहिए इसके लिए उसके मनोविज्ञान का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। वह फ्रावेल व मॉन्टेसरी के समान यह आवश्यक समझते हैं कि विद्यार्थियों के साथ सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार करना चाहिए तथा उनकी रुचियों व क्षमताओं का अध्ययन करके ही उन्हें शिक्षा दी जानी चाहिए। बालक जन्म से ही दैवीय प्रकाश से युक्त होता है और उसमें विकसित होने की संभावनायें विद्यमान होती हैं। बाल्यावस्था में प्रेमपूर्ण व्यवहार करके तथा किशोरावस्था में मित्रवत् व्यवहार के द्वारा बालक को शिक्षित किया जाना चाहिए। जो शिक्षक बालक की विशेषताओं को समझने का प्रयास नहीं करते हैं वह शिक्षक बनने योग्य नहीं हैं।

टैगोर के अनुसार शिक्षक व छात्र का संबंध प्रत्यक्ष होता है, इस कारण शिक्षक का आचरण व व्यवहार अच्छा होना चाहिए। शिक्षक का छात्रों से व्यक्तिगत संबंध शिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण कारक है। टैगोर ने इसे अपने व्याव-हारिक जीवन में भी प्रयुक्त किया है। शान्तिनिकेतन में वह संध्या के समय छात्रों के समक्ष परमहंस योगनन्द के विचारों को सुनाते थे तथा अपने गीतों के माध्यम से अलौकिक वातावरण उपस्थित कर देते थे जिसने आश्रम के जीवन में प्रेम को जागृत किया और चुम्बकीय आकर्षण की भाँति सबको मोहित किया। उनका विचार था कि यदि शिक्षक छात्र के समक्ष आदर्श आचरण करेगा तब छात्र भी उसी प्रकार का व्यवहार करेंगे। इसलिए शिक्षण कार्य हेतु ऐसे शिक्षकों की खोज की जानी चाहिए जो छात्रों के मस्तिष्क को जीवन्त बना सकें और मस्तिष्क को बुरे विचारों से दूर रख सकें। इसके लिए शिक्षक को स्वयं तपस्वी जीवन व्यतीत करना होगा उसे ब्रह्मचारी, स्वार्थरहित, एकान्तवासी होना चाहिए। वह एक दैवीय प्रकाशयुक्त होगा तथा पृथ्वी के सौन्दर्यपूर्ण भेदों को जानने वाला होगा और उन्हें छात्रों को भी प्रदान करेगा। शिक्षक छात्रों के शारीरिक बौद्धिक व भावात्मक विकास में सक्रिय भूमिका निभाएगा तथा बालकों के मनोविज्ञान के आधार पर पाठ्य पुस्तकों को निर्मित करेगा। इसके लिए वह स्वयं भी शिक्षाविद् होना चाहिए। क्योंकि एक शिक्षक भली प्रकार शिक्षा तब तक नहीं दे सकता जब तक वह स्वयं शिक्षा प्राप्त न करता हो। एक प्रज्ज्वलित दीपक ही दूसरे दीपक को प्रज्ज्वलित कर सकता है। शिक्षक को

1. Ravindra Nath Tagore's British Centenary Celebrations, Proceeding Conference, Vol. I, Education-Editor Sunil Chandra Sarkar, Published by Ranajit Ray, Visva Bharti, Santiniketan, 1991, p. 70

मात्र सूचनाएँ देने पर ही बल नहीं देना चाहिए वरन् मस्तिष्क को प्रेरणा प्रदान करनी चाहिए क्योंकि ज्ञान असीमित है। टैगोर आधुनिक पद्धति की आलोचना करते हुए कहते हैं कि स्कूलों में दी जाने वाली अधिकांश शिक्षा व्यर्थ हो जाती है क्योंकि हमारे अधिकांश शिक्षकों के लिए उनका विषय जीवनरहित वस्तुओं के समान हो जाता है उससे उनका केवल शौणिक संबंध ही रह जाता है। जीवन और प्रेम का संबंध विषय से समाप्त हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि अध्यापक अपने ज्ञान के द्वार सर्वदा खुले रखे तथा छात्रों को भी नवीन-तम ज्ञान प्रदान करे। देश-विदेश की घटनाओं से भी उनको अवगत कराये तथा विभिन्न समस्याओं का समाधान खोजने के लिए उन्हें प्रेरित करे।

टैगोर ने शिक्षा में स्वतंत्रता को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। वह जापान में अपने एक भाषण में कहते हैं, प्रकृति का प्रयोजन बालक को एक पूर्ण मनुष्य बनाना है और अध्यापक को इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि स्वतंत्रता व उचित व्यवहार के माध्यम से ही पूर्ण व्यक्तित्व का विकास संभव है। वह विद्यालय में सहयोगात्मक क्रियाओं पर बल देते हैं जिसमें अध्यापक, छात्र व अन्य कार्यकर्त्ता समन्वित रूप में किसी भी कार्य के सम्पादन हेतु प्रयास करते हैं। इस प्रकार शिक्षक व छात्र दोनों को अधिकाधिक कुशलता व स्वतंत्रता से कार्य का अवसर प्राप्त होता है और छात्रों में उत्तरदायित्व की भावना का विकास भी होता है। एक आदर्श साथी के रूप में जब वह अध्यापक को पाते हैं, तब स्वजनुशासन की भावना का उदय होता है। टैगोर नियमों की व्यवस्था में अधिक विश्वास नहीं रखते। उनके अनुसार शान्तिनिकेतन कोई यंत्रवत् संस्था नहीं है जो छात्रों की भावनाओं को समाप्त करके नियमों पर के पालन वल देगी। यह कभी भी दण्ड द्वारा, अच्छाई प्राप्त करने का प्रयास नहीं करेगी। वह कहते हैं कि इस विद्यालय के अध्यापक किसी भी प्रकार से मुझसे निम्न पद पर नहीं हैं। संस्था का समस्त कार्य उसी प्रकार उनका अपना है जिस प्रकार कि मेरा। वह मानव मस्तिष्क के पूर्ण मानवीय विकास के लिए लम्बे समय तक प्रतीक्षा करने को तैयार हैं जो प्राकृतिक क्रिया द्वारा दैवीय शक्ति की प्रेरणा से विकसित होगा।[1]

टैगोर के विचार से छात्र को सादा व प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना चाहिए जिससे उसका शारीरिक व मानसिक विकास अपने सर्वोत्तम रूप में हो सके। प्राचीन गुरुकुल प्रणाली के आधार पर ही उन्होंने शान्तिनिकेतन की स्थापना की जिसमें छात्र प्रकृति की गोद में अपने स्वाभाविक रूप को प्राप्त

1. Sunil Chandra Sarkar— Tagore's Educational Philosophy and Experiments, Published by Ranajit Ray, Visva-Bharti Research Publication, Santiniketan 1961, p. 174

कर सके, उनके विकास में किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं आने पाए। व्यक्तिगत विकास के साथ-साथ उन्होंने सामाजिक विकास पर भी बल दिया है इसलिए विद्यालय में सामाजिक गुणों की शिक्षा प्रदान करने के लिए सहयोगात्मक क्रियाओं पर बल दिया है। उनके अनुसार छात्रों को अपनी शिक्षा को वास्तविक बनाना चाहिए तथा राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं में क्षमताएँ विकसित करनी चाहिएँ। इसके लिए उन्हें प्रत्यक्ष रूप में वास्तविक परिस्थिति का अध्ययन करके ज्ञान अर्जित करना चाहिए। वह छात्रों में कुछ गुणों की अपेक्षा करते हैं, जो इस प्रकार से हैं— व्यवहार में विनम्रता, स्वच्छता एवं व्यवस्था, जीवन में अनुशासन रखना, सौन्दर्य के प्रति प्रेम, उच्चाभिलाषा, स्वतंत्र विचार, मानवीय व भ्रातृत्व भावना, ब्रह्मचर्य, आत्मानुभूति, शान्ति-निवास, आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति व वैज्ञानिक विचारधारा से सम्पन्न होना। टैगोर कहते हैं कि छात्र के समस्त कार्य प्राकृतिक रूप में ईश्वरीय भावना से ओत-प्रोत होकर सम्पूर्ण मानवता के लिए समर्पित होने चाहिएँ तभी वह एक पूर्ण मानव बन सकता है।

मदनमोहन मालवीय

पं० मदनमोहन मालवीय प्राचीन भारतीय परम्परा के पालक थे। उन्होंने शिक्षक व छात्र के गुणों व चरित्र की योग्यता की कल्पना उसी आधार पर की है। वह प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था के महत्त्व को स्वीकार करते थे। उनका विचार था कि ब्रह्मचर्य का पालन कम से कम 25 वर्ष तक अवश्य करना चाहिए। ब्रह्मचर्याश्रम ही सब धर्मों का मूल है, व नींव है। नींव कमजोर हो जाएगी तो बाकी समस्त जीवन व्यर्थ चला जाएगा। आश्रम-व्यवस्था के विषय में उनका विचार था कि आश्रम धर्म जैसा महान दर्शन संसार में कहीं भी नहीं पाया जाता है। जो मनुष्य इस धर्म का पालन नियम से करेगा वह ही 100 वर्ष तक जीने की क्षमता रख सकता है। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए छात्रों को 25 वर्ष तक पढ़ना-लिखना चाहिए तथा कठोर तपस्या का जीवन व्यतीत करना चाहिए जिससे छात्र क्षमतावान बन सके और भविष्य में आने वाली कठिनाइयों का सामना साहस से कर सके। इसलिए जिस प्रकार प्राचीन काल में आश्रमों में रहने वाले छात्र सभी ऋतुओं का सामना करते हुए अपने शरीर व मन को अभ्यस्त बना लेते थे उसी प्रकार आज भी छात्रों को कठिन जीवन जीने का अभ्यास करना चाहिए। 50 वर्ष की आयु तक गृहस्थ आश्रम में रहने के पश्चात् जन कल्याण के कार्य तथा नवयुवकों को अपने अनुभव व ज्ञान द्वारा प्रशिक्षित करने का कार्य करना उपयुक्त है। वृद्धावस्था में सेवा का कार्य नहीं किया जा सकता अतः वृद्धावस्था के पूर्व ही इस कार्य में जुट

जाना चाहिए।[1]

मदनमोहन मालवीय के अनुसार शिक्षक को चरित्रवान तथा ज्ञानसम्पन्न होना चाहिए क्योंकि शिक्षक का आचरण छात्रों के निकट सम्पर्क के कारण उन पर अत्यन्त प्रभाव डालता है। अतः उसको अपने विषय का पंडित तथा दृढ़ चरित्र वाला व्यक्ति होना चाहिए। मदनमोहन मालवीय ने अपने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अनेक ज्ञानवान महिषियों की नियुक्ति की, जिनमें डॉ० श्याम सुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय तथा लाला भगवानदीन जैसे दिग्गज विद्वान भी रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मदनमोहन मालवीय ने शिक्षक व छात्र दोनों के आदर्श स्वरूप की कल्पना की है जो भारतीय परम्परा है।

श्री अरविन्द

श्री अरविन्द के विचारानुसार भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति जिसमें गुरु अपने ज्ञान और पवित्रता के बल पर शिष्यों से पूर्ण आदर सेवा पाते थे, नैतिक शासन की कहीं उत्तम पद्धति थी। उनका कथन है कि उस प्राचीन उच्च स्तर को पूर्णतः प्राप्त करना तो असंभव है, किन्तु यदि शिक्षक, छात्रों के बुद्धिमान मित्र, मार्ग-दर्शक तथा सहायक का स्थान ले लें तो वह शिक्षण की उत्तम पद्धति होगी। श्री अरविन्द आधुनिक शिक्षण पद्धति की आलोचना करते हैं जो यूरोपीय विचारों पर आधारित है।[2] उनके अनुसार शिक्षक को मनोविज्ञान का ज्ञाता होना चाहिए और उसे शिक्षण कार्य हेतु प्रशिक्षित भी किया जाना चाहिए। जिस प्रकार बालक के मस्तिष्क को प्रशिक्षित किया जाता है, उसी प्रकार उसके हृदय को भी प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। शिक्षक को उसके विकास में बिना कोई हस्तक्षेप किए उसका निरीक्षण करना चाहिए तथा समयानुसार सुझाव व सहायता प्रदान करनी चाहिए वह कहते हैं कि अंग्रेजी पद्धति पर आधारित विद्यालयों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उनमें शिक्षक बालकों के लिए नैतिक पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है, तथा बालकों को अपने समूह में एक दूसरे की सहायता से कार्य करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है। लेकिन उनमें जो विधि व्यवहार में लाई जाती है, वह क्रूर है, क्योंकि उनमें भय के कारण बालक अनुशासित होते हैं और अपने शिक्षक को आदर

---

1. वासुदेव शरण (संकलनकर्त्ता)— महामना श्री मदनमोहन मालवीय के लेख और भाषण, का० हि० वि० वि०, बनारस, 1961, पृष्ठ 188

1. Indra Sen— Integral Education, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1952

प्रदान करते हैं जबकि आन्तरिक भावना द्वारा यह अनुशासन स्थापित होना चाहिए। श्री अरविन्द के अनुसार नैतिक अनुशासन स्थापित करने का प्रथम सिद्धान्त सुझाव देना है दबाव डालना नहीं। सुझाव के लिए शिक्षकों को व्यक्तिगत उदाहरण पेश करने चाहिएँ। दिन-प्रतिदिन पुस्तकें पढ़ी जानी चाहिएँ व उन पर वाद-विवाद होना चाहिए। भूतपूर्व महान् आत्माओं के आदर्श कार्यों से छात्रों को अवगत कराना चाहिए जिससे बालक उच्च भावनाओं और उच्च आदर्शों को प्राप्त करने की ओर अभिमुख हों।[1]

श्री अरविन्द के विचार से शिक्षक का कार्य वास्तव में छात्र के अन्तःकरण को प्रशिक्षित नहीं करना है, वरन् केवल यह दिखाना है कि वह अपने ज्ञान प्राप्त करने के साधन को किस प्रकार विकसित करके पूर्ण बना सकता है। छात्र को ज्ञान कहाँ से व किस प्रकार मिल सकता है, इस कार्य में शिक्षक को उसकी सहायता करनी चाहिए। अपने शिक्षण कार्य को करते समय शिक्षक को सर्व-प्रथम शिक्षण के माध्यम तथा मानसिक क्षमताओं की ओर ध्यान देना चाहिए। जब तक छात्र में किसी भी तथ्य को समझने की शक्ति नहीं आयेगी तथा किसी भाषा को वह भली प्रकार समझ व बोल नहीं सकेगा तब तक उसको अन्य विषयों की शिक्षा देना व्यर्थ है। एक भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के बाद बालक आसानी से अन्य भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर सकता है। वैज्ञानिक अध्ययन से पूर्व शिक्षक को बालक की निरीक्षण शक्ति, तुलना व निर्णय की शक्ति को विकसित करना चाहिए।[2]

इस प्रकार शिक्षण प्रक्रिया में श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भौतिक विषयों के अध्ययन के समान ही आध्यात्मिक विषयों के अध्ययन व योग की क्रियाओं में पारंगत होने के लिए भी गुरु का होना अति आवश्यक है। श्री अरविन्द कहते हैं कि वह प्रत्येक व्यक्ति, जो यौगिक गुणों को प्राप्त करना चाहता है, अपने मार्ग का अनुसरण करने में स्वतंत्र है। परन्तु यह मार्ग सभी व्यक्ति नहीं ग्रहण कर सकते। यह केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए है जो इस उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते हैं तथा जिनको मार्ग प्रदर्शन करने हेतु योग्य गुरु प्राप्त हैं। जो व्यक्ति यह समझते हैं कि वह अपने ही ज्ञान और आंतरिक शक्ति के बल पर इस मार्ग पर चल सकते हैं, वह भूल करते हैं। योग की सामान्य क्रियाएँ भी गुरु के निर्देशन के बिना नहीं की जा सकतीं। यदि व्यक्ति योग साधना में गलत मार्ग का अनुसरण करता है, जिसकी

---

1. Sri Aurobindo and The Mother— On Education, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1978, p. 28

2. *–Ibid–* ,, p. 33

सम्भावना अधिक रहती है तब ऐसी स्थिति में गुरु ही उसको संरक्षण प्रदान करता है और सफलता दिला सकता है ।[1]

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा का केन्द्र विद्यार्थी होता है । बालक जन्म से ही दैवीय गुणों से पूर्ण होता है । उसमें कुछ विशिष्ट प्रतिभाएँ होती हैं, जो उसको ईश्वरीय देन हैं । इन गुणों का शिक्षकों तथा माता-पिता को ध्यान रखना चाहिए । अपनी इच्छा से किसी विशेष योग्यता हेतु उस पर दबाव नहीं डालना चाहिए । श्री अरविन्द उस दिव्यता को बनाए रखने का उपदेश छात्रों को देते हैं, वह कहते हैं कि छात्रों को शुद्धता प्राप्त करने के लिए प्रयास करना चाहिए तथा जो कुछ भी त्रुटिपूर्ण है उसे त्यागना चाहिए, तभी दैवीय शक्ति कार्यकारी सिद्ध होगी । दैवीय शक्ति मात्र साधना द्वारा ही फल प्रदान नहीं करती वरन् उसके लिए आत्मिक प्रेरणा द्वारा कार्य करना होता है, इसमें रहते हुए व्यक्ति को यह कहना चाहिए कि "जो मैं चाहता हूँ वह कार्य नहीं कर रहा हूँ वरन् जो दैव मुझ से चाहते हैं वह कार्य मैं कर रहा हूँ ।[2]

अपने अन्तःकरण की आवाज को सुनने के लिए शिक्षार्थी को अनुशासित होना चाहिए और ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए । उसको ध्यान एकाग्रता आदि कार्यों और सेवा की साधना करनी चाहिए और विनय, परोपकार, स्वाध्याय आदि गुणों को अपनाना चाहिए । अपने चारों ओर के वातावरण से शिक्षार्थी बहुत अधिक शिक्षा ग्रहण करता है, अतः उसको निरीक्षण, परीक्षण व तुलना द्वारा प्राकृतिक वातावरण को समझने का प्रयास करना चाहिए । उसके चारों ओर के सामाजिक वातावरण में उसके विभिन्न सामाजिक संबंध आते हैं, जिसका उसके आचरण व व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है इस सन्दर्भ में उसे सत्संगति ग्रहण करनी चाहिए । उसे उन्हीं व्यक्तियों के आदर्शों का अनुसरण करना चाहिए जो महान् व्यक्ति रहे हैं और जिन्होंने अपने आचरण द्वारा एक आदर्श की स्थापना की है । यह कार्य शिक्षक का है कि वह छात्र की इन विभिन्न तथ्यों के चयन में सहायता करे । शिक्षक को छात्रों की व्यक्तिगत विभिन्नताओं को भी आदर प्रदान करना चाहिए, क्योंकि कक्षा में विभिन्न मानसिक क्षमताओं, रुचियों वाले छात्र होते हैं, अतः प्रत्येक पर व्यक्तिगत रूप में ध्यान देकर उसको शिक्षा प्रदान करनी चाहिए ।

उसे सभी छात्रों के साथ समान व्यवहार करना चाहिए, चाहे वह किसी भी वर्ग-विशेष से संबंधित हों । श्री अरविन्द आश्रम में किसी भी प्रकार के उच्च

---

1. The Mother— A Practical Guide to Integral Yoga, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1976, p. 92

2. *–ibid–* „ p. 106

अथवा निम्न में वर्गीकरण छात्रों के सन्दर्भ में नहीं है। स्व-निर्माण में कर्म सर्वोच्च साधन है, तथा प्रत्येक सदस्य वह कार्य करता है जो उसे दिया गया है या जिसमें उसकी रुचि है। कार्य में किसी भी प्रकार का श्रेणी विभाजन नहीं है तथा उच्चाधिकारी अथवा सहायक के समान कोई पद नहीं है। उसमें किसी व्यक्ति के कार्य करने की क्षमता के स्थान पर, उसके कार्य करने की भावना को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार कार्य में दैवीय भावना होनी चाहिये।[1]

श्री अरविन्द ने मानव आत्मा और दैव के मध्य एक तीसरी आत्मा की कल्पना की है जिसे राष्ट्र की आत्मा कहा है। वह छात्रों को उपदेश देते हैं कि तुम राष्ट्र के उद्धार के लिए ईश्वर के एक औजार हो। विद्यार्थियों को अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम और श्रद्धा होनी चाहिए। उन्होंने बड़ौदा में छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि राष्ट्र के इतिहास में ऐसे समय आते हैं जब भगवान उसके सामने एक ऐसा कर्त्तव्य, एक ऐसा लक्ष्य रख देते हैं जिसके लिए शेष सभी चीजों को न्यौछावर कर देना पड़ता है, चाहे वे अपने आप में कितनी ही महान् और उत्कृष्ट क्यों न हों। हमारी मातृभूमि के लिए ऐसा समय आ गया है जब उसकी सेवा के सिवाय और कोई चीज प्यारी नहीं है, जब सब कुछ को उसी उद्देश्य की ओर मोड़ना है। अगर तुम अध्ययन करो तो उसके लिए करो, उसकी सेवा के लिए तन, मन और आत्मा को प्रशिक्षित करो। तुम अपनी रोजी कमाओ ताकि तुम उसकी सेवा के लिए जी सको। तुम विदेश जाओ तो इसलिए कि वह ज्ञान ला सको जिसके द्वारा तुम उसकी सेवा कर सको। काम करो ताकि वह समृद्ध बने। कष्ट सहो ताकि वह सुख पाए। सब कुछ इस सलाह में आ जाता है।[2] श्री अरविन्द के विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए स्थापित किए गए श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र में विद्यार्थी अपने विषय के चयन के लिए पूर्णतः स्वतंत्र हैं। इसमें व्यक्तिगत कार्य काफी बढ़ जाता है, क्योंकि अपनी विशेष रुचि का विषय छात्र लेते हैं और शिक्षक समय के अनुसार सुझाव देते हैं, जिनको छात्र स्वीकार कर लेते हैं। शिक्षकों व विद्यार्थियों में पारस्परिक गोष्ठियों और व्याख्यानों का आयोजन होता है जिससे आंतरिक अनुशीलन कायम होता है। छात्रों की स्वतंत्र विकास प्रणाली को देखते हुए उसमें परामर्श कक्ष की व्यवस्था है जिसमें विद्यार्थी अपने शिक्षकों से मिल सकते हैं और आविष्कार संबंधी विषयों पर परामर्श कर सकते हैं।

1. Sri Aurobindo Centenary— Souvenir, Edited by L. P. Sharma, A. C. S. Delhi, 1972, p. 46

2. श्री अरविन्द— 'शिक्षा के आयाम', श्री अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी, 1977, पृ० 1

सहयोग कक्ष में छात्र परस्पर सहयोग से कार्य करते हैं। प्रत्येक विषय का अध्ययन-अध्यापन यथासंभव प्रत्यक्ष रूप से होता है जिससे विषय विशेष में निहित सत्यों का स्वाभाविक रूप में ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

महात्मा गांधी

गांधी जी की सर्वोदय शिक्षा प्रणाली में शिक्षक का स्थान बहुत ऊँचा है। वह कहते हैं कि शिक्षक के प्रति अनादर या अपमान हिंसा हैं। वह छात्र और शिक्षक के मध्य आत्मिक संबंधों को भी मानते हैं। बालक विभिन्न पाठ्य-पुस्तकों तथा ज्ञान के साधनों की अपेक्षाकृत शिक्षक के सजीव सम्पर्क से अधिक शिक्षा ग्रहण करता है। उनका विचार है कि बालक अनजाने में ही किसी वस्तु की तह में जाकर इसका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, इसी गुण के कारण वह शिक्षकों के विचारों को भी पढ़ लेते हैं। शिक्षक सिद्धान्ततः जो कुछ भी पढ़ाते हैं यदि वह व्यवहार में उसके विपरीत आचरण करते हैं, तो वह निन्दा के पात्र हैं।[1] आचार्यगण पुस्तकों के माध्यम से छात्रों का चरित्र निर्माण नहीं कर सकते इसके लिए उनको स्वयं अपना उदाहरण छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करता होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारे शिक्षक दृढ़ चरित्रवान होने चाहिए। राष्ट्रीय उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि देश के प्रत्येक वर्ग के विद्यार्थियों का चरित्र उज्ज्वल हो और वह पवित्र तथा स्वच्छ जीवन व्यतीत करने योग्य बन सकें। गांधी जी का विचार है कि जब तक देश में चरित्रवान शिक्षकों द्वारा शिक्षा नहीं दी जायेगी, जब तक गरीब से गरीब भारतीय को अच्छी से अच्छी शिक्षा मिलने की स्थिति नहीं होगी, तब तक प्रजा का जीवन ऊँचा नहीं उठ सकेगा।[2]

गांधी जी का विचार है कि जिस प्रकार किसी भी वस्तु की उपलब्धि हम धन की सहायता से कर सकते हैं उसी प्रकार ज्ञान भी सुलभ हो सकता है। परन्तु सत्य ज्ञान आत्मिक अनुभवों पर आधारित होता है जिसको प्राप्त करने के लिए शिष्य व छात्र में आत्मिक संबंध होना चाहिए। इन संबंधों के द्वारा शिक्षक अपने छात्रों का विश्वास प्राप्त कर सकता है, तथा उनकी आवश्यकताओं, रुचियों व क्षमताओं को समझ सकता है, इस प्रकार मनोवैज्ञानिक आधार पर वह छात्र के सर्वोत्तम विकास में सहायक हो सकता है।

1. Mahadev Desai— With Gandhiji in Ceylon, S. Ganesan, Madras, p. 109

2. गांधी जी— सच्ची शिक्षा, सम्पादक रामनारायण चौधरी, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1950, पृ० 35

शिक्षण प्रक्रिया प्रारम्भ करते समय गांधी जी के विचार से शिक्षक को सर्वप्रथम सृष्टि की वस्तुओं में भेद करना सिखाना चाहिए क्योंकि वस्तुओं के गुणों को पहचान कर छात्र उनमें अन्तर को समझ सकते हैं। यदि छात्र वस्तु के गुणों को नहीं जान सकेंगे तो निर्जीव मशीन की भांति हो जायेंगे। इसलिए सत्य-असत्य, स्वच्छ-अस्वच्छ, तथा मीठी-कड़वी वस्तुओं में भेद करना छात्र को आना चाहिए।[2]

गांधी जी का विचार है कि शिक्षकों में त्याग की भावना होना परम आवश्यक है। यदि वह मात्र 'वेतनभोगी' बन जायेंगे तब अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में असफल रहेंगे। इससे राष्ट्र तथा सम्पूर्ण मानव जाति का अहित होगा। आधुनिक समयसारणीबद्ध शिक्षण प्रणाली को वह दूषित समझते हैं क्योंकि इसमें शिक्षक कक्षा से बाहर छात्रों के साथ कोई समय नहीं दे पाते जिससे छात्रों के चरित्र व व्यक्तित्व के विकास में बाधा पहुँचती है। गांधी जी शिक्षकों द्वारा कक्षा से बाहर छात्रों के लिए समय दिए जाने पर बल देते हैं।[2] उनका विचार है कि चरित्र गठन के लिए हृदय को प्रशिक्षित किया जाना आवश्यक है। यह कार्य पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से नहीं किया जा सकता वरन् शिक्षक के साथ छात्र के सजीव सम्बन्धों से ही हो सकता है। लेकिन इसके लिए हमको देखना होगा कि प्राथमिक और माध्यमिक स्तरों पर शिक्षक कौन है, उनका चरित्र कैसा है? क्या उन्होंने अपने हृदय को प्रशिक्षित किया है? क्या वह अपने संरक्षण में आए छात्र व छात्राओं पर पूरी निगरानी रखते हैं? क्या उन शिक्षकों को जीने के लिए आवश्यक वेतन मिल रहा है? इन प्रश्नों का सही हल प्राप्त करने पर ही हम अच्छे शिक्षक की आशा कर सकते हैं। परन्तु आधुनिक समय में योग्य शिक्षक उपलब्ध नहीं होते हैं क्योंकि वही इस कार्य को करते हैं, जो अन्य कोई व्यवसाय नहीं प्राप्त कर पाते हैं।[3] इसी प्रकार का विचार गांधी जी ने धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में दिया है कि वही शिक्षक धार्मिक शिक्षा दे सकता है जो स्वयं धार्मिक जीवन व्यतीत करता हो।

छात्रों व छात्राओं के समक्ष गांधी जी ने अनेक बार अपने विचारों को प्रकट किया है। वह बालकों में एक दैवीय तत्त्व को देखते हैं तथा उनसे ईश्वर में तथा स्वयं अपने में विश्वास करने को कहते हैं। इसके अतिरिक्त निरन्तर पवित्र

3. Young India, Vol. II 1924–26, S. Ganesan, Madras, 1927, Dated 29-6-1925

4. Young India, Vol. II, S. Ganesan, 1935, Dated 4 April, 1929

5. Gandhi Centenary Papers, Vol. 4, Edited by K. S. Saxena, Oriental Research, Bhopal, 1972, p. 32

विचार और पवित्र कार्य करने का उपदेश देते हैं। वह कहते हैं कि तुम्हारा एक भी बुरा कार्य या विचार, हिंसा तथा अनैतिकता इस विश्वास के लिए घातक है। मुझे भगवद्गीता तथा कुरान सभी में इसी उपदेश के दर्शन हुए हैं।[1] सभी जीवधारियों में समान आत्मा है उसी प्रकार सभी छात्र भी एक समान हैं उनमें अन्तर का कारण उनके व्यक्तित्व का पृथक-पृथक होना है। इसी के कारण बालक समाज के लिए अपना अनुपम योगदान करते हैं। सभी बालकों को समान शिक्षा तथा शिक्षा के लिए समान अवसर मिलना चाहिए। बालक के व्यक्तित्व के निर्माण में सामाजिक परिवेश का भी उत्कृष्ट योगदान रहता है। अत: विद्यालय में सामुदायिक भावना से कार्य कराया जाना चाहिए तथा इसको अनैतिक कार्यों से दूर रखना चाहिए, जिससे इसकी पवित्रता को बनाए रखा जा सके। गांधी जी विद्यार्थियों को सलाह देते हैं कि ये राजनैतिक दलगत नीतियों से स्वयं को अलग रखें। विद्यार्थी जीवन अध्ययन हेतु है। अत: विभिन्न राजनैतिक दलों की नीतियों का अध्ययन करें और उनके अन्तर्गत सत्य की जितनी मात्रा है, उसको समझें, लेकिन सक्रिय राजनीति से स्वयं को अलग रखें।[2]

गांधी जी छात्रों के समक्ष सर्वोच्च उद्देश्य चरित्र निर्माण को रखते हैं। वह कहते हैं कि सभी प्रकार के ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य चरित्र का निर्माण होना चाहिए। वह छात्रों से कहते हैं कि अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करो। इसके लिए वह निर्भयता, सत्यता और शुद्धता के गुणों पर बल देते हैं, यह तीनों गुण मस्तिष्क, शरीर व कार्यों में प्रकट होने चाहियें। स्वाधीनता प्राप्ति हेतु भी उन्होंने चरित्र के बल को सर्वोच्च शक्ति बताया था। मन की पवित्रता पर भी उन्होंने बहुत बल दिया है। वह कहते हैं कि वेदों का ज्ञान, संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं का सत्य ज्ञान व्यर्थ है यदि वह हमारे हृदय में पवित्रता का उदय नहीं करता है।[3]

गांधी जी ने छात्रों को रचनात्मक कार्यों को करने की ओर प्रेरित किया। अवकाश के सदुपयोग हेतु उन्होंने ग्रामीण कार्यों की ओर छात्रों को प्रोत्साहित किया जिससे वह गावों में जाकर स्वास्थ्य, सफाई तथा शिक्षा संबंधी कार्य को करें तथा जनसाधारण को नवजीवन प्रदान करें। देशोद्धार व दरिद्र नारायण की सेवा के लिए उन्होंने छात्रों को कुछ अन्य सुझाव भी दिए— जैसे कि प्रतिदिन

---

1. Gandhi Centenary Papers, Vol. 4, Edited by K. S. Saxena, Oriental Research, Bhopal, 1972, p. 112

2. *–ibid–* „ p. 114

3. Gandhiji— To Students, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1951, p. 34–37

सूत कातना तथा खादी की बिक्री गाँवों की जनता में करना, प्रतिदिन कुछ अन्न अपने भोजन से बचाना, और हरिजनों के घर में जाकर सफाई करना, तथा उन्हें स्वास्थ्य व सफाई के लाभ बताना।

गांधी जी ने छात्रों के लिये एक संहिता भी बनायी थी, जो संक्षेप में इस प्रकार है :—

1. छात्र राजनीति में भाग नहीं लेंगे।
2. छात्र राजनीतिक आन्दोलनों में भाग नहीं लेंगे।
3. छात्र वैज्ञानिक तरीके से कताई करेंगे तथा आर्थिक, सामाजिक, नैतिक व राजनैतिक पक्षों का अध्ययन करेंगे।
4. वह खादी तथा अपने गाँवों में बनी अन्य वस्तुओं का उपयोग करेंगे तथा विदेशी वस्तुओं का त्याग करेंगे।
5. छात्र स्वयं 'वन्दे मातरम्' तथा राष्ट्रीय ध्वज का आदर करेंगे परन्तु अन्य व्यक्तियों पर इनकी स्वीकृति हेतु दबाव नहीं डालेंगे।
6. वह तिरंगे झंडे का सन्देश समस्त जनता तक पहुँचायेंगे, किसी प्रकार का जातीय या वर्णगत भेदभाव नही करेंगे।
7. वह अपने पड़ौस के घायलों की देखभाल करेंगे। पास के गाँवों की सफाई करेंगे।
8. वह सब हिन्दुस्तानी भाषा सीखेंगे, जो हिन्दी व उर्दू मिश्रित हो।
9. वह प्रत्येक विचार का अपनी भाषा में अनुवाद करेंगे।
10. वह कोई भी गुप्त कार्य नहीं करेंगे वरन् सबकी सलाह से कार्य करेंगे।
11. वह अपने साथ की छात्राओं से उचित व्यवहार करेंगे।[1]

उपरोक्त विचारों के आधार पर स्पष्ट होता है कि गांधी जी के अनुसार शिक्षक को चरित्रवान, क्षमाशील, मृदुभाषी, कर्त्तव्यपरायण, श्रमी, संयमी, सदाचार से जीवन व्यतीत करने वाला ब्रह्मचारी होना चाहिए जिसमें शारीरिक बल, चरित्र बल, आत्मीय बल व बौद्धिक बल हो। उसका अनुशासित, देश-सेवी, शान्त व अहिंसात्मक प्रवृत्ति का भी होना आवश्यक है। गांधी जी ने बालकों की स्वतन्त्रता को ध्यान में रखते हुए शिक्षक का स्थान बालकों के मित्र, पथ-प्रदर्शक तथा सहायक के रूप में माना है। उन्होंने बेसिक शिक्षा बालकों को प्रदान करने के उद्देश्य से शिक्षकों के प्रशिक्षण का भी सुझाव दिया जिससे वह शिक्षा के विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्राप्त करके कुशलतापूर्वक छात्रों को प्रशिक्षित कर सके।

---

1. Gandhiji— The Task Before Indian Students, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, p. 35–37

डॉ० राधाकृष्णन

डॉ० राधाकृष्णन ने शिक्षक को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। व्यावहारिक जीवन में असंतुलन व वैमनस्य की भावना को दूर करने का कार्य शिक्षक ही कर सकता है। उनका विचार है कि भारतवर्ष में अनेक धर्म व जाति के लोगों का निवास है। उनके मध्य वैमनस्य का कारण एकमात्र यही होता है कि वह एक दूसरे के विचारों को भली-भाँति नहीं समझते हैं। यह कठिनाई सैद्धान्तिक पक्षों जैसे उच्च दर्शन या कला से संबंधित नहीं होती वरन् राजनैतिक तथा व्यावहारिक पक्षों से संबंधित होती है। इस व्यावहारिक ज्ञान को पुस्तकों के माध्यम से नहीं प्रदान किया जा सकता वरन् आत्मा के संबंधों द्वारा ही इसको जान सकते हैं। इसका वर्णन व विश्लेषण असंभव है और इसको समाज में एक दूसरे तक पहुँचाने का कार्य शिक्षकों व उनके जीवन दर्शन पर निर्भर करना है। इस प्रकार शिक्षक समाज में मानव मूल्यों का पूर्णता बन जाता है।[1] डॉ० राधाकृष्णन शिक्षकों के चयन में विशेष सावधानी रखने का सुझाव देते हैं। उनका कथन है कि शिक्षा के विविध लक्ष्यों की प्राप्ति में सफलता अथवा असफलता उसके अध्यापक वर्ग पर निर्भर करती है। अध्यापक ही वातावरण की सृष्टि करते हैं अतः उनकी नियुक्ति उनकी विद्वत्ता तथा मौलिक खोज की प्रवृत्ति के आधार पर ही होनी चाहिए, अन्य किसी भी बात से हमें प्रभावित नहीं होना चाहिए, क्योंकि जो अध्यापक अनुसंधान में रुचि नहीं रखता है, उसका शिक्षण में उत्साह नहीं हो सकता।

शिक्षक के कार्यों की विवेचना करते हुए वह लिखते हैं कि उसका कार्य हमारी आत्मा को मुक्त करना है। आत्मा सर्वदा चेतन होती है परन्तु यह हो सकता है कि वह नित्य परिवर्तनशील असत् संसार से ही संबंधित रहे। कभी-कभी अभिमान और पक्षपात तथा लोभ के कारण हमारी दृष्टि और भी नीचे झुक जाती है, इस दृष्टि के दुर्वाह भार को दूर करके आत्मा को स्वतंत्र करना शिक्षक का कार्य है जिससे आत्मा अपनी ऊपर उठने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को प्राप्त कर सके तथा स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सके।[2]

डॉ० राधाकृष्णन आदर्शवादी होते हुए भी छात्र की स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति के विकास पर जोर देते हैं। उनका विचार है कि शिक्षक को 'गीता' के आदर्श शिक्षक कृष्ण के समान, शिष्य को अपनी विचारधारा से अवगत कराना चाहिए

---

1. डॉ० राधाकृष्णन— स्वतंत्रता और संस्कृति, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृ० 52

2. डॉ० राधाकृष्णन— 'स्वतन्त्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृष्ठ 25, 30

तथा उसके पश्चात् बालक को स्वतन्त्र चिन्तन व निर्णय के लिए छोड़ देना चाहिए क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य बालक में चिन्तन व निर्णय की शक्तियों का विकास करना है। मानव की आत्मा का सम्पूर्ण विकास स्वतंत्र वातावरण में हो सकता है। अत: बालक को स्वतंत्रता दी जानी चाहिए।[1]

डॉ० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने शिक्षकों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि शैक्षिक प्रक्रिया की सफलता शिक्षक की योग्यता और चरित्र पर निर्भर है। विश्वविद्यालय शिक्षा की किसी भी सुधार योजना में सबसे आवश्यक कार्य उपयुक्त शिक्षकों को उपलब्ध करना है। शिक्षक का प्रमुख कार्य अपने छात्रों की रुचि को विषय के प्रति जागृत करना है, उनमें खोज व आलोचना की भावना को उत्पन्न करना है जिससे वह स्वतंत्र और पक्षपातरहित होकर सोच सकें। उनमें अच्छाई-बुराई, उचित-अनुचित, सत्य-असत्य में अन्तर करना आ जाना चाहिए। इन कार्यों को सिखाने के लिए शिक्षक को अपने विषय में पारंगत होना चाहिए तथा उसे अपने विषय के साथ-साथ छात्रों से भी प्रेम होना चाहिए। आयोग ने आधुनिक शिक्षा के स्तर के प्रति असन्तोष व्यक्त किया है तथा उसके लिए विश्वविद्यालय व सरकार को उत्तरदायी माना है क्योंकि शिक्षकों के लिए पुस्तकालयों तथा अनुसंधान कार्यों की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं है। आयोग ने इनके सुधार हेतु सुझाव दिए हैं।

छात्र भावी नागरिक होता है। शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जब वह समाज में आता है, तब उसको विभिन्न राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। वह उन परिस्थितियों से प्रभावित होता है, लेकिन साथ-साथ समाज की विचारधारा को दिशा देने में भी वह सक्रिय भाग लेता है। प्रत्येक व्यवसाय का संबंध किसी न किसी रूप में समाज के सदस्यों से रहता है अत: व्यक्ति अपने व्यवसाय में रहते हुए अनेक लोगों के मतों को प्रभावित करता है। यह बात व्यक्ति के नैतिक चरित्र पर निर्भर रहती है कि वह किन भावनाओं का प्रसार समाज में करता है, इसलिए केवल वही छात्र समाज व राष्ट्र के लिए उपयोगी होंगे जो सद्भावना का प्रसार समाज में करेंगे तथा सत्य को अपनाएँगे। इसीलिए डॉ० राधाकृष्णन छात्रों से अपेक्षा करते हैं कि वह न तो झूठा प्रचार करें और न स्वयं उसमें फँसें।[2] विदेशों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों से वह आशा करते हैं कि वह भारत आकर

---

1. –वही– पृ० 159

2. डॉ० राधाकृष्णन — 'स्वतन्त्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृ० 116

भारतवासी होकर रहें। जो संकल्प उन्होंने विद्यार्थी जीवन में लिए हैं उन पर कायम रहें। वह कहते हैं कि भारत आपकी ओर आशा भरी आँखों से देख रहा है और वह चाहता है कि आप में से प्रत्येक धर्म तथा वर्ण संबंधी फूट फैलाने वाली मनोवृत्ति का विरोध करे और इस प्रकार उसके गौरव को और भी बढ़ावे। डॉ० राधाकृष्णन ने उन लोगों की कटु आलोचना की है जो ऐश्वर्य, सम्मान और शक्ति के प्रलोभन में पड़कर आदर्शों को भूल गए हैं।[2]

छात्रों के कल्याण हेतु विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने निर्धन व योग्य छात्रों को छात्रवृत्तियाँ प्रदान करने का सुझाव दिया तथा उनके अच्छे स्वास्थ्य के लिए निःशुल्क स्वास्थ्य परीक्षा, पौष्टिक भोजन, स्वच्छता की व्यवस्था का सुझाव दिया। छात्र देश के कुशल नागरिक बन सकें इसके लिए एन.सी.सी. तथा समाज सेवा कार्यक्रमों को उपयुक्त बताया। छात्रावासों की लक्ष्य व्यवस्था पर भी आयोग ने बल दिया। छात्रों में अनुशासन की भावना के प्रसार के लिए उचित प्रकार के जीवन की आवश्यकता है जिसके लिए शिक्षक, अभिभावक, राजनैतिक नेता, जनता तथा समाचार पत्र— सब एकजुट होकर प्रयास करें।

आचार्य विनोबा भावे

आचार्य विनोबा का विचार है कि शिक्षक का समस्त शिक्षण कार्य सहज भाव से होना चाहिए तभी स्वाभाविक ज्ञान बालक प्राप्त कर सकता है। शिक्षण पद्धति इस प्रकार की होनी चाहिए कि बालकों में इस प्रकार की भावना ही न उत्पन्न हो कि हम शिक्षा पा रहे हैं। उसी के साथ-साथ शिक्षक के मन में गुरुत्व की यह अस्पष्ट भावना न रहे कि मैं छात्रों को शिक्षा दे रहा हूँ। इन भावनाओं पर आधारित शिक्षण हेतु, शिक्षण कार्य वास्तविक परिस्थितियों में छात्र को रखकर किया जा सकता है। छात्रों में अच्छे गुणों को उत्पन्न करने के लिए शिक्षकों में भी उन गुणों का होना आवश्यक है। शिक्षकों को पहले आचार्य कहा जाता था। स्वयं आदर्श जीवन का आचरण करते हुए राष्ट्र से उसका आचरण करा लेने वाला ही आचार्य है। ऐसे आचार्यों के पुरुषार्थ से ही राष्ट्र का निर्माण हुआ है। आज पुनः हिन्दुस्तान को आचारवान शिक्षकों की आवश्यकता है जो प्राचीन आदर्शों की पुनः स्थापना कर सकें।[2] विनोबा जी के अनुसार आचार्य चरित्रवान, कर्त्तव्यपरायण, मृदु-भाषी, सत्यनिष्ठ, स्वावलम्बी, राष्ट्रप्रेमी तथा मानवतावादी होना चाहिए।

---

1. डॉ० राधाकृष्णन— 'स्वतंत्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली 1974, पृ० 123

2. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 24, 34

आचार्य भारत की प्राचीन आश्रम व्यवस्था के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शिक्षण का काल वानप्रस्थ आश्रम है। भारतवासी जितनी लगन से इस आश्रम का कार्यभार संभालने को तत्पर होंगे, बच्चों का शिक्षण भी उतना ही उन्नत होगा। जिस समय व्यक्ति को सांसारिक अनुभव हो जाते हैं और उसकी विषय वासना शुद्ध हो जाती है तभी उसको शिक्षण कार्य का उत्तरदायित्व ग्रहण करना चाहिए। वृद्धावस्था में यह कार्य उचित नहीं है क्योंकि उस समय व्यक्ति का शरीर, मन, बुद्धि, वाणी आदि जीर्ण हो जाती हैं। इनके सक्षम रहते हुए ही वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लेना चाहिए।[1] शिक्षक का कार्य समाज का पुनर्निर्माण करना है, जिसके लिए उसे समस्त बातों की जानकारी होना आवश्यक है तथा उसे कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त भी होना चाहिए, जिससे वह परिस्थितियों को अनुकूल बना सके। विनोबा जी कहते हैं कि दुनिया के देशों के इतिहास से पता लगता है कि उनमें जो भी राज्य-क्रांतियाँ हुई हैं, वह शिक्षकों के माध्यम से ही हुई हैं। अतः भारतीय परिवेश में शिक्षकों का कार्य है कि वह ग्रामों में आर्थिक सामाजिक समता स्थापित करें। इसके लिए उनको ग्रामोद्योग स्थापित करने होंगे। जमीन का असमान बंटवारा, जाति भेद, पंथ आदि को मिटाना होगा और नयी तालीम की जीवन्त शिक्षा बालकों को प्रदान करनी होगी। भारत एक कृषि-प्रधान देश है, यहाँ की अधिकांश जनता की जीविका का साधन कृषि है। अतः आदर्श अध्यापक के लिए कृषि के संबंध में पूर्ण जानकारी होना आवश्यक है। इसी के साथ-साथ बुनियादी शिक्षक को उन सब शिल्पों की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए जिनके माध्यम से वह बालकों को शिक्षा प्रदान करता है। उसको अपने शिल्प के ऐतिहासिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सम्पूर्ण पक्षों की पूर्ण जानकारी होना आवश्यक है। विनोबा जी का विचार है कि बुनियादी शिक्षक को यही आदर्श सामने रखना चाहिए। उसको किसी भी किसान से, बुनकर से या बढ़ई से कम कुशल नहीं होना चाहिए बल्कि ज्यादा कुशल होना चाहिए। बुनियादी शिक्षक को अन्य कारीगरों से अधिक गति से काम करना आना चाहिए, उन्हें यन्त्रों की मरम्मत तथा नई तकनीकी का विकास भी करना होगा जो अन्य कारीगर नहीं कर पायेंगे।[2]

भारत में आजकल अनेक विघटनकारी प्रवृत्तियों का उदय हो गया है। लोग शारीरिक श्रम को हेय दृष्टि से देखने लगे हैं। अतः शिक्षकों का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्तिगत उदाहरण देकर व्यक्तियों को शारीरिक श्रम के महत्त्व से

1. –वही– पृष्ठ 65, 69

2. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 274, 241

परिचित कराये। आदर्श अध्यापक को आदर्श नागरिक उत्पन्न करने के लिए जो कुछ करना हो, वह सब करने में समर्थ होना है। इसके लिए उसे सारे गांव का सेवक भी होना चाहिए। गांव की पाठशाला सेवा का केन्द्र होगी। गांव में औषधि वितरण, गांव की सफाई, ग्रामीण झगड़ों का फैसला, ग्रामीण उत्सव आदि सबकी योजना शिक्षकों व पाठशालाओं द्वारा की जायेगी। नवीन चीजों की स्थापना व प्राचीन का विकास कार्य भी विद्यालय द्वारा होगा।[4]

विनोबा जी विद्यार्थियों में भी कुछ विशिष्ट गुणों की अपेक्षा करते हैं, वह कहते हैं कि छात्र को गुरु को अपने ईश्वर के समान समझना चाहिए और इसी भाव से उसमें श्रद्धा रखनी चाहिए। वह छात्र के चार प्रमुख कर्त्तव्यों की व्याख्या करते हैं :—

1. छात्रों का प्रथम कर्त्तव्य गुरु में श्रद्धा रखना है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रद्धा एक बुनियादी चीज़ है। ज्ञान का आरम्भ श्रद्धा से होता है लेकिन ज्ञान की परिसमाप्ति बुद्धि में है। श्रद्धा से ज्ञान आरम्भ होता हैं और समाप्ति स्वतन्त्र चिन्तन से होती है।
2. छात्रों को अपने शरीर, मन, व बुद्धि पर नियंत्रण होना चाहिए। विद्यार्थियों में इस प्रकार का निश्चय होना चाहिए कि मैं अगर सत्य संकल्प करता हूँ तो दुनिया में कोई ऐसी ताकत नहीं है जो इस संकल्प को तोड़ सकती है।
3. विद्यार्थियों का तीसरा कर्त्तव्य यह है कि वे निरन्तर सेवापरायण रहें। बिना सेवा के ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती। वृद्धों की सेवा से ज्ञान प्राप्त होता है। उसके पास अनुभव होता है और जो सेवा-परायण होते हैं उनके सामने वृद्धों का दिल खुल जाता है और वह अपना सब कुछ सर्वस्व उन्हें सौंप देते हैं।
4. विद्यार्थियों का चौथा कर्त्तव्य यह है कि उन्हें सावधान रहना चाहिए। संसार की समस्त घटनाओं तथा प्रचलित होने वाली विभिन्न विचारधाराओं का उन्हें तटस्थ भाव से अध्ययन करना चाहिए, जिससे वह घटनाओं की वास्तविकता से परिचित हो सकें। अतः छात्रों को स्थितप्रज्ञ, संयमी, धर्मनिष्ठ व उदार-चरित्र होना चाहिए।[1]

आचार्य ने शिक्षक तथा छात्रों दोनों को सुझाव दिया है कि उन्हें पुराने

---

1. –वही– पृ० 110

2. विनोबा भावे— 'शिक्षण विचार', अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 293-298

मूल्यों को बिना परीक्षण किए यथास्थित रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए। अपने ज्ञान की निरन्तर वृद्धि के लिए आवश्यक है कि सभी व्यक्ति निरन्तर अध्ययन करें। भारतीय सभ्यता का भी यह सन्देश है कि मनुष्य को विद्याभ्यास व अध्ययन आमरण करना चाहिए। गृहस्थों के कर्त्तव्यों में भी यह एक विधान है कि उसे स्वाध्याय करते रहना चाहिए। इस प्रकार विनोबा जी शिक्षकों तथा छात्रों दोनों को ही आदर्शात्मक तथा परिश्रमी देखना चाहते हैं।

उपरोक्त शिक्षा दार्शनिकों में सभी दार्शनिक प्राचीन भारतीय गुरुकुल प्रणाली के आदर्श को पुनः स्थापित करना चाहते हैं जिसमें चरित्रवान, ज्ञानी अध्यापक अपने छात्रों को प्रेम व सद्भावना द्वारा ज्ञान प्रदान करते थे। उसमें गुरु का आश्रम छात्रों का घर होता था और वह एक परिवार के अंग की भाँति विभिन्न कार्यकलापों को करते हुए अध्ययन किया करते थे। सभी दार्शनिक शिक्षकों को उज्ज्वल चरित्र, धैर्य और संयम से सम्पन्न देखना चाहते हैं क्योंकि बालक पाठ्य-पुस्तकों की अपेक्षा अपने शिक्षक के सम्पर्क से अधिक शिक्षा प्राप्त करते हैं। अतः शिक्षक छात्रों द्वारा अनुकरण करने योग्य होना चाहिए। छात्रों में नैतिकता, सद्भाव, देश-प्रेम आदि के उच्च आदर्शों का विकास शिक्षक के प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा ही संभव है। दार्शनिकों ने छात्रों में भी कुछ गुणों की अपेक्षा की है, जिनमें ब्रह्मचर्य, उज्ज्वल चरित्र, दृढ़-संकल्प शक्ति, जिज्ञासा, स्वाध्याय और कठिन परिश्रम को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। शंकराचार्य, रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविन्द और महात्मा गांधी ने छात्र को दिव्य गुणों से सम्पन्न माना है। इस दिव्यता को पूर्ण रूप में प्रकट होने में सहायता करना ही शिक्षक का कार्य है। इस कार्य हेतु शिक्षक व छात्र में आत्मीय संबंध होने चाहिएँ। शिक्षक को छात्र के लिए एक आदर्श व्यक्तित्व, एक सहयोगी मित्र तथा निर्देशक की भाँति कार्य करना चाहिए।

अनुशासन

अनुशासन हर देश और हर समाज के जीवन के लिए सबसे अमूल्य विधि है। जिस प्रकार देश व समाज के लिए अनुशासन मूल्यवान है उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन के लिए भी वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। समाज के लिए बालक विद्यालय में तैयार किए जाते हैं, इसलिए विद्यालयों में भी अनुशासन का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अनुशासन का अर्थ बहुत व्यापक है। इसके अन्तर्गत बाह्य व्यवस्था, बाह्य व्यवहार, आंतरिक प्रेरणा, आत्म-नियंत्रण, आत्म-संयम, विनय सभी कुछ आ जाते हैं। आधुनिक विचारधारा के अनुसार अनुशासन का अर्थ बालकों

और बालिकाओं को प्रजातांत्रिक जीवन के लिए तैयार करना है तथा अनुशासन का ध्येय व्यक्ति को ज्ञान, शक्तियों, आदतों, रुचियों और आदर्शों को प्राप्त करने में सहायता देना है, जिसका निर्माण उनकी स्वयं की तथा समग्र रूप में समाज की भलाई के लिए होता है।

दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर तीन प्रकार का अनुशासन पाया जाता है :—

1. दमनात्मक अनुशासन
2. प्रभावात्मक अनुशासन
3. मुक्त्यात्मक अनुशासन ।

दमनात्मक अनुशासन की विचारधारा बहुत प्राचीन है। इस पर स्वेच्छाचारी राजनैतिक विचारधारा की पूर्ण छाप है। जिस प्रकार स्वेच्छाचारी शासक अपनी आज्ञाओं के पालन के लिए शक्ति का प्रयोग करते थे उसी प्रकार शिक्षक अपने आदेशों के पालन के लिए बल का प्रयोग करता था।

प्रभावात्मक अनुशासन के पक्ष में जो विचारक हैं उनके अनुसार शिक्षक को अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से बालकों को अनुशासन में रखना चाहिए न कि शारीरिक दण्ड से। शिक्षक अपनी योग्यता, चरित्र, आचरण, विचार व आदर्श के द्वारा उत्तम वातावरण का निर्माण करे। इस वातावरण में रहकर बालक स्वयं ही शिक्षक का अनुकरण करने लगेंगे।

मुक्त्यात्मक अनुशासन का प्रतिपादन आधुनिक मनोवैज्ञानिक युग में हुआ है। इसके अनुसार बालक शक्तिसम्पन्न होते हैं, इसलिए बालकों को अपने विकास के लिए पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, तभी वे अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों, रुचियों और भावनाओं के अनुसार कार्य कर सकेंगे और अपने व्यक्तित्व का उचित रूप से निर्माण कर सकेंगे।

अनुशासन की धारणा के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों में पर्याप्त भिन्नता देखने को मिलती है।

शंकराचार्य

शंकराचार्य के मतानुसार मानव जीवन का सर्वोच्च मूल्य आत्म साक्षात्कार है। हमारे सभी कार्यों का मूल्यांकन अन्त में इसी मानदण्ड से होगा। जो कार्य इसमें सहायक हैं, उन्हें शुभ कार्य कहा जाएगा और जो इसमें बाधक हैं उन्हें अशुभ कार्य कहा जाएगा। शंकराचार्य ने नैतिकता का मूल्यांकन करने के लिए सुलभ उपाय बताए है जैसे उनका शास्त्रों के अनुकूल होना या महापुरुषों द्वारा अनुमोदित होना। नैतिक कार्यों को करने के लिए संयम अत्यावश्यक है। जब तक अन्तःकरण चंचल रहता है तब तक कोई भी व्यक्ति अपने सत्य स्वरूप को

नहीं पहचान सकता है। मन को विभिन्न विषयों की इच्छाओं से रोकने के लिए इन्द्रियों का संयम आवश्यक है। विषयों के साथ स्वच्छन्द विचरण करने वाली इन्द्रियाँ मन को अपने साथ खींच लेती हैं, इस प्रकार व्यक्ति में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। अतः अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लक्ष्य पर एकाग्रचित्त होना आवश्यक है। इसलिए अपनी इन्द्रियों पर संयम रखना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है।[1]

शंकराचार्य का चिन्तन वेदान्त पर आधारित है। वेदान्त में बालक की प्रवृत्ति चार प्रकार की बताई गई है। प्रथम अवस्था 'क्षिप्त' अवस्था है जिसमें बालक किसी भी कार्य में ध्यान नहीं लगा सकता। अध्ययन के लिए यह प्रतिकूल अवस्था है। द्वितीय अवस्था 'विक्षिप्तावस्था' है जिसमें अल्पकालिक अध्ययन सम्भव है। तृतीय अवस्था 'मुधा' की है जिसमें बालक की एकाग्रता शक्ति बढ़ जाती है किन्तु आलस्य के कारण वह अध्ययन नहीं करता है। चतुर्थ अवस्था 'एकाग्रता' की होती है जिसमें इन्द्रियों, मन व बुद्धि सब पर आत्मा का नियन्त्रण होता है। यही अनुशासन की स्थिति है। इसमें व्यक्ति नैतिक कार्यों को ही करता है, अनैतिक कार्यों पर पूर्ण नियंत्रण पा लेता है। शंकराचार्य के अनुसार नैतिक कार्यों का महत्त्व पुनर्जन्म हेतु भी है क्योंकि पूर्वजन्म के कर्म, विद्या और प्रज्ञा के अनुसार ही अगला शरीर प्राप्त होता है और भोग भोगने पड़ते हैं। नैतिक कार्यों का निर्धारण समाज की मान्यताओं के आधार पर भी होता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जिस समाज में रहता है उसमें उसका एक पद होता है और उसको अपने पद के अनुसार ही कार्य करने पड़ते हैं। वह कर्त्तव्य व्यक्ति की स्वेच्छा या रुचि पर आधारित नहीं होते हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों या दशाओं में एक निश्चित मार्ग स्वीकार करना पड़ता है।

श्रुति तथा स्मृति आदि ग्रंथ सदाचार के नियमों को प्रतिपादित करते हैं। बालकों को अनुशासित रखने के लिए शिक्षकों द्वारा प्रदान किया जाने वाला ज्ञान तथा मार्गदर्शन महत्त्वपूर्ण कारक हैं। अध्यापक का आचरण स्वयं सदाचार की व्याख्या करता है। कोई भी शिक्षक बल-प्रयोग से छात्र को पूर्ण नहीं बना सकता। उसके लिए यही सर्वोत्तम मार्ग है कि वह स्वयं को पूर्ण करे तथा दूसरों के लिए अनुकूल वातावरण सुलभ करे।

शंकराचार्य का विचार है कि अनुशासित रहने के लिए जिस नैतिक क्षमता की आवश्यकता पड़ती है वह भारतवर्ष की प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था के कर्मों में निहित है, वर्ण और आश्रम के अन्तर्गत निहित कर्त्तव्यों का पालन करने से

---

1. डॉ० रामस्वरूप सिंह नौलखा— 'आचार्य शंकर ब्रह्मवाद', किताबघर, आचार्य नगर, कानपुर, 1974, पृ० 251, 257

स्वयं में नैतिक शक्ति अर्जित होती है। जिससे व्यक्ति स्वयं ही संयमित जीवन वेदान्त का अनुशासन व्यतीत करता है, वह केवल आत्मानुशासन है। अध्यापक, श्रुति, स्मृति, सामाजिक मान्यताएँ आदि सभी छात्र का मार्ग दर्शन कर सकते हैं, परन्तु अनुशासन को थोप नहीं सकते।[1]

शंकराचार्य छात्र में ब्रह्म का वास मानते हैं। छात्र में दृढ़ संकल्प शक्ति होती है जिसके बल पर वह आत्म ज्ञान प्राप्त करता है। अतः बालक पर किसी भी प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहिए वरन् स्वतंत्रापूर्वक निर्णय लेने का अवसर प्रदान करना चाहिए। वेदान्त की शिक्षा में शारीरिक दण्ड के लिए कोई स्थान नहीं है। बालक में सत्यं शिवम् सुन्दरम् के अनन्त आदर्श कार्यशील हैं और जब तक वह इनको पूर्णतः प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह कुण्ठित रहता है। जैसे-जैसे वह पूर्णता की ओर अग्रसर होता जाता है वैसे-वैसे ही उसके आनन्द का परिमाण बढ़ने लगता है और वह अन्त व पूर्ण आनन्द की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। छात्र के समान ही समस्त संसार भी ब्रह्ममय है। अतः मानव को सृष्टि के सभी जीवों के प्रति दया, करुणा, ममता और सहानुभूति होनी चाहिए। इसके लिए नैतिक अनुशासन अति आवश्यक है। शंकराचार्य के अनुसार इस नैतिक अनुशासन को यौगिक क्रियाओं द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है।

शंकराचार्य के सिद्धान्तों के आधार पर ब्रह्मज्ञानी जीवन के किसी भी स्तर पर नैतिक नियमों का दुरुपयोग नहीं कर सकता। ब्रह्मज्ञान की साधना के समय तो वह नैतिक अनुशासन में इसलिए रहता है क्योंकि उसके बिना सफलता प्राप्त नहीं हो सकती तथा ब्रह्मज्ञानी होने के पश्चात् विपरीत आचरण को उसकी इच्छा ही नहीं रहती और वह दृढ़प्रतिज्ञ हो जाता है और सन्मार्ग पर ही चलता है। इस प्रकार शिक्षक व शिष्य दोनों ही अनुशासन में रहते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती

महर्षि दयानन्द प्राचीन गुरुकुल प्रथा के प्रबल समर्थक थे। उनके अनुसार बालक को पूर्ण ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करना चाहिए, इसके लिए गुरुकुलों में कठोर नियंत्रण की व्यवस्था होनी चाहिए, बालक का कोई भी कार्य विषय वासनाओं से संबंधित न हो। यहाँ तक कि उसको अपने माता-पिता से भी दूर रखा जाए जिससे मोह-माया किसी भी रूप में बालक के मन में न आ सके। उसे अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना होगा और वह मन, वचन तथा

1. डॉ० रामस्वरूप सिंह नौलखा— 'आचार्य शंकर ब्रह्मवाद', किताबघर, आचार्य नगर, कानपुर, 1974, पृ० 267, 292

कर्म से शुद्ध हों। महर्षि दयानन्द के विचार से ब्रह्मचर्य की शिक्षा के लिए सर्वोत्तम स्थान विद्यालय ही है, वहाँ उसको इस प्रकार तैयार किया जाना चाहिए कि वह जीवन की विषम से विषम परिस्थिति में भी अपने को समायोजित कर सकें। ब्रह्मचारी का जीवन सैनिक जीवन के समान कठोर परिस्थितियों पर आधारित होना चाहिए, जो बड़े बिस्तर पर सोता है, रूखा-सूखा भोजन करता है और खराब मौसमों का सामना करता है। इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करके वह समाज की पूर्ण इकाई बन सकता है।

महर्षि का विचार है कि विद्यार्थी अनुशासन का आचरण तभी कर सकते हैं जबकि शिक्षक उनके सामने अनुशासित जीवन व्यतीत करें। इसलिए शिक्षक व शिष्य दोनों के लिए अनुशासन में रहना आवश्यक है। उनका कथन है कि शारीरिक अनुशासन के साथ-साथ मानसिक अनुशासन भी कायम रखना आवश्यक है। मानसिक अनुशासन के लिए वह योग को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इससे मन व शरीर दोनों को गलत विचारों से और वस्तुओं से बचाया जा सकता है। महर्षि की विचारधारा में अनुशासनहीन छात्रों के लिए दण्ड का भी विधान हैं। उनका विचार है कि वे बच्चे लाड़ प्यार के कारण गलत रास्तों पर पड़ जाते हैं और माता-पिता और शिक्षक ही उनके शत्रु के समान हैं। छात्रों को अनुशासन में रखने के लिए कठोर दण्ड भी दिया जाना चाहिए। कासगंज में अपनी स्थापित की हुई पाठशाला में उन्होंने पाठशाला का निरीक्षण करके कुछ नियम निर्धारित किए जो उनकी बिचारधारा को स्पष्ट करने में सहायक हैं:—

1. संध्या सिखाकर और बुद्धि की परीक्षा लेकर विद्यार्थियों को प्रवेश दिया जाए।
2. अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति और वेद पढ़ाए जाएँ।
3. पाठशाला में पढ़ाई निःशुल्क हो और पाठशाला में रहने वाले छात्रों का भोजन भी निःशुल्क हो।
4. जो विद्यार्थी सूर्योदय से पूर्व उठकर संध्या न कर लें उन्हें सायंकाव की संध्या कर लेने के पश्चात् ही भोजन दिया जाए।
5. छात्रों को नगर जाने की आज्ञा न दी जाए। परन्तु सम्मानपूर्वक भोजन का नियंत्रण मिलने पर वे किसी अध्यापक के साथ जा सकते हैं।

महर्षि ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि हमारे देश में व्यक्ति परिश्रम करना नहीं चाहते हैं, आलस्य की मात्रा बढ़ गई है। यदि देश को उच्च बनाना है तो प्रत्येक को परिश्रमी होना चाहिए और छोटे-छोटे कामों के

लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए।[1]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द के अनुसार हमें सदैव दूरदृष्टि से काम लेना चाहिए और कठोर अनुशासन कायम करना चाहिए। इसके लिए हमें दण्ड देने से भी नहीं हिचकिचाना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द का विचार है कि किसी भी कार्य को करने के लिए शक्ति की आवश्यकता पड़ती है और शक्ति को प्राप्त करने के लिए मनुष्यों में सहयोग व सद्भाव आवश्यक है। बिना सहयोग, आज्ञाकारिता और प्रेम के, शक्ति का केन्द्रीयकरण सम्भव नहीं है तथा व्यक्तियों की शक्ति को एकत्रित किए बिना किसी भी महान कार्य को सम्पन्न नहीं किया जा सकता; अतः स्वामी जी मनुष्यों को ईर्ष्या और कपट की भावनाओं को दूर करने तथा एकजुट होकर कार्य करने का उपदेश देते हैं। उनके अनुसार एकता ही हमारे देश की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है।[2] इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए दृढ़ चरित्र व अनुशासित जीवन आवश्यक है। इसलिए शिक्षा प्रदान करने के गुरुत्व कार्य के लिए भी शिक्षकों, प्राचार्यों तथा अन्य कर्मचारियों में भावात्मक एकता का होना आवश्यक है तथा सभी के लिए नैतिक अनुशासन की आवश्यकता है।

स्वामी जी का विचार है कि शिक्षक यदि स्वयं अनुशासित जीवन व्यतीत करेंगे तब छात्र भी उनका अनुकरण करेंगे। बालकों को किसी प्रकार दण्ड नहीं देना चाहिए और न ही किसी प्रकार का अनुचित दबाव डालना चाहिए। क्योंकि अनुचित दबाव डालने से बालक पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है और उसकी रुचियाँ व क्षमताएँ बाधित होती हैं, इस कारण वह कार्य को करने में तन्मयता से सीखने में अक्षम रहता है। अतः दबाव डालना शिक्षण कार्य में एक अनुचित परिणाम का संकेत करता है। इसलिए इसको शिक्षण में स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। स्वतन्त्रता शिक्षण की प्रथम दशा है। क्योंकि स्वतंत्र वातावरण में बालक की नैसर्गिक क्षमताओं को विकास का अवसर मिलता है और मूलतः जो नैतिक विशेषताएँ उसमें छिपी होती हैं, वह अवसर पाकर स्वयं विकसित होती है, और बालक स्वानुशासन से संयमित होता है, इसलिए उन पर किसी भी प्रकार का कठोर नियंत्रण नहीं होना चाहिए, वरन् सहानुभूति-

---

1. यदुवंश सहाय— महर्षि दयानन्द, लो० भा० प्रकाशन, इलाहाबाद 1971, पृ० 182–183

2. V. K. R. V. Rao— Swami Vivekananda, Govt. of India Publication, 1979, p. 189

पूर्वक बालक को ज्ञानप्राप्ति के लिए उत्साहित करना चाहिए। उनके अनुसार स्वानुशासन, अनुशासन का सर्वोत्तम रूप है।

रवीन्द्र नाथ टैगोर

रवीन्द्र नाथ टैगोर की विचारधारा प्रकृतिवादी दार्शनिकों से अधिक साम्य रखती है। वह स्वतन्त्रता पर बल देते हैं, उनका कथन है कि शिक्षा का ध्येय मस्तिष्क को स्वतन्त्र बनाना है तथा आत्मा को स्वतन्त्र बनाना है। इस लक्ष्य को हम स्वतन्त्रता के मार्ग पर चलकर ही प्राप्त कर सकते हैं। यह ही अंतिम सत्य है जो हमें आत्मा के प्रकाश की ओर प्रेम की दौलत देता है। उनके विचार से स्वानुशासन प्राप्त करने का यही एक मार्ग है कि बालक को दिव्यता की अनुभूति हो। अनुशासन की स्थापना के लिए टैगोर ने ब्रह्मचर्य पालन पर विशेष बल दिया है। इस धारणा में अनुशासन स्वतः ही निहित है, क्योंकि इसमें आत्म-नियन्त्रण आवश्यक है जिससे स्वानुशासन की भावना का उदय होता है। अनुशासन एक अनुभूति है जिसमें व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की भावना भी सन्निहित होती है जिसके कारण व्यक्ति आचरण करते समय उचित व अनुचित का मूल्यांकन करता है और समाज द्वारा मान्य व्यवहारों को ही करता है। इसके लिए समाज में उपयुक्त वातावरण का होना भी आवश्यक है जिससे मलिन विचार बालक में प्रवेश न कर सकें और उसका स्वभाव अच्छा हो सके।

विद्यालय का वातावरण भी स्वतंत्र और सन्तोषप्रद होना चाहिए। वह कहते हैं कि जब भी हम यह देखें कि शिक्षक वर्ग, जिन पर छात्रों को निर्देशित करने का कार्यभार है, अपना जीवन्त साहस छोड़ कर बल प्रयोग के माध्यम से छात्रों पर नियन्त्रण रख रहे हैं जबकि उनको छात्रों की सहायता का कार्य करना है, उस समय हमको उन्हें यह याद दिलाना चाहिए कि उनका मार्ग गलत है। शिक्षकों को मानवता की रक्षा का कार्य करना है। छात्रों के प्रति सद्भावना का व्यवहार कक्षा में स्वतन्त्रता का वातावरण उत्पन्न करेगा, जो शिक्षा के लिए आवश्यक है।[1]

रवीन्द्रनाथ टैगोर अनुशासन के मुक्तिवादी सिद्धान्त को मानने वाले हैं क्योंकि बालक अपने मस्तिष्क की जिज्ञासाओं की पूर्ण स्वतंत्रता चाहता है, यह जिज्ञासाएँ उन कोमल पौधों के समान है जो बड़ी आसानी से कुचले और तोड़े जा सकते हैं। बालक की मनोवृत्ति उन बन्धनों के विपरीत होती है जो उसकी स्वतंत्रता में बाधक होते हैं। इसलिए वह कठोर और यातनापूर्ण अनुशासन

---

1. Bhupendra Nath Sarkar— Tagore the Educator, Academic Publishers, 5A Bhawani Dutta Lane, Calcutta, 1974, p. 24

के विरुद्ध है और उनका विचार है कि इस प्रकार से स्थापित अनुशासन अवास्तविक, अनुपयोगी और आचारहीनता को पोषित करता है और भयावह दुष्टता का जन्म होता है।

टैगोर क्रियात्मकता के सिद्धान्त को भी स्वीकार करते हैं, उनका विचार है कि बालक में शक्ति और ऊर्जा होती है जो उसको दैवीय उपहार है। इसलिए बालक को निरन्तर किसी कार्य में लगा होना चाहिए जिससे उत्तरदायित्व की भावना उसमें पनपेगी और स्वानुशासन कायम होगा। टैगोर पाश्चात्य दार्शनिक रूसो की भांति प्राकृतिक अनुशासन में विश्वास करने वाले थे, लेकिन साथ ही सुधारवादी भी थे। इसके लिए उन्हें आत्म दण्ड ही मान्य था, जोकि भारतीय परम्परा में प्रायश्चित् कहलाता है।

टैगोर ने अनुशासन की स्थापना में समाज को भी उत्तरदायी माना है। उनका विचार है कि कम उम्र के बालकों के सम्मुख बुरे चरित्र के व्यक्ति नहीं आने चाहिए क्योंकि उस समय बालक अनुभवहीन होता है। जब उसमें आंतरिक नियंत्रण की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, तब वह उन तत्त्वों का सामना कर सकता है, उनसे संघर्ष कर सकता है।[1] विद्यालय में भी छात्र के साथ प्रेम, सहानुभूति व सद्प्रेरणा का व्यवहार होना चाहिए। अध्यापक व छात्र दोनों को ध्यान धारणा का अभ्यास करना चाहिए जो ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है।

उन्होंने अपने शान्तिनिकेतन में भी इसी प्रकार का वातावरण रखा, जहाँ निरंकुश अध्यापकों द्वारा छात्रों पर दबाव नहीं डाला जाता। वहाँ किसी प्रकार के नियम, विधान नहीं हैं, वरन् बालक जीवन की विभिन्न क्रियाओं में कुशल होता हुआ अपने परिवार व राष्ट्र के लिए एक उपयोगी सदस्य बनता है। वहाँ बालक अपनी इच्छा से ही सब सीखता है, जो छात्र त्रुटियाँ करते हैं, उनके दण्ड की व्यवस्था भी है लेकिन वह दण्ड अध्यापकों द्वारा नहीं दिया जाता वरन् छात्रों के निजी न्यायालयों द्वारा दिया जाता है। इसमें शारीरिक दण्ड की प्रथा नहीं है।

पं० मदनमोहन मालवीय

मालवीय जी के विचार से चरित्र गठन शिक्षा का प्राथमिक लक्ष्य है। चारित्रिक गठन के लिए नैतिकता अनिवार्य है। नैतिक आचरण की पुष्टि के लिए मालवीय जी धर्म व नागरिकता की शिक्षा आवश्यक मानते हैं। उनकी

2. Hiranmay Banerjee— Builders of Modern India— Rabindra Nath Tagore, Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, 1971, p. 77

धर्म की व्याख्या नैतिकता से ओत-प्रोत व नागरिकता से संबंधित है। उनका धर्म बहुत व्यापक विचारधारा रखता है, उसमें मानव के व्यक्तिगत धर्म से देश धर्म तक सम्मिलित है। देशभक्ति के लिए दृढ़ चरित्र का होना परम आवश्यक है, इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए मदनमोहन मालवीय कठोर अनुशासन का समर्थन करते हैं। मालवीय जी यह मानते हैं कि चरित्र निर्माण में शिक्षकों का विद्यार्थियों पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। अतः सर्वप्रथम शिक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं अनुशासन में रहे तथा छात्रों से उसका पालन कराए। उनके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापकों को प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह प्राचीन धर्म शिक्षा को मानेंगे, हिन्दू शास्त्रों का पालन करेंगे, शिक्षा का प्रचार करेंगे, समाज का कल्याण करेंगे, सदाचारी रहेंगे और देश-सेवा करेंगे।

मालवीय जी के अनुसार विश्वविद्यालय चरित्र विकास का साधन है। उनकी धर्म व भारतीय संस्कृति पर अटूट श्रद्धा थी। अपने विश्वविद्यालय के लिए स्थान का चयन करते समय भी उन्होंने भारतीयता को सर्वाधिक महत्त्व दिया। इसी कारण भारत की प्राचीन धर्म नगरी काशी को सबसे अधिक उपयुक्त स्थल माना। उनके अनुसार धर्म चरित्र निर्माण तथा सांसारिक सुख का सीधा मार्ग है। इससे मनुष्यों में उच्च कोटि की निःस्वार्थ सेवा की भावना आती है जिससे समाज तथा राष्ट्र का कल्याण होता है। इस प्रकार उनके विचार से सामाजिक वातावरण छात्रों को श्रेष्ठ बनाने में सहायक होगा जिससे छात्र स्वानुशासन में रहना सीखेंगे। इस प्रकार मालवीय जी कठोर अनुशासन तथा प्रभावात्मक अनुशासन को ही स्वीकार करते हैं, वह मुक्त्यात्मक अनुशासन के पक्ष में नहीं हैं।

श्री अरविन्द

श्री अरविन्द शिक्षा, जीवन और अनुशासन में पारस्परिक समन्वय देखते हैं। शारीरिक स्वास्थ्य व शक्ति प्राप्त करने के लिए शारीरिक अनुशासन आवश्यक है तथा दृढ़ चरित्र के लिए नैतिकता परम आवश्यक तत्त्व है। इन शक्तियों की प्राप्ति में खेल-कूद व व्यायाम की महत्त्वपूर्ण भूमिका है क्योंकि इनके द्वारा शक्ति, उत्साह, संकल्पशक्ति तथा शीघ्र निर्णय शक्ति का विकास होता है। खेलों के द्वारा व्यक्ति में पारस्परिक सहिष्णुता, स्वस्थ प्रतियोगिता, आज्ञा-कारिता जैसे महत्त्वपूर्ण गुणों का विकास अप्रत्यक्ष रूप में होता रहता है।[1]

---

1. Sri Aurobindo and the Mother— On Education, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1978, p. 64

जीवन के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जिस साधना की आवश्यकता होती है, उसका मार्ग खेलों द्वारा प्रशस्त होता है।[1]

जीवन को अनुशासित करने के लिए वह योग साधना को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। प्रत्येक विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह अनुशासन में रहे। इसके लिए वह चाहते हैं कि विद्यार्थी, मनसा, वाचा तथा कर्मणा से पवित्र हो और ब्रह्मचर्य का पालन करे। इसके लिए उसे सत्संगति ग्रहण करनी चाहिए, सद्-विचार करना चाहिए तथा सद्ध्ययन करना चाहिए। अनुशासन एक भावना से संबंधित है, जो नैतिकता से पूर्ण हो। अतः नैतिक शिक्षा के द्वारा अनुशासन स्थापित करना चाहिए। इसके लिए श्री अरविन्द ने शिक्षक की भूमिका को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह छात्रों में नैतिक भावना को भर दे। इसके लिए अध्यापक को सहानुभूति, प्रेम व सौहार्द से कार्य करना चाहिए, किसी भी प्रकार का बल प्रयोग अथवा दण्ड छात्रों में विरोधी भावनाएँ उत्पन्न करेगा और वह उच्छृंखल हो सकते हैं। आंतरिक अनुशासन की स्थापना के लिए छात्रों में स्वतन्त्र विचार का अवसर तथा कार्य के लिए स्वतन्त्र वातावरण प्रदान करना भी आवश्यक है। उनका विचार है कि कठोर नैतिक प्रशिक्षण, अनुशासन की भावना तथा आज्ञाकारिता वैयक्तिक स्वतन्त्रता में बाधक नहीं है वरन् वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए प्रथम आवश्यकता है। जैसे कि नियमों की व्यवस्था स्वतन्त्रता के लिए बाधक नहीं है वरन् स्वतन्त्रता के उचित उपयोग के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार अनुशासन भी स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है।[2]

श्री अरविन्द का विचार है कि शिक्षक अपने सद्व्यवहार, उच्चरित्र एवं पवित्र कार्यों से, अच्छी नैतिक शिक्षा देकर बालकों में आंतरिक अनुशासन कायम करे। आंतरिक अनुशासन बाह्य अनुशासन से श्रेष्ठ है और इसके लिए उन्होंने प्राचीन भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था के पालन पर जोर दिया है। वर्णाश्रम धर्म का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है, जो अन्तःप्रेरणा द्वारा किया जाना चाहिए।

श्री अरविन्द के विचार से बालक सहज अनुकरण द्वारा जीवन में अनेक शिक्षाएँ ग्रहण करता है। वह अपने माता-पिता, शिक्षक आदि निकट के व्यक्तियों के सम्पर्क से प्रभावित होता है, अतः आचार्य का पवित्र व उच्च होना भी परम आवश्यक है। इस प्रकार श्री अरविन्द अनुशासन के प्रभावात्मक

---

1. The Mother— A practical guide to integral Yoga, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1976, p. 181

2. Sri Aurobindo and the Mother— On Education, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1978, p. 66

सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, कहीं-कहीं पर वह युक्त्यात्मक सिद्धांत के समर्थक भी जान पड़ते हैं, क्योंकि बालकों को यथासंभव कार्य व विचार करने की स्वतंत्रता प्रदान करते हैं।

महात्मा गांधी

गांधी जी के अनुशासन संबंधी विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपना जीवन भी अनुशासनपूर्ण ढंग से व्यतीत किया। अतः उनका छात्रों को अनुशासन के सम्बन्ध में बल देना स्वाभाविक था। गांधी जी ने कभी दमनात्मक अनुशासन का समर्थन नही किया। उनका विचार था कि बालक प्रकृति से बुरा नहीं होता, वरन् प्राकृतिक व सामाजिक वातारण उसे अच्छा या बुरा बनाते हैं। इसलिए प्राकृतिक व सामाजिक वातावरण को उपयुक्त बनाकर छात्रों को अनुशासित रखा जा सकता है। उनका विचार है कि छात्रों के आचरण पर शिक्षकों के आचरण का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। उनके विचार से शिक्षक व छात्र चाहे कोसों दूर बैठे हों, तब भी अध्यापक द्वारा किये हुये कार्य का प्रभाव छात्र पर परोक्षरूप से पड़ता है। अतः सर्वप्रथम शिक्षक का आचारवान होना परम आवश्यक है तभी हम छात्रों से अनुशासिन रहने की आशा कर सकते हैं। गांधी जी के अनुशासन संबंधी विचार सुधारवादी है। वह अनुशासनहीनता को एक व्याधि के समान मानते हैं जिसका उपचार किया जाना चाहिए, और यह कार्य प्रेम व सहानुभूति से ही हो सकता है, दमनात्मक रीति से या दण्ड के द्वारा नहीं। अतः विद्यालय का वातावरण स्वच्छ व पवित्र रखने का प्रयास करना चाहिए।

अनुशासन भंग हो जाने की स्थिति में, पुनः अनुशासन प्राप्त करने के लिए उन्होंने सत्याग्रह के साधनों के प्रयोग पर बल दिया। इसमें आत्मिक पश्चाताप के लिए व्रत, उपवास का प्रावधान है। इसमें सर्वप्रथम शिक्षक अपनी आत्म शुद्धि के लिए प्रयास करता है क्योंकि वह स्वयं को भी अनुशासनहीनता का एक कारण मानता है। इस विधि का प्रयोग अत्यन्त दुरूह है तथा इसके लिए यह परम आवश्यक है कि छात्र को शिक्षक के प्रति असीम श्रद्धा हो और शिक्षक को छात्र के प्रति प्रेम व सहानुभूति हो। इस विधि पर गांधी जी ने अपने जीवन में अनेक प्रयोग किए।

अनुशासन स्थापित करने हेतु गांधी जी का एक सुझाव यह था कि छात्र किसी न किसी क्रिया में निरन्तर लगे रहें, क्योंकि इससे वह अनावश्यक बातों की ओर ध्यान नहीं देंगे और सहयोगात्मक क्रिया होने पर उनमें प्रेम, सहानुभूति, मैत्री आदि के गुण स्वतः ही विकसित हो जाएँगे।

इस प्रकार गांधी जी की धारणा के अनुसार अनुशासन स्थापित करने के

लिए सर्वप्रथम शिक्षक का अनुशासित होना परम आवश्यक है। आचार्य विनोबा के अनुशासन संबंधी विचार भी गांधी जी से पूर्ण साम्य रखते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दार्शनिकों ने प्रभावात्मक अनुशासन को प्रभुसत्ता दी है। उसका कारण यह है कि सभी दार्शनिक प्राचीन भारतीय गुरुकुल शिक्षा पद्धति को सर्वोच्च शिक्षा व्यवस्था मानते है। उसमें शिक्षक व छात्र का निकट सम्पर्क रहता था तथा छात्र के समस्त कार्यकलापों को शिक्षकों के माध्यम से ही सीखता था। उस व्यवस्था में शिक्षक एक आदर्श व्यक्ति होता था, जिसका जीवन त्यागमय तथा ज्ञान के लिए समर्पित होता था। छात्र शिक्षक के जीवन से प्रशिक्षित होता था, इसलिए छात्र पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में प्रभाव पड़ता था। इस व्यवस्था को स्वीकार करने वालों में शंकराचार्य, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, मदनमोहन मालवीय, श्री अरविन्द, महात्मा गांधी तथा आचार्य विनोबा भावे आदि शिक्षा सभी दार्शनिक हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा मदनमोहन मालवीय ने प्रभावात्मक अनुशासन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कठोर नियंत्रण की संस्तुति की है। उनका विचार है कि यदि छात्र अनुशासनहीनता करते हैं तब उनको दण्ड भी दिया जाना चाहिए जिसमें शारीरिक दण्ड भी मान्य है। इस प्रकार वह मूल्यों व आदर्शों को प्रत्येक दशा में बनाए रखना चाहते हैं।

कुछ दार्शनिक छात्र को स्वतन्त्रता देने के पक्ष में भी हैं, जिससे वह अपनी योग्यता में वृद्धि कर सके। उनका विचार है कि छात्रों पर अनावश्यक दबाव रखने से उनका मनोवैज्ञानिक विकास सम्भव नहीं होता, किसी भी प्रकार की हीनता की भावना आने पर या कुण्ठाग्रसित हो जाने पर उसके परिणाम बाद में भयंकर हो सकते हैं जो छात्र को अपराधी बना सकते हैं। इसलिए पर्याप्त स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। इन विचारकों में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, स्वामी विवेकानन्द तथा श्री अरविन्द प्रमुख हैं।

महात्मा गांधी तथा विनोबा भावे ने क्रिया द्वारा अनुशासन की नवीन विधि को मान्यता दी है। इसके अनुसार बालक जब सहयोगात्मक रूप में किसी कार्य में लगा होता है, तब उसमें स्वयं ही अनुशासन की भावना आ जाती है और वह सामाजिक गुणों से सम्पन्न हो जाता है।

स्त्री-शिक्षा

शंकराचार्य

शंकराचार्य ने स्त्री-शिक्षा के विषय में अलग से विचार नहीं किया है। उनका दर्शन वेदान्त दर्शन पर आधारित है, तथा यह दर्शन स्त्री व पुरुष दोनों

को समानात्मा मानता है, इसलिए स्त्रियाँ भी उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान की अधिकारिणी हो जाती हैं, जिस प्रकार पुरुष हैं, अतः दोनों का मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रयास करना चाहिए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती

महर्षि दयानन्द ने समाज में स्त्री के स्थान को विशेष महत्त्व दिया था। वह पुरुष के साथ नारी की समानता का पूर्ण समर्थन करते हैं, तथा पुरुष व नारी के अधिकारों में भी समानता स्वीकार करते हैं। परन्तु उन्होंने दोनों का कार्य-क्षेत्र भिन्न-भिन्न माना है, इसलिए दोनों शिक्षा का क्षेत्र भी भिन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। महर्षि दयानन्द ने स्त्रियों के जीवन से संबंधित विभिन्न समस्याओं जैसे— स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह, विधवा पुनर्विवाह तथा वेश्या उद्धार आदि को अपने समय में उठाया था, और उनका उचित समाधान भी प्रस्तुत किया था। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने नारियों के लिए योगाभ्यास को भी स्वीकृत किया है, उनका कथन है कि नारी भी पुरुषों के समान योगाभ्यास करें। भोजन, छादन, उठने-बैठने, बोलने-चालने व बड़े-छोटों से यथायोग्य व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करें तथा उसका उपदेश भी करें।[1]

महर्षि दयानन्द का अध्ययन भी वेदान्त दर्शन व उपनिषदों पर आधारित है। वेदान्त का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उस समय बालक व बालिकाओं दोनों को समान रूप से शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार था। महर्षि दयानन्द अथर्व वेद से उदाहरण देते हुए कहते हैं कि कन्याओं को ब्रह्मचर्य पालन करने व शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। वह कहते हैं कि श्रोत-सूत्रादि में— 'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्' लिखा है, अर्थात् यज्ञ में पत्नी इस मन्त्र को पढ़े। इसलिए जो स्त्री वेदादि का ज्ञान रखती हो तथा संस्कृत का उच्चारण कर सकती हो, वही मन्त्र पढ़ सकती है। भारत में स्त्रियों की भूषण रूपी 'गार्गी' वेदादि शास्त्रों को पढ़ कर पूर्ण विदुषी हुई थीं। यदि समाज में स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी न होंगी, तब परिवार में सुख-शान्ति, बच्चों का उचित पालन-पोषण नहीं हो सकेगा, और छात्राओं की पाठशाला के लिए महिला शिक्षिकाएँ भी नहीं उपलब्ध होंगी। इसलिए स्त्रियों का शिक्षित होना अनिवार्य है।

महर्षि ने प्राचीन भारतीय महिलाओं में से कैकेयी का उदाहरण देते हुए कहा है कि यदि वह युद्ध विद्या न जानती तो दशरथ के साथ युद्ध-क्षेत्र में कैसे जा सकती थी। उस समय आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद भली

---

1. महर्षि दयानन्द सरस्वती— 'सत्यार्थ प्रकाश', आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, विक्रम 2026, पृ० 54

प्रकार जानती थीं। इसलिए ब्राह्मणी को सब प्रकार की विद्या, क्षत्राणी को सब प्रकार की विद्या के साथ-साथ युद्ध तथा राजविद्या, वेश्या को व्यवहार विद्या तथा शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए। इस प्रकार उन्होंने वर्ण-व्यवस्था के आधार पर स्त्रियों के कार्यों व तत्सम्बन्धी शिक्षा का विभाजन किया है।[1]

महर्षि दयानन्द सरस्वती का विचार है कि पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित की शिक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिए, साथ ही उन्हें शिल्प विद्या का ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना वह सत्य-असत्य, उचित-अनुचित का निर्णय नहीं कर सकेगी, पति के साथ अनुकूलन व संतानोत्पत्ति व उनका पालन-पोषण, वर्द्धन व सुशिक्षा का कार्य नहीं कर सकेंगी। वैद्यक विद्या से उन्हें स्वास्थ्यवर्धक भोजन के निर्माण में भी सहायता मिलेगी। शिल्प विद्या से भवन बनवाना तथा वस्त्र आभूषण आदि के बनाने व बनवाने में कुशलता प्राप्त करेंगी। गणित विद्या इन सबका हिसाब रखने व समझने के लिए आवश्यक है। वेदादि शास्त्रों का अध्ययन धर्म को जानने तथा अधर्म से बचने के लिए आवश्यक है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दयानन्द स्त्रियों की शिक्षा के घोर समर्थक हैं, वह उनके कार्य क्षेत्र में तथा सामान्य जीवन के व्यवहारों में उनको पूर्ण कुशल बनाना चाहते हैं। स्वामी दयानन्द ने स्त्री शिक्षा के लिए अलग से पाठशालाएँ स्थापित करने पर जोर दिया है। चूँकि गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में ब्रह्मचर्य को विशेष महत्त्व दिया जाता है अतः सहशिक्षा निषिद्ध है। इसलिए पृथक कन्या गुरुकुल की स्थापना की गई है जो निम्न स्थानों पर हैं :—

1. कन्या गुरुकुल, देहरादून
2. कन्या गुरुकुल, सासनी, अलीगढ़
3. कन्या महाविद्यालय, जालंधर (पंजाब)
4. आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा।

इन सभी कन्या गुरुकुलों में छात्रों के गुरुकुलों के समान ही शिक्षा की व्यवस्था है तथा 16 वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए छात्राओं को शिक्षा ग्रहण करनी होती है, इसमें प्राचीन वैदिक ग्रन्थों के साथ-साथ भारतीय धर्म व दर्शन की शिक्षा दी जाती है, तथा नारी के धर्म व कर्त्तव्यों से उन्हें परिचित कराया जाता है।

---

1. महर्षि दयानन्द सरस्वती — 'सत्यार्थ प्रकाश', आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, विक्रम 2026, पृ० 98

2. –वही– पृ० 99

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द ने स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने स्त्री समाज में नव जागृति का आह्वान किया तथा उन पुरोहितों की कटु शब्दों में आलोचना की है, जिन्होंने स्त्रियों को उनके अधिकारों से वंचित रखा। उनका कथन है कि इस वैदिक भूमि पर जहाँ वेदान्त की वह घोषणा है कि सभी प्राणियों में वही एक आत्मा विराजमान है, स्त्री व पुरुषों में किसी भी प्रकार का भेदभाव स्त्रियों के साथ समाज का अन्याय है, जिसके लिए समाज को प्रायश्चित करना चाहिए और उनके उद्धार हेतु विभिन्न प्रयास करने चाहिएँ। उन्होंने कहा कि ऐसा संसार में कोई कारण नहीं है कि स्त्रियाँ पुरुषों से निम्न स्तर पर रहें, क्योंकि प्राचीन वैदिक युग में मैत्रेयी और गार्गी जैसी महिलाएँ यकविों के समान ज्ञानवान् रही हैं और गार्गी ने तो समस्त प्राणियों की सभा में याज्ञावल्क्य जैसे ऋषि को शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा था।[1]

स्वामी जी का कथन है कि समस्त जनसंख्या का आधा भाग स्त्रियाँ होती हैं, अतः समाज की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण मानव जाति कुशल व प्रशिक्षित रहे क्योंकि यदि स्त्रियाँ अकुशल व अशिक्षित होंगी, तब पुरुष वर्ग भी अकुशल ही होगा क्योंकि स्त्रियाँ एक अच्छी माता तभी बन सकती हैं, जबकि वह शिक्षित हों। उनका कथन है कि हमारे देश के पतन का कारण यही है कि हमने इन सभी सजीव प्रतिमाओं के प्रति आदर व श्रद्धा को खो दिया है, जबकि अन्य अनेक विकसित देशों में उनको समान आदर प्राप्त होता है और इसी कारण वह उन्नत हैं, विद्वान् है, स्वतंत्र और शक्तिशाली है। स्वामी जी ने मनु स्मृति का उदाहरण दिया है, जिसमें कहा गया है कि जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहाँ देवता प्रसन्न होते हैं और जहाँ उनका आदर नहीं होता, वहाँ सारे कार्य और प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं।[2] इसलिए जिस देश में स्त्रियाँ उदासीन और दुःखी जीवन व्यतीत करती हैं, उस देश की उन्नति की आशा नहीं की जा सकती।

स्वामी विवेकानन्द स्त्रियों से संबंधित सभी समस्याओं का एकमात्र हल शिक्षा बताते हैं। उनका विचार है कि माता-पिता पुत्रियों की शिक्षा का प्रबन्ध भी उसी प्रकार करें जैसे पुत्रों के लिए करते हैं। मनु महाराज की भी यही आज्ञा है कि पुत्रियों का लालन-पालन और शिक्षा उतनी ही सावधानी

---

1. स्वामी विवेकानन्द— शिक्षा, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975, पृष्ठ 40
2. –वही– पृ० 41

और तत्परता से होनी चाहिए, जितनी पुत्रों की। जिस प्रकार पुत्रों का विवाह तीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य पालन के पश्चात् होना चाहिए, उसी प्रकार पुत्रियों को भी ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए और शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। आधुनिक स्त्री शिक्षा के प्रति उन्होंने असंतोष व्यक्त किया है क्योंकि स्त्रियों को स्वावलम्बी बनने की शिक्षा प्रदान नहीं की जाती, वरन् दूसरों पर अवलंबित रहने दिया जाता है, जिसके कारण वह अपने जीवन की किसी भी समस्या का डटकर मुकाबला नहीं कर सकती और थोड़े से कष्ट में ही रोने लगती है। इसलिए स्त्रियों को स्वावलम्बी बनाकर उन्हें अपनी समस्याओं को स्वयं ही सुलझाने का अवसर प्रदान करना चाहिए, जिस प्रकार अन्य देशों की स्त्रियाँ करती हैं। स्वामी जी का कथन है कि हमारे देश की स्त्रियाँ भी संसार के अन्य देशों की स्त्रियों के समान दक्ष हैं उन्हें अपनी दक्षता प्रदर्शित करने का अवसर मिलना चाहिए।[1]

विवेकानन्द ने धर्म को स्त्री शिक्षा का सबसे अधिक सशक्त साधन माना है। धर्म को केन्द्र बनाकर स्त्रियों को चारित्रिक गठन व ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी जा सकती है। चूंकि धर्म हमारी परम्पराओं की रीढ़ है, अतः धर्म के माध्यम से स्त्रियों ने नैतिकता तथा सतीत्व के महत्त्व को भली प्रकार समझा है और उसको जीवन में उतारा है। सर्वप्रथम हमारा यह कर्त्तव्य है कि इन गुणों को उनमें दृढ़ किया जाए, वह किसी भी अवस्था में अपने आदर्श से न भटकें। उन्होंने 'सीता' का आदर्श स्त्रियों के सम्मुख रखा है, जो इस आर्यावर्त्त में सहस्रों वर्ष से आराध्य बनी हुई है। स्वामी जी ने आधुनिकता के रंग में रंगने वाली महिलाओं के सम्मुख त्याग का आदर्श रखा, जिससे वह अपने प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त कर सकें। वह कहते हैं कि हमारी जन्मभूमि को विशुद्धात्मा, ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणियों की आवश्यकता है। यदि सहस्रों स्त्रियों में से एक भी ब्रह्मज्ञानी महिला हो जाती है, तो इससे देश व समाज का बड़ा उपकार होगा। इन्हीं सुच्चरित्र वाली ब्रह्मचारिणियों के कन्धों पर वह महिला शिक्षा का भार रखना चाहते हैं।[2]

स्त्रियों की शिक्षा में वह इतिहास, पुराण, गृह-व्यवस्था, कला-कौशल, सिलाई, शिशु-पालन आदि विषयों को रखना चाहते हैं, उनके विचार से शूरता और वीरता के भाव भी स्त्रियों में उत्पन्न किए जाने आवश्यक हैं, तथा इनको आत्म-रक्षा के उपाय सीख लेना भी आवश्यक हो गया है। प्राचीन झांसी की रानी का उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार सहमित्रा, अहिल्याबाई

1. स्वामी विवेकानन्द— शिक्षा, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975, पृ. 41
2. –वही– पृ० 43

तथा मीराबाई के आदर्शों को चरितार्थ करने वाली स्त्रियाँ सामने आनी चाहिएँ। जिन सद्गुणों के कारण हमारी ये माताएँ प्रसिद्ध हैं, उनकी सन्तानें इन सद्गुणों में और भी वृद्धि करेंगी। उनका विचार है कि शिक्षित और धार्मिक माताओं के घर में ही महापुरुष जन्म लेते हैं। यदि स्त्रियाँ उन्नत हो जाएँगी तो उनकी सन्तानें अपने उदार कर्त्तव्यों द्वारा देश का नाम उज्ज्वल करेंगी।[1]

इस प्रकार स्वामी जी परिवार, समाज व देश सभी की उन्नति के लिए स्त्रियों को शिक्षित करना अनिवार्य समझते हैं और कहते हैं कि इस कार्य में समाज के साथ-साथ स्त्रियों को स्वयं भी प्रयत्न करना चाहिए, जिससे वे समाज में अपना स्थान प्राप्त कर सकें।

रवीन्द्रनाथ टैगोर

रवीन्द्रनाथ टैगोर परिवार व समाज में स्त्री की भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनका विचार है कि स्त्री पुरुष के प्रतियोगी के रूप में नहीं है, वरन् पूरक रूप में है। यह विचारधारा भले ही प्राचीन हो, परन्तु समय के साथ-साथ इसको दृढ़ता ही प्राप्त हुई है। आधुनिक काल में स्त्रियों द्वारा चलाए गए आंदोलनों के संबंध में वह कहते हैं कि मैं स्त्रियों को किसी भी प्रकार के अधिकारों से वंचित नहीं करना चाहता, जो पुरुषों को प्राप्त हैं, परन्तु उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि उनका कार्य अपने साथी के समरूप होने का नहीं है वरन् उनको विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग देना है और एक सशक्त मित्र बनना है तथा समय-समय पर अपना उचित निर्देशन भी प्रदान करना है, किन्तु यह बात ध्यान रखने योग्य है कि सहयोग का तात्पर्य अनुकरण मात्र से नहीं है। स्त्रियों को समाज में अपना समुचित स्थान प्राप्त करना चाहिए और यह तभी संभव है, जबकि वह अपनी सत्य प्रकृति के अनुसार स्वधर्म का पालन करेंगी।[2]

रवीन्द्रनाथ टैगोर भारत में स्त्रियों की शोचनीय दशा से दुःखी थे। वह विदेशी स्त्रियों की भाँति ही भारतीय नारियों को उन्नत देखना चाहते थे, इसके लिए उनकी अलग से शिक्षा के प्रबन्ध करने के पक्ष में थे। जहाँ पर उनकी शिक्षा का अलग प्रबन्ध नहीं हो सकता, वहाँ सह-शिक्षा ही दी जानी चाहिए। उनका विचार है कि जानने योग्य ज्ञान को स्त्री व पुरुष दोनों के द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिए। वह कहते हैं कि वह समस्त ज्ञान जिससे मानसिक शक्ति प्राप्त होती है, उसे सीखना चाहिए, भले ही, उसका प्रयोग व्यावहारिक जीवन

1. स्वामी विवेकानन्द — 'शिक्षा', श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975, पृ० 44

2, Hiranmay Banerjee— Builders of Modern India— Rabindra Nath Tagore, Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, 1971, p. 134

में न हो सके। उन्होंने ज्ञान के क्षेत्र में स्त्री व पुरुषों दोनों के बीच किसी प्रकार का भेद-भाव स्वीकार नहीं किया है क्योंकि जिज्ञासा की प्रकृति जन्मजात लक्षण है और वह स्त्री व पुरुषों में समान रूप से पायी जाती है परन्तु व्यावहारिक तथा उपादेय ज्ञान दोनों के लिए अपने-अपने जीवन क्षेत्र से संबंधित होना चाहिए। स्त्रियों को परिपक्व मानव प्राणी बनने के लिए विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करना चाहिए तथा एक आदर्श पत्नी व माँ बनने के लिए उपादेय ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि यह उसका मूल स्वभाव है। इसलिए उपयोगी ज्ञान उसके जीवन का आधारभूत ज्ञान होगा। अपने शान्तिनिकेतन में उन्होंने स्त्रियों में व्यक्तिगत व सामाजिक दोनों प्रकार की कुशलता को विकसित करने का प्रयास किया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर का विचार है कि उन स्त्रियों के लिए जो विद्यालय में दी गई सुविधाओं को किसी कारणवश नहीं प्राप्त कर पाती हैं, उनके लिए घर में स्वयं अध्ययन की योजना चलायी जानी चाहिए। इसके लिए शहरों तथा कस्बों में शिक्षा केन्द्र खोले जाने चाहिएँ। इसके अधिक व्यवस्थित करने के लिए उन्हें छोटी कक्षाओं से लेकर बड़ी कक्षाओं तक का पाठ्यक्रम दिया जाना चाहिए तथा उपयुक्त पुस्तकों से संबंधित सुझाव भी दिए जाने चाहिएँ। इस प्रकार की परीक्षाओं से उनके सामाजिक स्तर में बढ़ोत्तरी होगी तथा वह किसी व्यवसाय को करने की क्षमता भी प्राप्त कर सकेंगी और इससे नवीन उत्तम पुस्तकों के प्रकाशित होने तथा उत्तम शिक्षण सामग्री के निर्माण का अवसर भी प्राप्त होगा।[1]

स्त्रियों के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक तथा सामाजिक उन्नति व शिक्षा के लिए टैगोर के शान्तिनिकेतन में सन् 1908 में स्त्री-शिक्षा विभाग की स्थापना हुई। कुछ कठिनाइयों के उपस्थित होने पर उसको बन्द करना पड़ा और पुनः 1922 में नारी भवन में इस शिक्षा का कार्यक्रम चलाया गया। इस विभाग में पुरुषों के समान ही स्त्री-शिक्षा का प्रबन्ध है। इसके अतिरिक्त उन्हें गृह विज्ञान, पाक-कला, सिलाई-कढ़ाई तथा अन्य कला-कौशलों की शिक्षा भी प्रदान की जाती है। वहाँ पर समय-समय पर गोष्ठियों व समितियों का आयोजन होता रहता है, जिससे साहित्यिक ज्ञान भी प्राप्त हो सके। इसके अतिरिक्त खेल-कूद, व्यायाम, आत्म-रक्षा की शिक्षा व समाज-सेवा इत्यादि कार्यों की उपयुक्त सुविधाएँ प्रदान की गई हैं, जिससे

1. Ravindra Nath Tagore Birth Centenary Celebrations, Proceedings of Conference, Vol. I, Education, Editor Sunil Chandra Sarkar, Published by Ranajit Ray, Visva-Bharti, Santiniketan, 19.1, p. 58

स्त्रियों का सर्वांगीण विकास हो सके और उनके व्यक्तित्व को पूर्णतः अभिव्यक्त होने का अवसर प्राप्त हो सके।

टैगोर का शैक्षिक उद्देश्य मात्र किसी समाज अथवा देश तक ही सीमित नहीं है वरन् वह सम्पूर्ण विश्व को मानवता का पाठ पढ़ाना चाहते हैं। वह कहते हैं कि मेरा उद्देश्य मात्र साहित्य साधना का ही नहीं है वरन् सम्पूर्ण विश्व की मानव जाति की सेवा करने का है और यह कार्य कोई मुझ जैसे व्यक्ति का ही नहीं है वरन् सम्पूर्ण भारत का है। अपने विचारों और कार्यों को मैंने एक शिक्षण संस्थान द्वारा प्रसारित करने का प्रयास किया है, मैं स्त्री वर्ग से आशा करता हूँ कि वह मुझे इस कार्य में प्रेरणी देंगी। मैं स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले कार्य को महत्त्वपूर्ण समझता हूँ। राजनीति की भाँति ही शिक्षा में भी यदि हम स्त्रियों का हार्दिक सहयोग नहीं प्राप्त करेंगे तब अपनी शक्ति को और अपनी विजय को नहीं प्राप्त कर सकेंगे।[1]

इस प्रकार टैगोर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियों का सहयोग प्राप्त करना चाहते हैं और इसके लिए उन्हें पूर्णतः शिक्षित व कुशल बनाना चाहते हैं। स्त्रियों की शिक्षा में उन्होंने विशुद्ध ज्ञान व व्यावहारिक ज्ञान दोनों को समान महत्त्व दिया है।

मदनमोहन मालवीय

मदनमोहन मालवीय माँ को प्रथम गुरु मानते हैं। बालक की प्रारंभिक आधारभूत शिक्षा उसके परिवार में उसकी माता द्वारा होती है, अतः इस बात की परम आवश्यकता है कि सर्वप्रथम माँ को शिक्षित किया जाए, जिससे वह राष्ट्र के लिए कुशल नागरिक तैयार करने में अपना अमूल्य योगदान दे सकें। माँ के समान कोई दूसरा शिक्षक नहीं है, इसलिए देश को जिस दिशा में ले जाना हो, उसी प्रकार की शिक्षा की व्यापक व्यवस्था स्त्रियों के लिए की जानी चाहिए। स्त्री-शिक्षा द्वारा ही देश के भावी कर्णधारों का सम्यक् निर्माण हो सकता है। इस दृष्टि से स्त्री-शिक्षा का महत्त्व पुरुषों की शिक्षा से भी अधिक है, क्योंकि देश के भावी राजनीतिज्ञों, विद्वानों, व्यापारियों आदि की प्रथम शिक्षिका स्त्री ही है।

माँ की शिक्षा का मनोवैज्ञानिक प्रभाव बालक पर पड़ता है क्योंकि मूल संवेगों को उचित शिक्षा प्रदान करने का उत्तरदायित्व माता को ही निर्वाह करना पड़ता है, इसके साथ ही सांस्कृतिक शिक्षा भी माता द्वारा ही प्रदान की

---

1. Bhupendra Nath Sarkar— Tagore the Educator, Academic Publishers, 5A, Bhawani Dutta Lane, Calcutta, 1974, p. 30

जाती है क्योंकि समाज की परम्पराओं, रूढ़ियों तथा उत्सवों आदि को समाज में शिक्षा का सबल माध्यम प्राप्त होता है और बालक परिवार में ही इनकी शिक्षा प्राप्त करता है। इसलिए स्त्रियों के लिए पुरुषों से भिन्न शिक्षा की आवश्यकता है, क्योंकि हमें जिस स्त्री शक्ति की आवश्यकता है, वह पुरुषों के समान शिक्षा प्रदान करके नहीं प्राप्त की जा सकती। पुरुषों की प्रेरणा स्रोत स्त्रियाँ ही हैं। बाल्यावस्था से प्रौढ़ावस्था तक पुरुष स्त्रियों द्वारा ही प्रेरणा प्राप्त करता है। अतः यह स्त्रियों पर ही निर्भर है कि वह समाज को उच्च मूल्य प्रदान करती हैं, अथवा निम्न।

मालवीय जी के अनुसार स्त्रियों की शिक्षा का उद्देश्य उन्हें प्राचीन साहित्य व संस्कृति का ज्ञान तथा उसके साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान करना होना चाहिए। इस उद्देश्य की रूपरेखा हेतु विषयों का चयन करने के लिए सर्वसम्मति से निश्चय करना चाहिए। इस प्रकार समन्वित शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में मालवीय जी अपना सुझाव प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि उन्हें जीव-विज्ञान, चित्रकला, संगीत-विज्ञान की शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। उनके लिए साहित्य व संस्कृति का ज्ञान प्रदान करना प्रथम आवश्यकता है, अन्य विषय द्वितीय स्थान पर आते हैं। इस प्रकार वह देश के प्राचीन आदर्शों को अक्षुण्ण रखना चाहते हैं।

मालवीय जी देश की आदर्शवादी निर्भीक स्त्रियों का उदाहरण देते हुए मैत्रेयी, लीलावती तथा सुलभा का वर्णन करते हैं, जो विदुषी तथा राज्य-कार्य में कुशल रही हैं। अहिल्याबाई तथा लक्ष्मीबाई का आदर्श एक कुशल सैनिक के रूप में रखते हैं। इसी प्रकार की स्त्रियों की आवश्यकता आज भारतवर्ष को है, जिससे वह अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त कर सकें। इस प्रकार वह प्राचीन भारतीयता को प्रमुखता देते हैं, लेकिन साथ ही आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान का समन्वय भी आवश्यक समझते हैं, जो गतिशीलता व विकास के लिए आवश्यक है। इस प्रकार उन्होंने दूरदर्शिता का परिचय दिया है।

श्री अरविन्द

श्री अरविन्द छात्र व छात्राओं को एक समान शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं, किसी भी प्रकार का अन्तर उन्होंने, उनके पाठ्यक्रम में नहीं रखा है। श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र में सभी साधक व साधिकाएँ पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए एक समान शिक्षा प्राप्त करते हैं। उनमें विभिन्न विषयों के साथ-साथ योग, व्यायाम, खेल-कूद आदि की समुचित व्यवस्था है। श्री अरविन्द का कथन है कि योग में स्त्री तथा पुरुषों को साधक व साधिकाओं के योग्य स्वतंत्र और स्वाभाविक संबंध स्थापित करने में सफल होना चाहिए। इसके

लिए वह उपाय बताते हुए कहते हैं कि स्त्री व पुरुष एक-दूसरे से, इस प्रकार मिल-जुल सकें कि उन्हें स्त्री अथवा पुरुष होने का ध्यान ही न रहे, वरन् मानव समझकर दोनों भगवान की सेवा में तत्पर रहें। यह भाव अपने अन्दर रहने पर किसी प्रकार की अनुशासनहीनता नहीं आएगी।[1]

श्री अरविन्द आश्रम में पति-पत्नी भी साधक व साधिकाओं के रूप में ही रह सकते हैं, उन्हें अन्य प्रकार से संबंधित नहीं होना चाहिए। इस प्रकार पूर्ण नैतिकता व अनुशासन में योग की शिक्षा का प्राविधान है।

महात्मा गांधी

महात्मा गांधी स्त्रियों को बहुत अधिक सम्मान देते हैं, और प्रत्येक क्षेत्र में उनकी भूमिका की सराहना करते हैं तथा उनसे और अधिक सहयोग करने की आशा भी करते हैं। अपने कुछ मित्रों से स्वराज्य-प्राप्ति की योजना पर बातें करते हुए वह महिलाओं की भूमिका की भी चर्चा करते हैं जिसमें वह कहते हैं कि महिलाओं के कार्यों से मैं बहुत अधिक आशा करता हूँ। उनको केवल कुछ सहायता की आवश्यकता है, जिससे उन्हें गर्त के कुएँ से निकाला जा सके, जिसमें वह डाल दी गई हैं। उन्होंने 1931–32 के सत्याग्रह आन्दोलन में भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है और आज भी वह कार्य कर रही हैं। लेकिन उसका पूर्ण लाभ नहीं प्राप्त हो रहा है। उनको संगठित होने की आवश्यकता है, उनमें कष्टों की अहिंसात्मक रूप में सहने की असाधारण क्षमता है और वह चुपचाप उसको सहेंगी।[2]

गांधी जी स्त्री को पत्नी-माता, मानव-निर्माता और समाज-सेविका के रूप में देखते हैं। वह उनको ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं, इसलिए वह स्त्रियों की स्थिति सुधारने में अत्यधिक रुचि लेते हैं। उनका कथन है कि जीवन में अक्षर ज्ञान के बिना भी बहुत से काम हो सकते हैं, किन्तु अक्षर ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, क्योंकि इससे बुद्धि बढ़ती है और तेज होती है तथा परमार्थ करने की शक्ति बहुत बढ़ जाती है। पुरुषों के समान सामान्य जीवन के अधिकार प्राप्त करने और इनको काम में लाने तथा जीवन की शोभा बढ़ाने के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा के बिना उस आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती, जो विद्या के भण्डार में भरा हुआ है। इसलिए पुरुषों के समान

---

1. पत्रिका— 'अग्नि शिखा', नारी अंक, श्री अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी, अक्तूबर 1972, पृ० 1

2. M. S. Patel— The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, Navajivan Publishing House, 1953, p. 236

ही स्त्रियों को भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जो सरकारी शिक्षा उस समय दी जा रही थी, उसको गांधी जी त्याज्य मानते हैं क्योंकि वह हानिकारक है। स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक दूसरे का सहारा हैं, इसलिए यदि एक का भी स्तर गिर जाए, तो दोनों का नाश हो जाता है। इस कारण स्त्री शिक्षा की योजना बनाने वालों को यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि बाहरी कार्यों का विशेष ज्ञान पुरुषों के लिए आवश्यक है और घर के कार्यों में स्त्री की प्रधानता है, इसलिए गृह-व्यवस्था, बच्चों की देखरेख और शिक्षा का ज्ञान स्त्रियों को होना चाहिए। उनका विचार है कि ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक के लिए उचित है, किन्तु अपने-अपने क्षेत्रों में पूर्णता भी होनी आवश्यक है।

गांधी जी सभी स्त्रियों को अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करना अनावश्यक मानते हैं, उनका विचार है कि थोड़ी पढ़ाई वालों के लिए, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, अंग्रेजी शिक्षा व्यर्थ है। धन के उपार्जन या राजनैतिक कार्यों के लिए ही अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता है, इसलिए कम ही स्त्रियाँ इसको सीखेंगी। वह पुरुषों की शालाओं में ही सीख सकती हैं, इसलिए अलग से स्त्रियों के लिए अंग्रेजी शिक्षा की व्यवस्था हमारी गुलामी की उम्र बढ़ाने का कारण बन जाएगा।[1]

इस प्रकार गांधी जी का विचार है कि पाठ्यक्रम को बनाते समय इस बात का ध्यान रखा जाए कि शिक्षा स्त्री व पुरुष के कार्य क्षेत्र से संबंधित हो। उन्होंने बेसिक शिक्षा योजना में पांचवीं कक्षा तक छात्र व छात्राओं के लिए सामान्य शिक्षा रखी है और चौथी कक्षा में गृह-विज्ञान को भी सम्मिलित कर लिया गया है। छठी कक्षा से छात्राओं के लिए काम के धन्धे के स्थान पर गृह-विज्ञान विषय लेने की छूट है। उनको अपनी रुचि और जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार विषय लेने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। गांधी जी का विचार है कि छोटे बालक व बालिकाओं की शिक्षा पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों द्वारा भली प्रकार दी जा सकती है और यह अति उत्तम होगा कि सेवा कार्य के लिए लड़कियाँ अविवाहित बनी रहें, लेकिन लाखों में से एक ही लड़की इस कार्य में सफल हो पाती है, इसलिए माताएं ही इस कार्य में अच्छी अध्यापिकाएँ सिद्ध हो सकती हैं। उनका यह अटूट विश्वास था कि माता के रूप में नारी में असीमित सच्चा प्रेम और त्याग भरा हुआ है। इसलिए नारी ही नेतृत्व कर सकती है। वह कहते हैं कि नारी को अपना प्रेम समस्त मानव जाति में बिखेरने दो, उसे यह भूल जाने दो कि वह मनुष्य की वासना

1. B. K. Ahluwalia— M. K. Gandhi Selected Speeches, Sagar Publication, New Delhi, 1967, p. 109

का लक्ष्य है अथवा रही है। उसके उपरान्त वह मनुष्य के पास उसकी माता, उसको बनाने वाली और शान्त नेता के रूप में अपना पद ग्रहण कर लेगी।[1]

इस प्रकार गांधी जी स्त्री वर्ग के प्रति सम्मान व अटूट विश्वास रखते हैं। उन्होंने बेसिक शिक्षा में छात्र व छात्राओं की सह-शिक्षा की व्यवस्था की है। उनका विचार है कि 16 वर्ष की आयु तक छात्र व छात्राओं को सह-शिक्षा प्रदान की जा सकती है। किन्तु यह विचार वह दूसरे व्यक्तियों पर लादना नहीं चाहते हैं क्योंकि सह-शिक्षा के प्रश्न पर सभी व्यक्ति समान मत नहीं रखते हैं। अतः यह सामाजिक विचारधारा पर रहने वाला विचार है जो समय व परिस्थिति के अनुसार लागू होना चाहिए।

डॉ० राधाकृष्णन

डॉ० राधाकृष्णन स्त्रियों की निम्न दशा के प्रति खेद व्यक्त करते हैं। उनका कथन है कि स्त्रियों को जो राजनैतिक व सामाजिक अधिकार मिले हैं, उनका पूर्ण प्रभाव अभी तक हमारे जीवन पर नहीं पड़ा है। महिलाओं के लिए अधिक योजनाबद्ध रूप में कार्य करने की आवश्यकता है। महिला सम्मेलनों के कार्यों की वह प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि उनमें ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान, भारतीय-यूरोपियन आदि भेदभावों को स्थान नहीं दिया गया है। यह हम सभी के लिए प्रेरणाप्रद है। सम्मेलन का उद्देश्य शिक्षा व समाज सुधारों तक सीमित है, उसमें राजनैतिक उद्देश्यों को प्राथमिकता नहीं दी गयी है। लेकिन स्त्रियाँ इस विषय में यह न सोचें कि उनका विषय गौण है क्योंकि राजनैतिक पिछड़ेपन का कारण भी शिक्षा का अभाव ही है। इसलिए शिक्षा के प्रसार द्वारा राजनैतिक जागृति उत्पन्न होगी जो स्वतंत्रता आन्दोलन में सहायक ही सिद्ध होगी।[2]

डॉ० राधाकृष्णन ने विश्वविद्यालय शिक्षा की आयोजना के समय भी स्त्री शिक्षा की समस्या का अध्ययन किया और उसके प्रचार व प्रसार के लिए विभिन्न सुझाव दिये। आयोग का विचार है कि शिक्षित स्त्रियों के बिना शिक्षित व्यक्ति नहीं हो सकते। यदि सामान्य शिक्षा को पुरुषों या स्त्रियों तक सीमित रखा जाता है तो समाज की प्रगति अवरुद्ध हो जाएगी। इसलिए स्त्रियों को भी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जाना चाहिए क्योंकि ऐसी दशा में शिक्षा को निश्चित रूप से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किया जा सकेगा। स्त्री

---

1. N. K. Bose— Selections from Gandhi, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1948, p. 241

2. डॉ० राधाकृष्णन— 'स्वतन्त्रता और संस्कृति', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृ० 127

शिक्षा के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिए हैं—

1. स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जाय, जिससे वे सुमाता और सुगृहिणी बनें।
2. पुरुषों के जिन विद्यालयों में स्त्रियों को शिक्षा दी जा रही है, उनमें स्त्रियों के जीवन की सामान्य सुविधाएँ और शिष्टाचार की उचित व्यवस्था की जाय।
3. स्त्रियों की शिक्षा सुविधाओं में विस्तार किया जाय।
4. स्त्रियों को अपने हितों के अनुकूल शिक्षा प्राप्त करने में योग्य पुरुषों और स्त्रियों द्वारा परामर्श दिया जाय।
5. शिक्षा प्राप्त करने में स्त्रियाँ पुरुषों का अनुकरण न करें, वरन् स्त्रियोचित शिक्षा प्राप्त करें।
6. शिक्षा संस्थाओं का पाठ्यक्रम इस प्रकार का हो कि स्त्रियाँ सामान्य नागरिक के गुण व स्त्रियोचित गुणों को समान रूप से ग्रहण कर सकें।
7. गृह-अर्थशास्त्र व गृह-प्रबन्ध के प्रति जो घृणा का वातावरण उत्पन्न हो गया है उसको दूर करके स्त्रियों को उनकी शिक्षा के लिए प्रेरित किया जाय।
8. नवीन कॉलिजों में सह-शिक्षा की व्यवस्था हो जिसमें दोनों को जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा दी जाय।
9. समान कार्य के लिए अध्यापिकाओं का वेतन अध्यापकों के बराबर हो।
10. स्त्रियों के लिए गृह-अर्थशास्त्र, नर्सिंग, ललित कलाओं और शिक्षण कार्य के पाठ्यक्रम की व्यवस्था की जाय।

इस प्रकार डॉ० राधाकृष्णन स्त्रियों व पुरुषों को सामान्य शिक्षा के साथ-साथ उनके जीवन के क्षेत्रों में विशिष्ट ज्ञान देने के पक्ष में हैं। वह पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी शिक्षा ग्रहण करने की अधिकारिणी मानते हैं और इस बात की आवश्यकता महसूस करते हैं कि स्त्रियों को भी शिक्षा ग्रहण करने का पर्याप्त अवसर दिया जाय। उन्होंने सह-शिक्षा को भी पूर्ण अनुमति प्रदान की है।

आचार्य विनोबा भावे

आचार्य विनोबा भावे स्त्री शिक्षा के संबंध में बहुत क्रान्तिकारी विचार रखते हैं। उन्हें स्त्री शक्ति में बहुत विश्वास है और वह स्त्रियों को अध्यात्म

ज्ञान के द्वारा आत्मज्ञानी बनाना चाहते हैं। उनका कथन है कि ब्रह्मज्ञानी बनने के लिए ब्रह्मसूत्र में चार अनिवार्य योग्यतायें बताई गई हैं। प्रथम नित्यानित्य विवेक, द्वितीय ऐहिक व पारलौकिक भोगों के बारे में वैराग्य, तृतीय शमदमादि षट साधन सम्पत्ति और चतुर्थ मुमुक्षत्व। ब्रह्म-जिज्ञासा होने पर ही ब्रह्मसूत्र का अध्ययन करना चाहिए। उनका विचार है कि स्त्रियों को सर्वप्रथम आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान की जाय। प्राचीन भारत में स्त्रियाँ अध्यात्म-परायण होती थीं। महाभारत में सुलभा द्वारा जनक को ज्ञान दिये जाने का विवरण है। शिक्षा का सम्पूर्ण आधार अध्यात्म ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि उससे वह शक्ति प्राप्त होती है जिसके द्वारा सभी समस्याओं का दक्षतापूर्वक सामना किया जा सकता है। इस शिक्षा के लिए अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें गीता और उपनिषद् मुख्य हैं तथा अन्य आधुनिक ग्रन्थ हैं, जिनसे मूल विचार को ग्रहण करना चाहिए।[1]

अध्यात्म व धर्म की शिक्षा प्रदान करने का कार्यभार भी वह स्त्रियों के हाथ में सौंपना चाहते हैं। उनका कथन है कि स्त्रियाँ ही धार्मिक शिक्षा को भली प्रकार प्रदान कर सकती हैं, क्योंकि मुझ पर भी अपनी माता की धार्मिक वृत्ति का ही सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। माता द्वारा पड़ने वाला प्रभाव प्रारंभिक होता है अतः स्थायी भी होता है। उनका विचार है कि प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व स्त्रियों पर ही रहना चाहिए। उच्च कक्षाओं में पुरुष शिक्षण का कार्य करें।[2]

आचार्य विनोबा का कथन है कि संस्कृत में वृत्ति, मेधा, क्षमा, कीर्ति, वाणी, भक्ति, मुक्ति और बुद्धि ये सभी शब्द स्त्री-लिंगी हैं। बोध शब्द पुल्लिंग है, किन्तु वह बुद्धि का ही परिणाम है। बुद्धि माता है और बोध उसका बालक है। इसलिए स्त्रियों से ही सर्वोदय रचना की आशा की जा सकती है। मातृ शक्ति रक्षक देवता है। इसलिए अब स्त्रियों को समाज की बागडोर संभाल लेनी चाहिए। मृदुला बेन साराभाई से एक भेंट के समय वह कहते हैं कि तुम जो कस्तूरबा केन्द्र खोलती हो और गाँव की स्त्रियों की सेवा की योजनायें बनाती हो, उसमें मेरा सुझाव है कि समस्त हिन्दुस्तान की स्त्रियों की संस्थाएँ सह-संबंधित हो जायें, और स्त्रियों की सेवा के लिए स्त्रियाँ ही बाहर आयें। प्राथमिक शिक्षा का कार्य स्त्रियाँ ही संभालें। जैसाकि उपनिषदों में कहा गया

---

1. विनोबा भावे— स्त्री शक्ति, अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1963, पृ० 101

2. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 317

है— मातृवान, पितृवान, आचार्यवान। शिक्षा पहले माता से, बाद में पिता से और अन्त में आचार्य से ग्रहण की जाय।[1]

विनोबा जी का विचार है कि स्त्रियों को अधिक ज्ञानाभ्यास करना चाहिए। स्त्रियों को संस्कृति की रक्षा करनी है, प्रकृति से ऊपर उठना है, और पुरुषों को भी अपनी प्रकृति से ऊपर उठाने का दायित्व निभाना है, इसलिए उनका ज्ञान गहरा होना चाहिए। इसके लिए उन्हें साधना करनी चाहिए। वह कहते हैं कि पुरुष का कार्य तो अन्न की पैदावार करना है जबकि स्त्रियों को व्यक्तियों का निर्माण और विकास करना है। इसलिए स्त्रियों की शिक्षा पुरुषों से भी अधिक अनिवार्य है। उनका कथन है कि स्त्रियाँ आत्मज्ञान के क्षेत्र में भी पुरुषों से आगे बढ़ सकती हैं। जब यहाँ शंकराचार्य के समान स्त्रियाँ पैदा होंगी तभी हिन्दुस्तान आगे बढ़ेगा। इस तेज को प्राप्त करने के लिए उन्हें वैराग्य की मूर्ति बनना होगा। इसलिए यदि स्त्रियाँ स्वतन्त्रता चाहती हैं तो उन्हें क्रांतिकारी कदम उठाना ही पड़ेगा।[2]

स्त्री शिक्षा के स्वरूप के विषय में विचार प्रकट करते हुए वह कहते हैं कि स्त्री व पुरुष की शिक्षा में कुछ अंश समान रहता है, और कुछ दोनों का विशेष अंश रहता है। शिक्षा में स्त्री व पुरुषों के लिए समान अंश बहुत अधिक है अन्य अंश कम। स्त्री व पुरुषों में आत्मा समान संस्कारवान होती है। क्षुधा व तृष्णा समान होती है तथा दोनों का सृष्टि के साथ संबंध भी समान है, दोनों में गुण व विकास के नियम भी समान ही लागू होते हैं। इसलिए स्त्री व पुरुष को समान ही शिक्षा मिलनी चाहिए।

विनोबा जी कहते हैं कि प्रकृति की ओर से स्त्रियों को एकाग्रता की शक्ति अधिक प्राप्त हुई है। वह ध्यानयोग व भक्तियोग के लिए अधिक अनुकूल हैं, जबकि ज्ञानयोग व कर्मयोग पुरुषों के लिए अधिक अनुकूल हैं। उनका विचार है कि स्वतंत्र रक्षण के लिए स्त्रियों को स्वतंत्र बुद्धि रखनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि परमेश्वर से उनका सीधा सम्बन्ध है। उन्हें पुरुषों की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं है। स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य, वेदाभ्यास, आत्मचिन्तन, संन्यास आदि का स्वतंत्र रूप से अधिकार होना चाहिए। वह कहते हैं कि स्त्रियाँ सुरक्षित नहीं वरन् स्वरक्षित होनी चाहिएँ। विज्ञान का कथन है कि स्त्रियों का शरीर, पुरुषों के शरीर से अधिक रक्षण समर्थ है। यह उदाहरण

---

1. विनोबा भावे— शिक्षण विचार, अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960, पृ० 83

2. विनोबा भावे— स्त्री शक्ति, अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1963, पृ॰ 23

हम घर में स्त्रियों के कार्यों, बीमार की सेवा के अथक प्रयास, तथा उनके धैर्य में देख सकते हैं कि उनके शरीर में तनाव-टिकाव अधिक है।[1]

आज के युग में नारी की भूमिका का वर्णन करते हुए वह कहते हैं कि बहनें लोक-सेवक-संघ बनायें। आज चुनाव की जो प्रक्रिया चलती है उसमें भाई-भाई एक दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं जबकि उनको अपना-अपना विचार जनता के समक्ष रखकर वोट माँगने चाहिएँ और चुनाव में हार-जीत के बाद भी प्रेम से रहना चाहिए। लेकिन आजकल चुनाव प्रक्रिया में गाँव-गाँव में आग लग जाती है। इस समय स्त्रियों को लोक सेवक संघ बनाकर संगठित रूप में समाज सेवा का कार्य करना चाहिए, और प्रेम का सन्देश चारों ओर फैलाना चाहिए तभी हिन्दुस्तान का नक्शा बनेगा।

इस प्रकार विनोबा जी स्त्रियों से ज्ञान योग, भक्ति योग व कर्मयोग तीनों की साधना चाहते हैं तथा जीवन के सभी पहलुओं में स्त्री-शिक्षा को अपूर्व महत्त्व प्रदान करते हैं।

उपरोक्त समस्त दार्शनिक इस बात से पूर्णतया सहमत हैं कि स्त्रियों को पुरुषों के समान ही शिक्षा प्राप्ति का अधिकार है। वह समाज की जनसंख्या का आधा भाग है और मानव समाज का प्राणी है। उनमें पुरुषों के समान ही आत्मा का निवास है तथा जन्म से वह उसी प्रकार समस्त गुणों से सम्पन्न होती है जिस प्रकार पुरुष होता है। इसलिए उनको प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़कर कार्य करने का तथा अपने ज्ञान में वृद्धि करने का जन्मसिद्ध अधिकार है।

एक प्रश्न विवाद का विषय बन जाता है कि उनकी शिक्षा का स्वरूप किस प्रकार का हो। सामान्य जीवन में स्त्री व पुरुष एक दूसरे के सहभागी व पूरक हैं। अपनी मूल प्रवृत्तियों के आधार पर तथा शारीरिक बनावट के आधार पर उनमें कुछ अन्तर पाया जाता है जो उनको प्राकृतिक देन है। इसलिए उनके कार्य-क्षेत्र में भी थोड़ी-सी भिन्नता आ गयी है। सामान्यतया स्त्रियाँ गृहस्थी के कार्यों को सम्भालती हैं, मातृत्व के गुरुत्व कार्य को करती हैं तथा पुरुष बाह्य कार्यों को करते हैं। इसलिए शिक्षा शास्त्रियों ने इस बात पर विचार किया कि उनके कार्य-क्षेत्र के आधार पर ही उनकी शिक्षा का स्वरूप भी निश्चित होना चाहिए। सामान्य ज्ञान दोनों वर्गों के लिए आवश्यक है जिसमें सभी विषय पढ़ाये जाने चाहिएँ परन्तु विशिष्ट ज्ञान हेतु उन विषयों का चयन किया जाना चाहिए, जो उनके व्यावहारिक जीवन से संबंधित हैं, जिससे वह अपने प्राकृतिक स्वरूप की अधिकतम अभिव्यक्ति कर सकें अर्थात् प्रकृति

---

1. विनोबा भावे— 'स्त्री शक्ति', अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1963, पृ० 30

ने जिस कार्य का दायित्व उन्हें सौंपा है उसे अधिक-से-अधिक दक्षता से निर्वाह कर सकें। इसीलिए महर्षि दयानन्द सरस्वती, रवीन्द्रनाथ टैगोर, मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी तथा डॉ० राधाकृष्णन ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि प्रारंभिक कक्षाओं में सामान्य ज्ञान, स्त्रियों व पुरुषों को समान रूप से प्रदान किया जाय, तथा बाद में स्त्रियों को उनके व्यावहारिक जीवन से संबंधित विशिष्ट ज्ञान प्रदान किया जाय, जैसे गृह-अर्थशास्त्र, गृह-विज्ञान, बाल मनोविज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान आदि। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सभी स्त्रियाँ इन्हीं विषयों की शिक्षा प्राप्त करें। जो स्त्रियाँ अन्य बौद्धिक विषयों का विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहती हैं, उनको इसके लिए अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। परन्तु ऐसी स्त्रियों का प्रतिशत बहुत कम होता है, इसलिए महिलाओं के बहुसंख्यक वर्ग के लिए व्यावहारिक प्रशिक्षण की ही अधिक आवश्यकता है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने स्त्री-शिक्षा के प्रसार हेतु गाँव-गाँव में परीक्षा केन्द्र खोलने का सुझाव भी दिया है। जो स्त्रियाँ विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करने हेतु आने में असमर्थ हैं, उनको पाठ्यक्रम तथा पुस्तकों की उपलब्धि उनके घर पर ही कराई जाए, तथा परीक्षा की सुविधाएँ प्रदान करके, उनका सामाजिक व व्यावसायिक स्तर उन्नत किया जाय। कुछ विद्वान् जैसे स्वामी विवेकानन्द तथा आचार्य विनोबा भावे प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियों को सक्रिय देखना चाहते हैं। उनके अनुसार स्त्री तथा पुरुष के कार्य-क्षेत्र में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है। यह जो भिन्नता देखने को मिलती है वह समाज की देन है। अब स्त्री वर्ग के अपने इस निम्न स्तर से उठकर अधिकाधिक ज्ञान प्राप्ति की ओर प्रयास करना चाहिए तथा समाज में सक्रिय सदस्य के रूप में कार्य करना चाहिए। उनका विचार है कि समाज के कल्याण का कार्य स्त्रियाँ अधिक परिश्रम व लगन से कर सकती हैं। उनमें धैर्य, सहनशीलता, एकाग्रता के लक्षण पुरुषों की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पाये जाते हैं, इसलिए वह ज्ञान योग व भक्ति योग के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हैं। वह कार्य भी जिनमें एकाग्रता की अधिक आवश्यकता पड़ती है, स्त्रियाँ अधिक कुशलता से कर सकती हैं। इन दोनों दार्शनिकों ने स्त्रियों को स्वावलम्बी बनने का उपदेश दिया। इनका विचार है कि स्त्रियों को आत्मरक्षा, जीविकोपार्जन आदि समस्त कार्यों में प्रवीण होना चाहिए तथा इस कार्य के लिए उन्हें स्वयं आगे बढ़कर समाज में अपना स्थान ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार इन्होंने कर्म-युद्ध के लिए स्त्रियों का आह्वान किया है। विनोबा जी का विचार है कि स्त्रियाँ आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे आयें। अधिकाधिक ज्ञान प्राप्ति द्वारा वह पुरुषों के समान ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करें। उन्हें ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत

करने तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने का उसी प्रकार अधिकार है जिस प्रकार पुरुषों को है। लेकिन स्त्रियाँ इस क्षेत्र में बहुत कम हैं, लगभग नहीं के बराबर हैं, इसलिए यह आज की आवश्यकता है कि स्त्रियाँ आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करें।

सह-शिक्षा के विषय में सभी दार्शनिक एकमत नहीं हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती सह-शिक्षा का घोर विरोध करते हैं क्योंकि उससे ब्रह्मचर्य पालन में विघ्न उत्पन्न होने की संभावना अधिक होती है, और ब्रह्मचर्य का वह कठोरता से पालन कराना चाहते हैं। महात्मा गांधी 16 वर्ष की आयु तक सह-शिक्षा के लिए सहमत हैं। श्री अरविन्द आश्रम में साधक व साधिकाएँ एक साथ शिक्षा प्राप्त करते हैं इसलिए सह-शिक्षा का पूर्ण समर्थन है, परन्तु उनके नैतिक स्तर को बनाये रखने के लिए आश्रम के नियमों का पालन आवश्यक है। डॉ० राधाकृष्णन ने सह-शिक्षा का पूर्ण समर्थन किया है।

४

समहारक प्रवृत्ति

प्राचीन समय से आधुनिक काल तक विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों व विचारधाराओं का उदय होता रहा है। शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और प्रयोजनवाद तीन मुख्य विचारधाराएँ पनपीं। यह विचारधाराएँ प्रचलित वाद की आलोचना के कारण नवीन वादों के रूप में सामने आयीं। इनमें मुख्यतः आध्यात्मिक, वैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियों का बोल-बाला रहा। आधुनिक काल एक सामंजस्य का युग है। यह किसी एकमात्र विचारधारा पर आधारित नहीं है, वरन् प्राचीन काल से आधुनिक काल तक की विभिन्न मान्यताओं व मूल्यों का सम्मिश्रण है। आधुनिक प्रणाली किसी एक देश, काल अथवा व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित नहीं है वरन् सभी पूर्व वृत्तियों का सम्मिलित रूप है। आज सभी राष्ट्र किसी न किसी रूप में एक दूसरे पर अवलम्बित हैं और सभी में आपसी आदान-प्रदान होता है। अतः सांस्कृतिक तत्त्व भी एक देश से दूसरे देश को प्रसारित होते रहते हैं। इसलिए आज एक देश की शिक्षा, संस्कृति तथा वैज्ञानिक विकास का प्रभाव दूसरे देशों पर भी पड़ता है। परिणामस्वरूप आज ज्ञान किसी एक राष्ट्र की धरोहर नहीं है वरन् यह अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। इसीलिए शिक्षा भी इन सब तथ्यों से प्रभावित होती रही है। यही कारण है कि आज भारतवर्ष में भौतिक उन्नति की इसी प्रकार इच्छा की जाती है जैसे कि पाश्चात्य देशों में, जबकि पुरातन भारत में भौतिकवादिता को गौण स्थान दिया जाता था। दूसरी ओर पाश्चात्य देश आध्यात्मिकता में रुचि लेने लगे हैं। आज शैक्षिक विचारधारा में आदर्शवादी, प्रकृतिवादी तथा प्रयोजनवादी सभी प्रकार के विचार पाये जाते हैं। आधुनिक शिक्षा की विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

1. आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को इस योग्य बनाना है कि वह आज के जटिल समाज में स्वयं को समायोजित कर सके और सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत कर सके। इसमें व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक विकास करके पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण किया जाता है। इसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण को विकसित किया जाता है और साथ ही उसको

उपार्जन कर सके।

2. आधुनिक समय में समाजवादी समाज की स्थापना पर जाता है। इसके लिए जन शिक्षा की व्यवस्था की आवश्यकता है। व सामाजिक उत्तरदायित्व तथा नेतृत्व के गुणों का विकास तथा अन्तर्रा अन्तर्राष्ट्रीय भावना के विकास का प्रयास भी किया जाता है।

3. आधुनिक शिक्षा का पाठ्यक्रम लोचदार तथा विस्तृत बन है। विषयों का चयन सामाजिक आवश्यकताओं व सामाजिक उद्देश्यों में रखकर किया जाता है तथा समयानुसार उनमें परिवर्तन सकता है।

4. आधुनिक शिक्षा बाल-केन्द्रित है। इसमें बालक की म को ध्यान में रखते हुए शिक्षा दी जाती है। शिक्षा देते समय वैज्ञानि का प्रयोग उचित समझा जाता है जो सभी स्थानों व अवस्थाओं में जा सकती है।

5. पाठ्यक्रम विभिन्न विषयों में विभाजित है जिनको सह करके भी पढ़ाया जाता है।

6. शिक्षण कार्य हेतु विषय विशेषज्ञ बनने पर जोर दिय और प्रत्येक विषय के शिक्षण में कुशल बनाने के लिए प्रशिक्षण संस्थ गये हैं।

7. शिक्षण कार्य अब व्यवसाय बन गया है और धार्मिक मुक्त है।

8. पाठशालाओं में सामाजिक जीवन की समस्त क्रियाओं क दिया जाता है इसके लिए पाठ्य-सहगामी क्रियाओं का समावेश होता

9. आधुनिक समय में शिक्षक एक मित्र व मार्गदर्शक स्वीकार किया जाता है।

10. शिक्षा का भार आजकल सरकार वहन करती है तथ व सर्वसाधारण के लिए शिक्षा सुलभ कराने का प्रयास किया जाता है

हमारे राष्ट्रीय चरित्र के अनुकूल भारतीय शिक्षा की प्रवृत्ति सं उसमें तीनों मुख्य वादों का समन्वय है। यथार्थ भारतीय दृष्टिकोण ही रहा है किन्तु उसमें समयानुसार अन्य तत्त्व भी प्रविष्ट हो गये हैं। में प्रकृतिवाद तथा प्रयोजनवाद को अतिवादी रूप में कभी नहीं अप है क्योंकि भारतीय दृष्टिकोण से जीवन का लक्ष्य सत्यं, शिवम् व प्राप्ति रहा है। इसलिए भौतिक उन्नति मात्र को भारतीय चरित्र

बना सकता, इसलिए जीविकोपार्जन की विधि सीखना ही शिक्षा का लक्ष्य नहीं माना गया वरन् उच्चतम मूल्यों की प्राप्ति की ओर ही भारतीय प्रयास रहा है। भारतीय विचारकों का चिन्तन भी उच्चतम मूल्यों से प्रभावित है। सभी विचारकों के दृष्टिकोणों में समन्वित विचारधारा देखने को मिलती है जैसे महर्षि दयानन्द के विचारों में शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम व शिक्षण विधि आदि सभी मुख्य पहलू आदर्शवादी हैं, किन्तु फिर भी उन्होंने जीवन को महत्त्व प्रदान करते हुए आयुर्वेद, चिकित्सा आदि की वैज्ञानिक शिक्षा की योजना प्रस्तुत की। स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा नीति प्रकृतिवाद की भाँति बाल-केन्द्रित है किन्तु उनके शिक्षा के उद्देश्य आदर्शवादी हैं। शिक्षण विधि के क्षेत्र में वह प्रयोग, निरीक्षण, परीक्षण, को महत्त्व देते हैं, अतः प्रकृतिवादी विचार रखते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर शैक्षिक उद्देश्यों में आदर्शवादी हैं परन्तु शिक्षण विधि में पूर्णतः प्रकृतिवादी हैं, साथ ही जब व्यावहारिक जीवन के लिए छात्रों को तैयार करने हेतु कृषि या शिल्प का प्रशिक्षण देना चाहते हैं उस समय प्रयोजनवाद के समीप हैं। मदन मोहन मालवीय के विचारों में आदर्शवाद व प्रयोजनवाद का समन्वय दिखाई पड़ता है। यद्यपि वह आदर्शवादी ही है क्योंकि शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षण विधि, अनुशासन आदि के संबंध में उनके विचार आदर्शवादी हैं परन्तु वह समाज की आवश्यकतानुसार अर्थकारी शिक्षा नीति अपनाना चाहते हैं, इसलिए प्रयोजनवादी भी हैं। श्री अरविन्द के विचारों में प्रयोजनवाद की झलक नहीं है। वह शिक्षा के उद्देश्यों में आदर्शवादी हैं तथा शिक्षण विधि में पूर्णतः प्रकृतिवादी विचारक हैं। महात्मा गांधी के विचारों में तीनों वादों का सम्मिश्रण है। वह यथार्थवादी भी प्रतीत होते हैं, क्योंकि सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा देना चाहते हैं। उनके उद्देश्य आदर्शवादी हैं, पाठ्यक्रम प्रयोजनवादी हैं तथा शिक्षण विधि प्रकृतिवाद व प्रयोजनवाद का मिलाजुला रूप है। क्योंकि वैज्ञानिक विधि के साथ-साथ वह सहकारी क्रिया द्वारा शिक्षा प्रदान करते हैं।

डॉ० राधाकृष्णन समन्वित शिक्षा का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उनके शैक्षिक उद्देश्य आदर्शवादी हैं किन्तु वह पाठ्यक्रम में विज्ञान और साहित्य का साम्य चाहते हैं, वह तकनीकी विषयों और मानवीय विषयों का भी साम्य चाहते हैं। वह व्यक्ति को सामान्य और विशिष्ट दोनों प्रकार का ज्ञान प्रदान करना चाहते हैं। शिक्षण विधियों में भी वह आदर्शवादी व प्रकृतिवादी, दोनों प्रकारों को अपनाते हैं। आचार्य विनोबा गांधी जी के समान ही आदर्शवादी लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं, जिसके लिए योजना का क्रियान्वयन प्रयोजनवादी आधार-शिला पर करते हैं।

भारतीय दार्शनिकों के विचारों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उनके शिक्षा दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, प्रयोजनवाद तथा यथार्थवाद एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक है। उनके दर्शन में यह प्रवृत्तियाँ पृथक व स्वतन्त्र न होकर एक हो गयी हैं जो समयानुकूल प्रकट हुयी हैं। परन्तु उनके चिन्तन का केन्द्र मौलिक व चिरन्तन सत्य ही है। वह लोक-व्यवहार को आवश्यक मानते हैं परन्तु आध्यात्मिकता की कीमत चुकाकर लौकिकता उन्हें ग्राह्य नहीं है।

५

उपसंहार

(सामयिक सन्दर्भ में विभिन्न शिक्षा दार्शनिकों का उपयोगी दृष्टिकोण)

1. अनुशासनहीनता
2. प्रतिभा पलायन
3. परीक्षा पद्धति
4. समाज शिक्षा

५

सामयिक सन्दर्भ में विभिन्न शिक्षा दार्शनिकों का उपयोगी दृष्टिकोण

भारत की शिक्षा प्रणाली स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से ही प्रयोगों का विषय रही है। यह प्रयोग जहाँ एक ओर शिक्षा शास्त्रियों ने किये वहीं राजनीतिज्ञ भी शिक्षा के क्षेत्र में मनचाहे प्रयोग करते रहे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के तत्काल बाद गांधी जी की बुनियादी शिक्षा का बहुत प्रचार हुआ। संत विनोबा भावे व डॉ० जाकिर हुसैन बुनियादी शिक्षा के प्रबल समर्थक थे किन्तु जब डॉ० जाकिर हुसैन देश के राष्ट्रपति बने तब उन्होंने बुनियादी शिक्षा की अव्यावहारिकता को महसूस किया और धीरे-धीरे इस प्रणाली का लोप हो गया। शिक्षा प्रान्तीय सरकार का विषय रही है। आधुनिक समय में इसे समवर्ती सूची में सम्मिलित कर लिया गया है। उच्चतर माध्यमिक स्तर पर प्रान्तीय सरकारों का सीधा नियन्त्रण रहता है। इन प्रान्तीय सरकारों में जब-जब शिक्षा मंत्री, शिक्षा सचिव तथा शिक्षा संचालक बदले तथा आमतौर पर नये परिवर्तन और प्रयोग होते रहे। इसलिए शिक्षा प्रणाली का एक निश्चित ढाँचा खड़ा ही नहीं हो सका जो नागरिकों तथा देश की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। आज शिक्षा के सामने अनेक चुनौतियाँ हैं जिनका सामना करना है तथा देश की समस्याओं का समाधान ढूँढ़ना है। समाज की परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण तथा व्यक्तियों की मानसिकता बदल जाने के कारण शिक्षा का स्वरूप विचलित हो गया है इस कारण अनेक समस्याओं का उदय हुआ है। इनके समाधान में हमें भारतीय शिक्षा दार्शनिकों के विचारों से कहाँ तक सहायता मिल सकती है यह विचारणीय प्रश्न है। प्रोफेसर राम जोशी ने बम्बई विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर रहते हुए शिक्षा की चार प्रमुख समस्याओं का उल्लेख किया है। प्रथम समस्या का विवरण पेश करते हुए उन्होंने कहा कि प्राथमिक शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार जितनी तेजी से होना चाहिए था, वह नहीं हुआ है। उच्च शिक्षा के प्रसार में अवश्य तीव्र गति से वृद्धि हुई है। दूसरी समस्या स्त्री शिक्षा की धीमी प्रगति और नगरीय तथा ग्रामीण शिक्षा में अन्तर की है। तीसरी समस्या उस समस्त शिक्षित वर्ग से संबंधित है जिन्होंने स्वयं को परिवार की सीमा में रखा है, सामाजिक दायित्व और नेतृत्व को ग्रहण

नहीं किया है। चौथी समस्या विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा समाज के बीच सम्पर्क न होने की है। क्योंकि इससे सब एक दूसरे के विचारों और परिस्थितियों को नहीं समझ पाते हैं।[1]

पटना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति प्रोफेसर डॉ० केदारनाथ प्रसाद ने शैक्षणिक संस्थाओं में बढ़ती हुई छात्र संख्या और दूसरी ओर शैक्षणिक साधनों की अपर्याप्तता को तथा शिक्षण विभाग के सदस्यों द्वारा अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन न करने की समस्याओं का मूल कारण माना है। जबकि गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति श्री गिरीश चतुर्वेदी शिक्षा की मुख्य समस्या अनुशासनहीनता को मानते हैं। उनका कथन है कि सामान्य शिक्षा अधिक उपयोगी न होते हुए भी उसकी माँग बढ़ रही है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में शिक्षा के गुणात्मक सुधार को प्राथमिकता दी गयी है। परन्तु इसके स्थान पर गणनात्मक वृद्धि हो रही है।[2] शिक्षा की समस्याएँ प्रायः सभी पक्षों से संबंधित हैं। परन्तु हम उनको कुछ बिन्दुओं में विभाजित करके अध्ययन कर सकते हैं :—

1. **शिक्षा के व्यावसायीकरण की समस्या :** बेरोजगारी आज की ज्वलन्त समस्या है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी छात्र अनिश्चय की स्थिति में रहता है और मानसिक कुण्ठा का शिकार हो जाता है। इस कारण अपराधी प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन मिलता है। इसका मुख्य कारण रचनात्मक शिक्षा का अभाव है। प्राथमिक कक्षाओं से ही पाठ्यक्रम छात्रों की प्रकृति के प्रतिकूल है। छोटी कक्षा में पाठ्य-पुस्तकों की अधिकता बालक पर मानसिक दबाव डालती है। नियमित शिक्षण कार्य की अवधि भी वर्ष में बहुत कम होती है। उस अवधि में समस्त पाठ्यक्रम का गहन अध्ययन संभव नहीं होता और बालक को रटने के लिए मजबूर होना पड़ता है, जबकि अध्ययन गहन तथा रुचिपूर्ण होना चाहिए। यदि बालक केवल पाठ्य-पुस्तकों से संबंधित होंगे तो उनकी प्रतिभा का विकास संभव नहीं है। इसलिए यह आवश्यक है कि उन्हें शारीरिक व्यायाम, कला, संगीत तथा किसी शिल्प की शिक्षा भी दी जाय जिससे उनकी शिक्षा की नींव सुदृढ़ हो सके। पाठ्यपुस्तकों की अधिकता से अध्यापकों में भी अरुचि बढ़ी है। आधुनिक शिक्षा की एक प्रमुख कमजोरी यह है कि यह छात्र में श्रम के प्रति आदर की भावना नहीं सिखाती। कक्षा में छात्र अध्यापकों द्वारा दी गई सामग्री पर ही निर्भर रहना चाहता है, स्वाध्याय

---

1. अवकाश— हिन्दी पाक्षिक— राज भवन, संत कबीर रोड, वाराणसी, अगस्त 1980, पृ० 21

2. –वही– पृष्ठ 18, 19

की आदत उसमें विकसित नहीं हो पाती। शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वह शारीरिक श्रम के कार्यों को हीन दृष्टि से देखता है और आफिस में बैठकर कार्य करना पसन्द करता है। यहाँ तक कि ग्रामीण क्षेत्रों के छात्र भी अपने पैतृक व्यवसायों को करना उचित नहीं समझते। इस कारण शिक्षा समाज के लिए अनुपयोगी सिद्ध होती है।

आधुनिक समय में देश के सभी भागों में लगभग समान पाठ्यक्रम की व्यवस्था है। उसका क्षेत्र अथवा जलवायु के आधार पर विभाजन नहीं किया गया हैं। ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के छात्र समान शिक्षा प्राप्त करते है जबकि उनके जीवन का स्वरूप भिन्न है, उनकी पारिवारिक व सामाजिक आवश्यकताएँ भी भिन्न हैं। इसी प्रकार गरम व ठण्डी जलवायु वाले क्षेत्रों में भी भौगोलिक परिस्थितियाँ विभिन्न होने के कारण छात्रों के कार्य व उनकी दशाएँ विभिन्न होती हैं। पहाड़ी व समतल क्षेत्रों की आवश्यकताएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। इस बात का ध्यान पाठ्यक्रम निर्धारण में नहीं रखा जाता है। परिणामतः शिक्षा जीवन के लिए अनुपयोगी सिद्ध होती है। अतः पाठ्यक्रम के निर्धारण के समय जागरूक रहना परम आवश्यक है। इस संबंध में भारतीय दार्शनिकों ने भी उपयोगी विचार दिये हैं :—

स्वामी विवेकानन्द ने जीवन के व्यावहारिक अंगों की शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं जिससे बालक जीविकोपार्जन में दक्ष हो सके। वह समाज के दारिद्रय को मिटाना चाहते हैं और पाश्चात्य देशों के समान भौतिक उन्नति करना चाहते हैं। उन्होंने कृषि, वाणिज्य, कला और उद्योग की शिक्षा पर बल दिया है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इस दिशा में रचनात्मक कार्य किया। उन्होंने श्री निकेतन में कृषि व सहकारी कार्यों की शिक्षा प्रदान की। स्वास्थ्य व सफाई आदि कार्यों के लिए छात्रों को प्रोत्साहित किया तथा अन्य व्यावहारिक कार्यों के करने के लिए बालकों का संगठन बनाया जो ग्रामीण जीवन के विभिन्न कार्यों को करता हुआ शिक्षा ग्रहण कर सके। उन्होंने राजा जनक का आदर्श छात्रों के सम्मुख रखा। टैगोर ने अपने रचनात्मक कार्यों का क्रियान्वयन विदेशी भ्रमण के पश्चात् किया। सोवियत रूस से वापस आने पर उनके मस्तिष्क में ग्रामीण पुनर्निर्माण का विचार दृढ़ हो गया। उन्होंने एक बार कहा कि सोवियत रूस में उसी प्रकार की योजनाएँ चल रही हैं जो हम छोटे पैमाने पर श्री निकेतन में कर रहे हैं। कलिमोहन घोष तथा एल० के० एल्मिर्स्ट के सहयोग से उन्होंने श्री निकेतन की शिक्षा का प्रारूप तैयार किया और उसको व्यावहारिक रूप प्रदान किया। बाद में भारत सरकार ने इसी आदर्श पर बहुउद्देशीय विद्यालयों की स्थापना की तथा अन्य विकास की क्रियान्वित योजनाएँ बुलाईं जिनका मार्गदर्शन श्री निकेतन ने किया है।

मदनमोहन मालवीय ने औद्योगिक शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने पर बल दिया जिसमें बढ़ईगिरी, बुनाई, रंगाई, कताई, लोहारगिरी आदि की शिक्षा का प्रबन्ध हो सके और व्यक्ति इन कार्यों को सीखकर रोजगार प्राप्त कर सके। इसी के साथ-साथ उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में चिकित्सा, इंजीनियरिंग तथा तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था करके रचनात्मक कदम उठाया, जिससे देश की उन्नति संभव हुई और व्यक्ति रोजगार प्राप्त कर सकें। मालवीय जी का कथन है कि आज बेरोजगारी का मुख्य कारण यह है कि हमारे विश्वविद्यालय विभिन्न विषयों की शिक्षा नहीं देते, उनकी शिक्षा अर्थपरक नहीं है कला और विज्ञान में उपाधि प्राप्त करने वाले छात्र केवल एक शिक्षक या राज्य कर्मचारी ही बन सकते हैं जबकि प्रतिवर्ष हजारों की संख्या में छात्र विद्यालयों से शिक्षित होकर निकलते हैं। अतः उन्हें रोजगार दिलाने का एकमात्र यही उपाय है कि उन्हें व्यापार, कृषि, शिल्प तथा तकनीकी शिक्षा दी जानी चाहिए जिसकी मांग सदैव बनी रहे। 26 जनवरी, 1920 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में उन्होंने कहा था कि शिक्षा द्वारा विद्यार्थी को इस योग्य बना देना चाहिए कि वे किसी न किसी उपाय से अपना जीविकोपार्जन कर सकें। हाईस्कूल की शिक्षा अन्य देशों की भांति सफल तभी मानी जा सकती है जब वह विद्यार्थियों को अर्थार्जन योग्य बनाने वाली हो।

मालवीय जी का कथन है कि व्यावहारिक शिक्षा भी सभी प्रकार से पूर्ण होनी चाहिए इससे सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने की मृगतृष्णा कम हो सकेगी और देश के आयात पर भी अनुकूल असर पड़ेगा। हम अपने देश के कच्चे माल का उपयोग अपने देश में ही कर सकेंगे, इससे कच्चे माल का निर्यात भी कम होगा।

व्यावसायिक शिक्षा के प्रबल समर्थकों में महात्मा गांधी तथा आचार्य विनोबा भावे का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने देश की तथा नागरिकों की मूल आवश्यकताओं को समझा और शिल्प के माध्यम से शिक्षा देने की योजना प्रस्तुत की। उन्होंने इस उद्देश्य के लिए चर्खे को अपनाया जिसके द्वारा ग्रामीण जनता के आर्थिक पुनर्निर्माण की कल्पना की। गांधी जी ऐसे क्षेत्र में रहते थे जहाँ कपास का अधिक उत्पादन होता था, इसलिए उन्होंने कताई-बुनाई को प्रमुखता दी। वह खेती तथा अन्य कौशलों को भी महत्त्व देते थे जो वातावरण के अनुकूल हों। उनका झुकाव किसी विशेष कौशल को सीखने पर नहीं था वरन् वह उद्देश्यपूर्ण क्रिया पर बल देते थे जो बालकों में आत्मनिर्भरता व आत्म-सम्मान की भावना जागृत कर सके। गांधी जी ने सफाई को भी पाठ्यक्रम में स्थान दिया जिसका महत्त्व आज भी हमारे लिए उसी प्रकार से है। वह भारत की आर्थिक दशा को समझते थे इसलिए उन्होंने विद्यालय को एक ऐसी

उत्पादन इकाई के रूप में बदलना चाहा जो अपना कुछ खर्च भी निकाल सके। वह शिक्षा में गुणात्मक सुधार लाना चाहते थे। उन्होंने योजना को दो प्रकार से क्रियान्वित करने का प्रयास किया। प्रथम तो विद्यार्थी विद्यालय के खर्च में हाथ बटायें, इसके लिये वह दोपहर के नाश्ते के लिये विद्यालय में स्वयं हरी सब्जियाँ उगायें। विद्यालय विकास के लिये पुताई का काम स्वयं करें और साधारण फर्नीचर भी बढ़ईगिरी की कक्षा में बनाये जायें। यह परम्परा विकसित देशों के आधुनिकतम विद्यालयों में भी अपनाई जा रही है। दूसरी ओर वह चाहते थे कि माता-पिता के आय के आधार पर बालक की फीस का निर्धारण हो जिससे गरीब बच्चा भी शिक्षा का समान अवसर प्राप्त कर सके। वह चाहते थे कि उच्च शिक्षा में रचनात्मक कार्यों को प्राथमिकता दी जाय। रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहन देने के लिये उन्होंने ग्रीष्मावकाश में ग्रामीण क्षेत्र में कार्य की योजना प्रस्तुत की।

आधुनिक समय में सभी विकसित देशों ने अपनी शिक्षा को रोजगारपरक बनाने का प्रयास किया है। चीन में शिक्षण का आधा समय व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए दिया जाता है। रूस व जर्मनी में विद्यालय कारखानों से संबंधित हैं जहाँ बालक एक निश्चित समय में औद्योगिक कार्यप्रणाली का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जापान के विद्यार्थियों का कार्याभिमुख होना इस बात का उदाहरण है कि उन्होंने वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन कर लिए हैं। भारतवर्ष को भी इस क्षेत्र में सक्रिय प्रयास करना चाहिए। रोजगारपरक शिक्षा की व्यवस्था प्राथमिक कक्षाओं से ही प्रारंभ हो जानी चाहिए क्योंकि बालक की प्राथमिक शिक्षा ही उसके जीवन का आधार होती है। उन्हीं मूल्यों को वह अपने जीवन में प्राथमिकता देता है जो उसने बचपन में ग्राह्य किये हैं। इसलिए कार्य के प्रति आदर की भावना, परिश्रम करने की आदत तथा शारीरिक श्रम के प्रति दृष्टिकोण को बदलने का प्रयास प्राथमिक कक्षाओं से ही हो जाना चाहिए। उसके लिए उन्हें खेलों के माध्यम से शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए जिसमें वह पेपर काटना, पेंटिंग, मिट्टी का काम आदि कार्यों को करें। इनमें बच्चे की रुचि होना आवश्यक है। उसे यह नहीं लगना चाहिए कि उसे शिक्षा प्रदान की जा रही है। इसी प्रकार के विचार विनोबा जी के भी हैं। इस अवस्था में जो कार्य बालकों द्वारा किया जायेगा वह बिक्री के दृष्टिकोण से उच्च स्तर का नहीं होगा परन्तु उससे उनमें रुचि जागृत होगी और श्रम करने की आदत का विकास होगा। इस योजनानुसार कार्य करते हुए उच्च प्राथमिक स्तर तक के बालक इस योग्य हो जायेंगे कि उनके बनाये हुए सामान का कुछ मूल्य मिल सके। वह मिट्टी के बर्तन, सजावट की चीजें, चाक, अगरबत्ती, क्रीम, इंक आदि बना सकते हैं।

उनके कार्यों का प्रतिदिन मूल्यांकन किया जाना चाहिए। अन्य उच्च कक्षाओं में भी इसी प्रकार व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए तथा जो विद्यार्थी आगे शिक्षा प्राप्त करने योग्य न हों उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करके किसी व्यवसाय को प्रारम्भ करने की ओर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

नयी दिल्ली में अन्तर विश्वविद्यालय बोर्ड द्वारा आयोजित सेमीनार में यह सुझाव दिया गया कि उच्च कक्षाओं में प्रवेश हेतु परीक्षा द्वारा चयन प्रणाली प्रारम्भ की जाय। उनमें अनुत्तीर्ण छात्रों में से तकनीकी विषयों वाले छात्रों को चार वर्ष का तकनीकी प्रशिक्षण दिया जाय।

शैक्षिक स्तर को, प्रश्नों का रूप परिवर्तित करके तथा अल्पकालिक परीक्षाएँ आयोजित करके उन्नत बनाया जा सकता है। वर्तमान स्थितियों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि तकनीकी शिक्षा प्राप्त छात्रों में भी बेरोजगारी है, इसलिए रोजगार के अधिकाधिक अवसर जुटाना आवश्यक है। उसके लिए कम ब्याज पर ऋण तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान की जा सकती हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० हरिनारायण ने भी शिक्षा को रोजगारपरक बनाने पर जोर दिया है। उनका विचार है कि छात्रों को उनकी आवश्यकतानुसार व्यावहारिक शिक्षा दी जाय। ग्रामों में उद्देश्यपरक विद्यालय खुलने चाहिएँ जिनमें भूमि, कृषि, विज्ञान व पशुपालन की शिक्षा दी जा सके। उपरोक्त विचारों के क्रियान्वयन पर ही हम गांधी जी की आदर्श व रोजगारपरक शिक्षा का लाभ प्राप्त कर सकते हैं। यदि छात्रों को उनके वातावरण व रुचि के अनुसार शिक्षा दी जाएगी तब व्यक्ति, समाज व देश सभी का कल्याण संभव होगा।

अनुशासनहीनता

छात्र किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। वह ज्ञानार्जन करके सामाजिक व आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनायें बनाते हैं। वही समाज के भावी कर्णधार हैं। किन्तु आज का युवा-समाज अनेक समस्याओं व मत-मतान्तरों से ग्रसित है। आज देश के विभिन्न भागों में युवा आन्दोलन दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके मूल में अनेक कारण विद्यमान हैं। मानव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब उसकी मूल प्रवृत्तियों, रुचियों, आवश्यकताओं आदि पर कुठाराघात होता है तब उसमें तनाव व असंतोष उत्पन्न हो जाता है जिसकी अभिव्यक्ति वह अहिंसात्मकक व हिंसात्मक दोनों रूपों में कर सकता है। सामान्यतः शिक्षित वर्ग द्वारा सामूहिक आन्दोलन अधिक किये जाते हैं क्योंकि वह अपने अधिकारों को सुरक्षित रखना चाहते हैं। आधुनिक विद्वानों ने अनुशासनहीनता को आज के शिक्षा जगत की सबसे बड़ी समस्या बताया है और

इसका प्रमुख कारण राजनैतिक पार्टियों का विश्वविद्यालय में हस्तक्षेप बताया है। उनका विचार है कि राजनैतिक दल विश्वविद्यालयों में अपना संगठन रखते हैं और छात्रों का अपने हितों के लिए प्रयोग करते हैं। इसलिए राजनैतिक दलों को शिक्षा के क्षेत्र से अलग हो जाना चाहिए तथा विश्वविद्यालयों में राजनैतिक विषयों पर गोष्ठियों व वाद-विवाद हो, परन्तु राजनैतिक कार्यक्षेव में शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ही भाग लिया जाना चाहिए।

छात्र असंतोष शैक्षिक, आर्थिक, राजनैतिक, सार्वजनिक तथा मनोवैज्ञानिक आदि सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। समाज के प्रत्येक स्थान से युवा आन्दोलनों के समाचार प्राप्त होते रहते हैं। इस असंतोष के अनेक कारण हैं। सर्वप्रमुख कारण छात्रों की बेरोजगारी की समस्या का है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी जीविकोपार्जन न कर सकना छात्र में मानसिक द्वन्द्व का प्रमुख कारण है। समाज के धनी व उच्च वर्ग का आधिपत्य भी इसमें योगदान करता है क्योंकि अच्छे पदों को वह आसानी से प्राप्त कर लेते हैं और निर्धन छात्र इसमें असमर्थ रहता है। बेरोजगारी का एक कारण शहरी क्षेत्रों के प्रति आकर्षण भी है। छात्र ग्रामीण जीवन की कठिनाइयों को नहीं झेलना चाहता और विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता है। परिणामस्वरूप पैतृक व्यवसायों का पतन हो रहा है। परिवार का नियंत्रण भी अब छात्रों के ऊपर अधिक नहीं रहा है क्योंकि परिवार द्वारा किये जाने वाले कार्य अन्य संस्थाओं ने ले लिये हैं इसलिए छात्र उच्छृंखलता की ओर उन्मुख होता है।

युवा वर्ग की भावनाएँ सामान्यत: आदर्शवादी होती हैं। वह समाज में पाई जाने वाली कुरीतियों, अन्धविश्वासों, शोषण, असमानता आदि के विरोध में अपने आन्दोलन चलाते हैं। एक ओर वह प्रजातंत्र के आदर्शों— स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की शिक्षा प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर समाज में फैले भ्रष्टाचार को देखते हैं, तब उनमें विद्रोह की भावना प्रबल हो जाती है। कभी-कभी राजनैतिक दल अपनी स्वार्थसिद्धि हेतु छात्र आन्दोलन में सक्रिय भाग लेकर उसको विकराल रूप दे देते हैं। छात्रों की माँगें उचित होने पर भी कभी-कभी सरकार उदासीनता का रूप अपनाती है और कोई रचनात्मक कदम नहीं उठाती है। इसलिए भी आन्दोलन तीव्रतर होते जाते हैं। प्रशासन विभाग में पाया जाने वाला पक्षपात भी छात्रों की कुण्ठा का कारण बनता है क्योंकि प्रशासक वर्ग के संबंधीगण कम योग्य होते हुए भी उच्च पद को प्राप्त कर लेते हैं जबकि योग्य छात्र उससे वंचित रह जाता है।

विद्यालयों की आंतरिक व्यवस्था भी छात्र असन्तोष को बढ़ावा दे रही है क्योंकि छात्रों की संख्या में दिन-प्रतिदिन की वृद्धि होती जा रही है और विद्यालयों में शिक्षण सामग्री, खेल की सामग्री, छात्रावास तथा प्रयोगशालाओं

आदि का विस्तार उस गति से नहीं हो पा रहा है। परिणामतः छात्र विद्यालयी जीवन का सम्पूर्ण लाभ नहीं उठा पाते हैं। उद्देश्यविहीन शिक्षा, सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम, दूषित परीक्षा प्रणाली आदि भी छात्रों में असंतोष उत्पन्न करती है, क्योंकि इस शिक्षा को प्राप्त करने के बाद जब वह व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करते हैं तब स्वयं को असफल पाते हैं। इस कारण उनमें देश, समाज व सरकार आदि सभी के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न हो जाती है। छात्र असन्तोष के कुछ महत्त्वपूर्ण कारण मनोवैज्ञानिक भी हैं। छात्र जब युवावस्था में प्रवेश करता है तब उसमें अनेक शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व संवेगात्मक परिवर्तन होते हैं। वह स्वतंत्र चिन्तन करना चाहता है और किसी भी प्रकार के बन्धन को स्वीकार करना पसन्द नहीं करता। इसलिए वह प्रायः छोटी-छोटी बातों पर भी सामूहिक रूप से प्रतिक्रिया करने लगते हैं। उनकी इस व्यवस्था का ही राजनैतिक दल लाभ उठाते हैं। सामान्यतः प्रौढ़ व युवा वर्ग की विचार-धारा में भी अन्तर पाया जाता है। पुरानी पीढ़ी के लोग आर्थिक, राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्था को उसी रूप में बनाये रखना चाहते हैं, जबकि युवा वर्ग उसमें आमूल परिवर्तन की आकांक्षा रखता है। युवा वर्ग में शक्ति व साहस की अधिकता होती है जिसका प्रयोग वह आन्दोलनों, हड़तालों तथा अन्य कार्यों में करते हैं। अपनी प्राकृतिक इच्छाओं के दमन के कारण भी वह सामाजिक बन्धनों का विद्रोह करते हैं। इस प्रकार जो ऊर्जा व शक्ति रचनात्मक कार्यों में लगनी चाहिए थी, वह गलत दिशा में व्यय होती है।

छात्र असंतोष व अनुशासनहीनता की समस्या पर कई समितियों ने विचार किया है। उस पर आचार्य नरेन्द्र देव समिति 1953, मुदालियर आयोग 1953, कोठारी कमीशन 1964–66 तथा उपकुलपतियों के सम्मेलन 1966 ने अपने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। इनमें छात्रों के लिए धार्मिक, चारित्रिक व सैनिक शिक्षा प्रदान करने का सुझाव है। छात्र कल्याण के लिए स्वास्थ्य सेवाओं, पाठ्य-सहगामी क्रियाओं, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, सूचना व रोजगार केन्द्रों की स्थापना के भी महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये गये हैं। भारतीय शिक्षा दार्शनिकों ने भी अनुशासन की समस्या पर विचार किया है और रचनात्मक कार्यों द्वारा अनुशासन स्थापित करने के महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं जो निम्न हैं :—

शंकराचार्य के अनुसार शिक्षार्थी के शिक्षा ग्रहण करने से पूर्व यह आवश्यक है कि वह संयमी हो, अन्यथा वह शिक्षा ग्रहण करने का अधिकारी ही नहीं होगा। उनके विचार से यदि व्यक्ति प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत निहित कर्त्तव्यों का पालन करे तो अनुशासनहीनता की समस्या उत्पन्न नहीं होगी। अतः छात्रों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ध्यानपूर्वक ज्ञानार्जन में लगे रहें तथा असामाजिक तत्त्वों से गुमराह न हों। अतः छात्रों को स्वयं पर

अंकुश लगाना होगा तभी वह अपने गन्तव्य को प्राप्त कर सकते हैं। शंकराचार्य का विचार है कि ज्ञान साधना में लगा हुआ छात्र उच्छृंखल नहीं हो सकता क्योंकि अनुशासन साधना की आवश्यकता है। और ज्ञानप्राप्ति के बाद वह स्वयं पर नियन्त्रण पाने में सफल हो जाता है इसलिए नियम भंग नहीं कर सकता। महर्षि दयानन्द ने नियमों की कठोर व्यवस्था द्वारा अनुशासन स्थापित करने का समर्थन किया है। वह इस दिशा में शारीरिक दण्ड को भी उचित मानते हैं। स्वामी विवेकानन्द शिक्षकों के व्यक्तिगत प्रभाव द्वारा छात्रों को अनुशासित रखना चाहते हैं इसलिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम शिक्षक स्वयं को अनुशासित करें। परन्तु आज की शिक्षा व्यवस्था में छात्र व शिक्षकों का सम्पर्क बहुत कम समय के लिए होता है। वह अपने जीवन के बहुमूल्य क्षण समाज की अन्य संस्थाओं में बिताते हैं इसलिए जब तक समाज में मनोरंजन के स्वस्थ साधन नहीं होंगे, खेल की उचित व्यवस्था नहीं होगी, धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों की समाप्ति नहीं होगी तब तक छात्रों में अनुशासन की कल्पना करना व्यर्थ है। अनुशासन की स्थापना हेतु गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर ने अधिक रचनात्मक सुझाव दिये हैं। वह समाज और शिक्षक दोनों का स्वस्थ प्रभाव बालक पर देखना चाहते हैं। इसलिए समाज की मलिनता को भी दूर करना चाहते हैं। जीविकोपार्जन की शिक्षा के साथ ही वह सहयोगात्मक क्रिया द्वारा भी प्रेम, सहानुभूति, सहयोग आदि उच्च मूल्यों की शिक्षा बालक को देना चाहते हैं। जिससे बालक स्वतः ही अनुशासन स्थापित रखने का प्रयास करे। उन्होंने कठोर व यातनापूर्ण ढंग से अनुशासन स्थापित करने के प्रयास की आलोचना की है। वह किसी प्रकार का दबाव बालकों पर डालना नहीं चाहते। मदनमोहन मालवीय नैतिक व धार्मिक शिक्षा द्वारा अनुशासन स्थापित करना चाहते हैं, परन्तु आजकल राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक तत्त्व इतने प्रभावशाली हो गये हैं कि एकमात्र धार्मिक शिक्षा छात्रों की मनोवृत्तियों को संतुष्ट करने में सहायक नहीं हो सकती। श्री अरविन्द बालकों को शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ बनाकर स्वस्थ चिन्तन व क्रियान्वय की योग्यता का विकास करना चाहते हैं। नैतिक विकास को वह अति आवश्यक मानते हैं। उन्होंने खेलों को शिक्षा में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वह योग की शिक्षा द्वारा मानसिक अनुशासन स्थापित करना चाहते हैं। उन्होंने बाह्य अनुशासन की अपेक्षा आन्तरिक अनुशासन को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। महात्मा गांधी तथा आचार्य विनोबा भावे छात्रों का दमन किये जाने के विरुद्ध हैं। वह बालक की मनोवैज्ञानिक भावनाओं का आदर करते हैं और उसे दिशा-निर्देश देकर उपयोगी कार्यों की ओर मोड़ना चाहते हैं। गांधी जी द्वारा प्रतिपादित विधि का आधुनिक शिक्षा शास्त्री भी समर्थन करते हैं, इसी कारण बालकों की

शिक्षा में खेलों व अन्य पाठ्य-सहगामी क्रियाओं को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। विद्यालय में अनुशासन स्थापित करने का दायित्व शिक्षकों पर भी जाता है। उनको बालकों की उचित माँगों को सुनना चाहिए और उनकी समस्याओं के निराकरण का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए उन्हें भेद-भाव वाली नीति को छोड़कर सभी को समान मानते हुए कार्य करना चाहिए। जो छात्र अध्ययन में रुचि नहीं लेते हैं उनको विद्यालय के अतिरिक्त कार्यों में संलग्न कर देना चाहिए जिससे वह अपनी शक्ति का प्रयोग उचित कार्यों हेतु कर सकें। इसके साथ ही विद्यालय में शिक्षण हेतु पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होनी चाहिए जिससे छात्रों का शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक विकास संतुलित रूप में हो सके। राजनैतिक दलों का हस्तक्षेप विद्यालय परिसर में नहीं होना चाहिए क्योंकि बालक अपरिपक्व मस्तिष्क का होता है इसलिए सही तथ्य को न समझ-कर बहकावे में आ सकता है। अतः मानसिक रूप से परिपक्व हो जाने के बाद ही छात्रों को राजनीति में सक्रिय भाग लेना चाहिए। अनुशासन की स्थापना हेतु यह भी आवश्यक है कि शिक्षक, छात्र, अभिभावक व समाज में घनिष्ठ सम्पर्क हो जिससे वह एक दूसरे की समस्याओं और आवश्यकताओं को समझें तथा अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकें। इस दिशा में माध्यमिक विद्यालयों में स्थापित होने वाले शिक्षक अभिभावक संघ अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

प्रतिभा पलायन

आधुनिक समय में भारतवर्ष प्रशिक्षित मानव शक्ति के दृष्टिकोण से विश्व में तीसरे स्थान पर है। परन्तु फिर भी यहाँ की जनसंख्या के अनुपात में बहुत कम डॉक्टर, इंजीनियर, तकनीकी विशेषज्ञ तथा वैज्ञानिक उपलब्ध हैं। भारतीय शिक्षा संस्थाओं में से हजारों की संख्या में प्रति वर्ष उच्च शिक्षा प्राप्त विशेषज्ञ निकलते हैं फिर भी देश में वैज्ञानिक क्षेत्र में नई खोजों की संख्या बहुत कम है, जबकि विदेशों में हजारों भारतीय डाक्टर, वैज्ञानिक, शिल्पकार प्रसिद्धि प्राप्त कर रहे हैं और नवीनतम आविष्कार कर रहे हैं। शिक्षित मानव शक्ति का या पलायन द्रुतगति से चल रहा है। यह प्रतिभा पलायन दो प्रकार से होता है। प्रथम, बाह्य पलायन है, इसके अन्तर्गत प्रशिक्षित मानव शक्ति विकसित देशों को चली जाती है। द्वितीय, आंतरिक पलायन है, इसके अन्तर्गत विकासशील देशों में होने वाला वह शोध कार्य है जिसका लाभ साधनों की कमी के कारण विकासशील देश अपने यहाँ नहीं उठा पाते, लेकिन इन शोध कार्यों का लाभ विकसित देश उठाते हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार भारतीय डाक्टर

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के होते हैं। भारत ने विश्व को सर्वाधिक डाक्टर दिये हैं। कनाडा व इंग्लैण्ड में भारतीय डाक्टरों ने काफी प्रसिद्धि प्राप्त की है। आज के एक डाक्टर के विदेश जाने से देश को लगभग 4 लाख रु० की हानि होती है और जिस देश में वह जाता है उसे लगभग 50 लाख रु० का लाभ होता है। इस आर्थिक हानि के अतिरिक्त देश के नागरिक उनकी बहुमूल्य सेवा से वंचित रह जाते हैं। डाक्टरों के बाद प्रतिभा पलायन में इंजीनियर आते हैं जिनमें से लगभग 50 प्रतिशत विदेशों में चले जाते हैं। अमेरिका, कनाडा तथा इंग्लैण्ड में इंजीनियरों की शिक्षा अत्यंत व्ययपूर्ण है। इन देशों में जो छात्र प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं वह व्यावसायिक कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। इस कारण शिक्षण कार्यों, शोध कार्यों तथा उच्च शैक्षणिक पदों के लिए उन देशों को दूसरे देशों की प्रशिक्षित मानव शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण अन्य देशों से जाने वाले इंजीनियर वहाँ उच्च पदों को प्राप्त करते हैं और वह अपने देश में कार्य करना पसन्द नहीं करते।[1]

प्रतिभा पलायन का सबसे अधिक प्रभाव शिल्प के क्षेत्र में पड़ा है। भारत के 15 शिल्प कला संस्थानों से प्रशिक्षित शिल्पकारों में से अधिकांशतः विदेशों में जाते हैं। हमारे देश में जिस गति से निर्माण कार्य चल रहा है उसके अनुपात में यहाँ शिल्पकारों की संख्या बहुत कम है। भूगर्भ-विज्ञानी, भू-शास्त्री, बायो-कैमिस्ट के क्षेत्र की प्रतिभायें भी अपने देश को छोड़कर खाड़ी देशों की ओर जा रही हैं। प्रतिभा पलायन के रूप में आज भी विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों का बड़े पैमाने पर शोषण हो रहा है। तीसरे विश्व के देशों के वैज्ञानिकों को विकसित देश अपने यहाँ नौकरी देकर न केवल उसके प्रशिक्षण पर होने वाले खर्च से बचते हैं वरन् तीसरे विश्व के देश एक ऐसी प्रतिभा से भी वंचित रह जाते हैं जिससे उस देश के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान मिल सकता है। तीसरे विश्व के गरीब देशों से प्रतिभा पलायन के कई कारण हैं जैसे—

1. प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा अपने उत्तरदायित्व को भूलकर, विदेशों में अधिक धन कमाकर आराम की जिन्दगी गुजारने की ओर प्रवृत्त होना।
2. विकासशील देशों में रोजगार की सुविधायें कम होना।
3. अपने शोध कार्य के लिए उचित वातावरण न मिलना।
4. प्रशासन द्वारा प्रतिभा का सही मूल्यांकन न किया जाना।
5. सेवा शर्तों का ठीक न होना तथा भ्रष्टाचार का पाया जाना।

---

1. हिन्दुस्तान, दैनिक समाचार पत्र, 4 सितम्बर, 1983

6. नौकरशाही व लाल फीताशाही के कारण उसकी प्रतिभा का पूर्ण विकास न हो पाना।

उपरोक्त कारणों में से प्रथम प्रशिक्षित व्यक्तियों से संबंधित है तथा अन्य राजनैतिक व प्रशासनिक व्यवस्था से संबंधित है। प्रशिक्षित व्यक्तियों को भारतीय दार्शनिकों को जीवन व कार्यों से इस दिशा में प्रेरणा प्राप्त हो सकती है जिससे इस दोष को दूर करने में सहायता मिल सकती है।

भारतीय शिक्षा दार्शनिकों का नैतिक व चारित्रिक स्तर उच्चतम रहा है और उन सभी में अपने देश के प्रति अटूट प्रेम व श्रद्धा रही है। कई दार्शनिक जैसे विवेकानन्द, श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, डॉ० राधाकृष्णन आदि विदेशों में गए और वहाँ के कुछ विचारों को उन्होंने पसन्द भी किया, परन्तु अपनी भारतीयता को उन्होंने सदा सम्मान दिया है। पाश्चात्य देशों के बहुमूल्य विचारों व उपलब्धियों द्वारा उन्होंने अपने देश का स्तर उच्च करने का प्रयत्न किया जबकि आज का प्रशिक्षित अपने देश की धरोहर का प्रयोग विदेशी उत्थान हेतु कर रहा है। इस विपरीत स्थिति का कारण नैतिक पतन है। इसलिए सबसे पहली आवश्यकता छात्र के नैतिक चरित्र को उन्नत बनाना है जिससे वह अपने देश, अपनी सभ्यता व संस्कृति के प्रति गौरव कर सके और स्वयं को उसकी सेवा में समर्पित कर सके। सभी भारतीय शिक्षाविदों ने शिक्षा के उद्देश्यों में चारित्रिक विकास को प्राथमिकता दी है। इसमें उनकी भाषा, रहन-सहन तथा आचार-विचार सभी की शिक्षा आ जाती है। महर्षि दयानन्द पूर्णतया भारतीयता के पोषक हैं, वह भारतीय प्राचीन सभ्यता व संस्कृति के प्रति पूर्ण आदर की भावना रखते हैं और उसी की अपेक्षा बालक में भी करते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य देशों का भ्रमण किया और वहाँ की भौतिक प्रगति से प्रभावित हुए इसलिए उन्होंने नवयुवकों का आह्वान किया कि वह विदेशों के वैज्ञानिक ज्ञान से भारत के दारिद्रय को मिटायें और विभिन्न क्षेत्रों में आत्म-निर्भरता प्राप्त करें। भारतीयता में अटूट श्रद्धा रखने वाले मदनमोहन मालवीय जी ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के माध्यम से भारतीय सभ्यता व संस्कृति को संरक्षण प्रदान किया और उसके प्रसार व प्रचार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। श्री अरविन्द जिन्होंने अपनी शिक्षा इंग्लैंड में रहकर प्राप्त की, पूर्णतः भारतीयता से ओत-प्रोत थे। उन्होंने परमात्मा के बाद राष्ट्रीय आत्मा को सर्वोपरि माना। छात्रों के सम्मुख वह देश के उत्थान का लक्ष्य रखते हैं और वह कहते हैं कि जीवन में एक समय वह भी आता है जब देश के लिए व्यक्ति को सब कुछ समर्पित कर देना चाहिए और आज वह समय आ गया है, जबकि तुम सब कुछ भारतमाता के लिए करोगे। तुमको विदेशों में जाकर भारत के लिए धन कमाना है और वहाँ के ज्ञान से भारत की सेवा करनी है।

अब तुमको सब कुछ माँ के लिए ही करना है। यह विचार उनके प्रगाढ़ देश-प्रेम को प्रकट करते हैं।

राष्ट्रीयता महात्मा गांधी का राष्ट्र-प्रेम सर्वविदित है। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन देश की सेवा में समर्पित किया। गांधी जी ने छात्रों को देश की आवश्यकतानुसार शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया और उनके चारित्रिक विकास को शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य बताया। वह समय-समय पर छात्रों को ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने का उपदेश देते रहते थे।

डॉ० राधाकृष्णन पलायनवाद को बहुत गम्भीर समस्या मानते थे। वह छात्रों के समक्ष उनके नैतिक दायित्व को प्रकट करते हुए कहते हैं कि शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् तुमको यह निश्चित करना होगा कि तुम अपने देश की सेवा करते हो या उन अनेक व्यक्तियों के समान ही अपने नैतिक दायित्व को भूल जाते हो जिन्होंने शिक्षा ग्रहण करते समय देश-भक्ति और देश-प्रेम के उच्च आदर्शों का वरण किया, परन्तु बाद में उनको भूल गए और अपने आराम को उन्होंने प्रथम आवश्यकता मान लिया।

इस प्रकार छात्रों को नैतिक दायित्व का बोध कराना आवश्यक है। तभी वह समाज और देश के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभा सकते हैं। इसके लिए प्राथमिक कक्षाओं से ही विद्यालयों में नैतिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य प्रतिरोधात्मक उपाय भी अपनाये जा सकते हैं जैसे—

1. विकासशील देश अपने यहाँ इस प्रकार के नियम बना सकते हैं जिससे सभी व्यक्तियों को अपने देश में कुछ समय के लिए कार्य करना अनिवार्य हो। इसके अतिरिक्त सेवा शर्तों में सुधार करना चाहिए तथा अन्य सुविधायें प्रदान करके अपने देश में ही कार्य करने का प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।
2. प्रतिभा पलायन मानव शक्ति के निर्यात के समान है इसलिए उन व्यक्तियों पर भारी कर लगाया जा सकता है।
3. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ नियम बनाए जा सकते हैं जिनमें विकसित देशों को आयातित प्रतिभा से होने वाले लाभ में से कुछ भाग विकासशील देशों को दिये जाने का प्राविधान हो।
4. सरकारी प्रयासों के अतिरिक्त व्यक्तिगत संस्थाओं को भी प्रतिभा पलायन रोकने व विदेशों में बसने वाले व्यक्तियों को वापस बुलाने में सहायता करनी चाहिए।
5. आधुनिकतम चिकित्सालयों की व्यवस्था द्वारा भारतीय डॉक्टरों को बुलाने की जो योजना निर्माणाधीन है उसमें तीव्र विस्तार

किया जाना चाहिए इसी प्रकार इंजीनियरों को उद्योग लगाने तथा वैज्ञानिकों को शोध कार्यों की अधिक सुविधाएँ देकर वापस बुलाया जा सकता है।

परीक्षा-पद्धति

परीक्षा का लक्ष्य छात्र द्वारा अर्जित ज्ञान को मापना है जिससे यह पता लगता है कि छात्र ने अपने पाठ्य विषय को कितना ग्राह्य किया है तथा उसकी कार्यक्षमता कितनी है। इससे छात्र की धारणा शक्ति व स्मरण शक्ति का भी परिचय प्राप्त होता है। परन्तु आज की परिस्थितियों में परीक्षा का स्थान पाठ्य वस्तु से भी अधिक हो गया है क्योंकि छात्रों का लक्ष्य ज्ञान का अर्जन करना नहीं वरन् परीक्षा में उत्तीर्ण होना बन गया है। अध्यापक वर्ग भी परीक्षा की सफलता में ही अपनी सफलता समझता है। आधुनिक समय में अनेक परीक्षाओं का प्रबलन है जैसे त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक, वार्षिक आदि। इसके अतिरिक्त मासिक परीक्षाएँ भी आयोजित की जाती हैं तथा प्रयोगात्मक विषयों में प्रायोगिक परीक्षाएँ दी जाती हैं। कभी-कभी कक्षा में प्रवेश के समय भी छात्र को परीक्षा देनी पड़ती है। इसलिए हम देखते हैं कि छात्र का अधिकांश समय परीक्षा के लिए तैयारी में ही निकल जाता है और वह उन्हीं प्रश्नों को तैयार करना चाहता है जिनकी परीक्षा में आने की संभावना होती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि शिक्षा अपने वास्तविक उदय से विमुख हो गई है और वह छात्र केन्द्रित अथवा विषय केन्द्रित न रहकर परीक्षा केन्द्रित हो गई है।

सामाजिक विषयों में सामान्यत: निबन्धात्मक परीक्षा प्रणाली का प्रचलन है जिसमें छात्र को एक निश्चित समय में प्रश्नों की निश्चित संस्था करनी होती है। इस कारण कभी-कभी धीमी गति से लिखने वाले छात्र उसको पूर्ण नहीं कर पाते, इसलिए परीक्षा ज्ञान की परीक्षा के स्थान पर स्मृति व लेखन गति की परीक्षा रह जाती हैं। वैज्ञानिक विषयों से आजकल वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं का प्रयोग अधिक किया जाने लगा है। यह निबन्धात्मक परीक्षा प्रणाली से कुछ मदों में श्रेष्ठ है परन्तु इसमें छात्र को अपने विचार प्रगट करने का अवसर नहीं दिया जाता।

परीक्षा प्रणाली का एक सबसे बड़ा दोष यह है कि यह बालक में एक भय उत्पन्न कर देती है। इस कारण मनोवैज्ञानिक दबाव बालक पर अत्यधिक रहता है और उसके व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास जैसा कि होना चाहिए, नहीं हो पाता है। बालक का प्रत्येक प्रयास परीक्षा के लिए होता है इस कारण वह अनुचित साधनों का प्रयोग करने का प्रयास भी करता है क्योंकि उसका भविष्य इन्हीं परीक्षा परिणामों पर निर्भर करता है। इस कारण हम देखते हैं कि

शिक्षा अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल नहीं हो पा रही है। परीक्षा से संबंधित अनेक भ्रष्टाचार आज समाज में व्याप्त हो रहे हैं।

भारतीय दार्शनिकों ने परीक्षा प्रणाली के दोषों को अनुभव किया है और इस सन्दर्भ में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं :—

श्री अरविन्द का विचार है कि शिक्षा का लक्ष्य बालक की मानसिक व तार्किक क्षमता में वृद्धि करना है। अतः शिक्षा द्वारा हमें बालक की रचनात्मक शक्ति को बढ़ाना है न कि सूचनाएँ प्रदान करने वाली शिक्षा देकर उसकी स्मृति की परीक्षा लेनी है। वह परीक्षा पद्धति की आलोचना करते हैं। श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र के विद्यार्थियों को किसी प्रकार की डिग्री या डिप्लोमा प्रदान नहीं किया जाता है क्योंकि उनकी शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानार्जन और चरित्र निर्माण करना है। उसमें वार्षिक परीक्षाओं की भी कोई व्यवस्था नहीं है। गृह-कार्य, मौखिक परीक्षाओं व कक्षा परीक्षाओं के आधार पर विद्यार्थी का मूल्यांकन करके कक्षोन्नति दी जाती है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर भी परीक्षा पद्धति के दोषों से पूर्णतया परिचित थे। वह यह नहीं चाहते थे कि उनके विश्वविद्यालय में लिखित परीक्षाओं का आयोजन हो और छात्र व छात्राओं को उपाधियाँ प्रदान की जायें। माइकल सेखलर ने जब अपने लेख में परीक्षा पद्धति के दोषों को बताया, उससे पूर्व ही टैगोर परीक्षा के दोषों को इंगित कर चुके थे। वह शिक्षा को उपाधि प्राप्त करने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे, क्योंकि शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति का सर्वोत्तम रूप में विकास करना है न कि उपाधि प्रदान करना।

महात्मा गांधी ने भी तत्कालीन शिक्षा की परीक्षा पद्धति की आलोचना की है। उन्होंने परीक्षा प्रणाली के तीन दोष बताये हैं :—

1. यह विदेशी संस्कृति पर आधारित है।
2. यह हृदयगत और हस्तगत संस्कारों की उपेक्षा करती है।
3. इसका माध्यम विदेशी भाषा है।

महात्मा गांधी के समय से लेकर आज तक एक सुधार तो हुआ है कि उसका माध्यम मातृभाषा कर लिया गया है किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य दोष सम्मिलित हो गये हैं। गांधी जी का विचार है कि बेसिक शिक्षा योजना में कुछ चुने हुए क्षेत्र के स्कूलों के काम का निरीक्षण विभाग की ओर से लगातार होता रहना चाहिए। छात्रों के कार्यों का मूल्यांकन करने हेतु एक मानदण्ड निश्चित किया जाय तथा मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ होना चाहिए, जिसमें छात्रों का कार्य प्रकट हो न कि वह परीक्षकों की व्यक्तिगत राय पर आधारित हो। गांधी जी का विचार है कि बुनियादी स्कूलों की योग्यता का एक-सा माप रखने

के लिए शिक्षा समिति की ओर से प्रति वर्ष अलग-अलग क्षेत्रों के, एक ही कक्षा के विद्यार्थियों को चुनकर उनकी जाँच करनी चाहिए। शिक्षा समिति अपने छात्रों की योग्यता का निर्णय तीन प्रकार से कर सकती है :—

1. वार्षिक परीक्षा द्वारा।
2. बुनियादी दस्तकारी के काम में विद्यार्थी की योग्यता द्वारा।
3. विद्यार्थियों व शिक्षकों द्वारा आस-पास के गाँवों में किए गए सुधार के द्वारा।

इस प्रकार गांधी जी सैद्धांतिक कार्यों की अपेक्षाकृत रचनात्मक कार्यों द्वारा मूल्यांकन करने के पक्ष में हैं।

डॉ० राधाकृष्णन के विचारों को राधाकृष्णन आयोग के प्रतिवेदन के माध्यम से जाना जा सकता है। आयोग ने प्रचलित परीक्षा प्रणाली की कटु आलोचना की है और कुछ सुझाव भी दिये हैं :—

1. परीक्षा का उद्देश्य बौद्धिक, मानसिक व परिश्रम मापक होना चाहिए।
2. भारतीय शिक्षा मंत्रालय व विश्वविद्यालयों को वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित प्रमाणित परीक्षाओं का निर्माण करना चाहिए।
3. निबन्धात्मक परीक्षा के दोषों को दूर किया जाना चाहिए।
4. वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं की व्यवस्था की जाय।
5. शासकीय पदों के लिए उपाधि अनिवार्य न हो वरन् इनके लिए परीक्षाएँ संगठित की जायें।
6. कक्षा कार्य हेतु भी एक-तिहाई अंक सुरक्षित रखे जायें।
7. परीक्षक को कम से कम पाँच वर्ष का अपने विषय से संबंधित शिक्षण अनुभव होना चाहिए।
8. स्नातकोत्तर व व्यावसायिक परीक्षाओं के लिए मौखिक परीक्षाओं का भी प्रयोग किया जाए।

आचार्य विनोबा छात्रों द्वारा किए गए प्रतिदिन के कार्यों का मूल्यांकन करना चाहते हैं। वह वाह्य मूल्यांकन की अपेक्षाकृत आंतरिक मूल्यांकन को उचित मानते हैं।

इस प्रकार प्रश्न-पत्रों के स्वरूप में परिवर्तन करके, आंतरिक मूल्यांकन हेतु कुछ अंक निर्धारित करके तथा मासिक परीक्षाओं के अंकों को वार्षिक परीक्षा के अंकों में जोड़ने की पद्धति लागू करके कुछ सीमा तक परीक्षा पद्धति के दोषों को दूर किया जा सकता है। प्रश्न इस प्रकार के बनाये जायें कि उनका उत्तर, विद्यार्थी को अपने ज्ञान के आधार पर देना पड़े, पाठ्य-पुस्तकों में उत्तर उपलब्ध

न हो, तब नकल करने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जा सकता है। आधुनिक समय में लघु उत्तर वाले प्रश्न, वस्तुनिष्ठ प्रश्न आदि का प्रयोग बढ़ रहा है। परन्तु फिर भी प्रश्न पत्रों के पहले से ही ज्ञात हो जाने तथा अनुचित साधनों के प्रयोग संबंधी दोषों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इस दिशा में प्रशासन की ओर से कठोर नियंत्रण किया जाना चाहिए।

समाज शिक्षा

समाज शिक्षा का तात्पर्य प्रौढ़ पुरुषों व महिलाओं को ज्ञान का क्षेत्र सुलभ कराना है। हमारे देश में साक्षरता का प्रतिशत बहुत कम है। अधिकांश जनता अनपढ़ है। अक्षर ज्ञान न होने के कारण सामान्य जनता ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में होने वाली प्रगति का लाभ नहीं उठा पा रही है और शोषण का शिकार भी हो जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि संबंधी नियमों व ऋण तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने की जानकारी न होने के कारण अशिक्षित जनता महाजनों व साहूकारों के चंगुल में फँस जाती है। इसके अतिरिक्त अच्छे बीज, कृषि कला की नवीन जानकारी तथा यंत्रों से संबंधित ज्ञान न होने के कारण वह कृषि में उतनी फसल नहीं ले पाती है, जितनी ली जानी चाहिए।

शिक्षित तथा अर्द्धशिक्षित व्यक्ति के लिए भी यह आवश्यक है कि वह अपने ज्ञान का निरन्तर नवीनीकरण करता रहे। उसे अपने अवकाश का सदुपयोग करने की जानकारी भी होनी चाहिए। इससे वह अपने व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों को अपनाकर अपनी आय को बढ़ा सकता है तथा मनोरंजन के साधनों जैसे कला, संगीत आदि की शिक्षा द्वारा जीवन को अधिक खुशहाल बना सकता है इसलिए जन शिक्षा की आवश्यकता को आज महसूस किया जा रहा है।

समाज में आधी जनसंख्या स्त्री वर्ग की है और यह वर्ग शिक्षा के क्षेत्र में अत्यधिक पिछड़ा हुआ है। देश की स्त्रियों का लगभग 20 प्रतिशत भाग ही शिक्षित है अतः समाज के उत्थान के लिए इनकी शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। स्त्री शिक्षा के पिछड़ेपन के अनेक कारण हैं जिनमें देश की रूढ़ियाँ, निर्धनता प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में बालिका विद्यालयों की बहुत कमी है इसलिए शिक्षा सुलभ न होने के कारण बालिकाएँ शिक्षा ग्रहण नहीं कर पातीं। हाल के वर्षों में स्त्रियों की शिक्षा की समस्या पर विचार करने के लिए तीन समितियों का गठन किया गया है, जिनमें श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख समिति, श्रीमती हंसा मेहता समिति तथा श्री एम० भक्तवत्सलम की अध्यक्षता में नियुक्त समिति है। इन्होंने स्त्री शिक्षा हेतु महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये।

भारत में समाज शिक्षा की आवश्यकता कई दृष्टिकोणों से है। हमारा देश लोकतांत्रिक प्रणाली पर आधारित है। इसके सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि यहाँ के नागरिक अपने कर्त्तव्यों व अधिकारों के लिए सचेत रहें। अतः उनको अपने अधिकारों, वैधानिक नियमों आदि की जानकारी होना आवश्यक है। सामाजिक व राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए भी यह आवश्यक है कि नागरिकों को आपसी भेद्भाव मिटाने के लिए प्रेरित किया जाय। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने के लिए भी वयस्कों को विभिन्न व्यवसायों में प्रशिक्षित करना आवश्यक है। विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा जीवन के सभी क्षेत्रों के लिए व्यक्तियों को तैयार नहीं करती है इसलिए पूर्ण शिक्षा प्रदान करने के लिए जन-शिक्षा परम आवश्यक है। इस प्रकार समाज शिक्षा का उद्देश्य रचनात्मक प्रयास द्वारा सामाजिक क्रान्ति करना है जिसमें व्यवसाय व जीविका को अधिक ज्ञान व कौशल से अर्जित करने का प्रशिक्षण दिया जाय तथा भ्रमण द्वारा नये समाजों की रीति-रिवाज का परिचय भी कराया जाय।

समाज शिक्षा प्रदान करने में पाँच तत्त्व प्रमुख हैं :—

1. व्यवहार में परिवर्तन, 2. व्यवसाय में प्रौढ़ता, 3. नवीन विषयों का ज्ञान, 4. मनोरंजन के नये साधनों का विकास व अभ्यास, 5. सामाजिक जीवन में परिवर्तन।

महिलाओं की शिक्षा के विषय में अधिकांश विद्वानों का विचार है कि उनकी शिक्षा उनके कार्य क्षेत्र से संबंधित होनी चाहिए इसलिए उसमें इतिहास, साहित्य आदि विषयों के साथ-साथ स्वास्थ्य विज्ञान, घरेलू चिकित्सा, शिशु-पालन, घर की व्यवस्था, सिलना, बुनना, फुलवारी लगाना, चित्रकला, गीत, वाद्य, बैंक व डाक व्यवस्था का काम, यातायात के नियम, सद्व्यवहार, मधुर-भाषिता, घरेलू उत्सवों आदि को सम्मिलित किया जाना चाहिए।

जन शिक्षा की आवश्यकता पर भारतीय शिक्षा दार्शनिकों ने भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। स्वामी विवेकानन्द ने भारतीयों की गरीबी व दरिद्रता को दूर करने के लिए शिक्षा को आवश्यक बताया है। वह कहते हैं कि वह व्यक्ति देशद्रोही है जो जनता के व्यय से शिक्षित हुआ है और जब उनकी ओर कोई ध्यान नहीं देता है। स्वामी जी भारत की जनता को सुशिक्षित करना चाहते थे और उनके लिए भोजन तथा अन्य सुविधाओं को उपलब्ध कराना सम्पूर्ण देश का प्रथम कर्त्तव्य समझते थे। वह कहते हैं कि निम्न वर्ग को उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षित करना ही एकमात्र सेवा करना है। इसके पश्चात् वह स्वयं ही उन्नति की ओर अग्रसर हो जायेंगे। वह शास्त्रों के आध्यात्मिक रत्नों को जन साधारण में बांटना चाहते हैं। इसलिए जनसाधारण की भाषा में उनका ज्ञान प्रदान करने का उपदेश देते हैं। वह कहते हैं कि

वेदान्त के सब महान तत्त्वों को अब जंगलों और गुफाओं से बाहर आना होगा तथा न्यायालयों, प्रार्थना मन्दिरों और गरीबों की झोपड़ियों में अपना कार्य करना होगा। अब मछली पकड़ते हुए मछुओं और विद्याभ्यास करते हुए विद्यार्थियों, दोनों के साथ इन तत्त्वों को कार्य करना होगा।

नवयुवकों को वह प्रेम की शिक्षा देना चाहते हैं क्योंकि हृदय ही महाशक्ति का द्वार है। प्रेम होने पर ही वह ग्रामीण जनों तथा भारत की आत्मा के लिए दृढ़ संकल्प से कार्य कर सकेंगे। वह कहते हैं कि यदि छात्र गरीबी के कारण शिक्षा के लिए समय नहीं दे पाता, और विद्यालय नहीं आ पाता है तो शिक्षा को स्वयं उसके पास तक पहुँच जाना चाहिए। इस कार्य के लिए वह धर्म गुरुओं को सर्वाधिक उपयुक्त मानते हैं क्योंकि धर्म गुरु गांव में जाते रहते हैं। यदि ये लोग अपने साथ दुनियां का गोला तथा मानचित्र आदि लेकर जायें तो अनजान व्यक्तियों को बहुत-सा भूगोल पढ़ा सकते हैं। इसी प्रकार विज्ञान, गणित, साहित्य व इतिहास के ज्ञान द्वारा उनको शिक्षा प्रदान करनी चाहिए।

महात्मा गांधी का सम्पूर्ण जीवन एक शिक्षा रहा है। वह समाज में स्थान-स्थान पर गये और जनमानस में जागृति उत्पन्न की। उन्होंने साबरमती और सेवाग्राम आश्रमों की स्थापना की जहाँ हजारों व्यक्तियों ने प्रेरणा प्राप्त की, जिनमें विदेशी नागरिक भी रहे हैं। उन्होंने लाखों भटके हुए लोगों को प्रेम की शिक्षा दी, उन्हें सत्य का मार्ग दर्शाया और आत्म-सम्मान करना सिखाया। गांधी जी बेसिक शिक्षा योजना का भी पूर्ण विकास करना चाहते थे। उन्होंने इसके माध्यम से बालकों के साथ-साथ उनके माता-पिता को भी प्रशिक्षित करने का प्रयास किया। सन् 1945 में अखिल भारतीय बेसिक शिक्षा के तृतीय सम्मेलन में उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहा कि हस्त-शिल्प ही हमारा मार्गदर्शक है। हमारी शिक्षा का क्षेत्र केवल सात से चौदह वर्ष तक की आयु के बालकों की शिक्षा तक ही सीमित नहीं है। वास्तव में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक की शिक्षा इसमें है। बेसिक शिक्षा का कार्यक्रम समस्त समाज की शिक्षा तक व्यापक है। बच्चे की शिक्षा से प्रारंभ होकर वयस्क की शिक्षा और अन्त में वृद्ध पुरुषों व स्त्रियों की शिक्षा इसका लक्ष्य है। इसके अन्तर्गत उन्होंने शिल्प का प्रशिक्षण तथा स्वास्थ्य, सफाई व चिकित्सा सहायता को सम्मिलित किया।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जन शिक्षा के प्रसार के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में परीक्षा केन्द्र खोलने का सुझाव दिया, जिससे विद्यालय की शिक्षा से वंचित रहने वाले छात्र व छात्राएँ अपने सामाजिक व आर्थिक स्तर को उन्नत बना सकें। उनका विचार है कि ग्रामीण जनों को उनकी कक्षा के अनुरूप पाठ्यक्रम,

पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध करायी जायें तथा अन्य आवश्यक जानकारी प्रदान की जाय, जिससे वह घर पर अवकाश के क्षणों में अध्ययन कर सकें। इन परीक्षा केन्द्रों की स्थापना प्रायः सभी गाँवों में होनी चाहिए। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने स्त्रियों व पुरुषों के लिए उनके कार्य-क्षेत्र से संबंधित विषयों के शिक्षण का सुझाव दिया है क्योंकि उनका विचार है कि व्यावहारिक ज्ञान जीवन में अधिक उपयोगी होता है।

आचार्य विनोबा की योजना में वयस्कों के लिए भी बालकों की एक घण्टे की अतिरिक्त शिक्षा के समान एक घण्टे के विश्वविद्यालय में शिक्षा देने का विचार है। वह एक घण्टे के विश्वविद्यालय की व्यवस्था का कार्यभार ग्राम पंचायतों पर छोड़ते हैं। विश्वविद्यालय की मीटिंग सायंकाल हुआ करेगी और उसमें उपस्थित होने के लिए वे सभी व्यक्ति अधिकारी होंगे जिन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था प्राप्त कर ली है। ग्राम पंचायतें इस बात का निर्णय करेंगी कि किसी विश्वविद्यालय में कौनसी कलाएँ पढ़ाई जाएँ। विश्वविद्यालय नई कला की शिक्षा की माँग भी ग्राम पंचायतों से कर सकते हैं। वयस्कों को जो कुछ शिक्षा दी जाएगी उसका माध्यम कहानियाँ व साधुओं के भजन होंगे। इन कक्षाओं में जिन बातों की चर्चा होगी उनका संबंध ग्रामीणों के व्यावहारिक जीवन से होगा। उनका समय सायंकाल रखा जाएगा। विनोबा जी का विचार है कि इस एक घण्टे की शिक्षा व्यवस्था में पैसे की भी कोई समस्या नहीं आएगी, क्योंकि शिक्षक के एक घण्टे के अतिरिक्त सारा समय अन्य साधनों से जीविकोपार्जन हेतु मिल जाएगा। प्रतिदिन एक घंटे के कार्य का पारिश्रमिक फसल की तैयारी के समय ग्रामीणों द्वारा प्राप्त हो जाएगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दार्शनिकों ने जन-शिक्षा की आवश्यकता को सर्वदा महसूस किया है। आजकल राज्य सरकारों द्वारा भी प्रौढ़ शिक्षा की योजनाएँ बनाई जा रही हैं जिनको क्रियान्वित किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक साधन ऐसे भी हैं जिनसे स्वतः ही समाज को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से शिक्षा मिलती रहती है। इन साधनों में पुस्तकालय, विद्यालय, समाचार-पत्र, चलचित्र, रेडियो, धार्मिक संस्थाएं, सार्वजनिक भाषण आदि भी आते हैं। इनके द्वारा व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करने की स्पष्ट भावना न होने पर भी शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं। समितियाँ, संघ, बैठकों, मेले, मन्दिर, गिरजाघर, साहित्यिक संघ, विज्ञान सम्मेलन, नाटक आदि अनेक साधन स्वतः शिक्षा देने वाले सिद्ध हुए हैं।

अनौपचारिक शिक्षा व्यवस्था आज समाज के लिए अत्यधिक लाभकारी सिद्ध हो सकती है। क्योंकि वह स्वयं में औपचारिक शिक्षा का ही एक अभिन्न अंग है। इस पर व्यय भी बहुत कम आयेगा यदि उन्हीं विधालयों में, जो

औपचारिक-शिक्षा प्रदान कर रहे हैं, उनके कार्य-घण्टों के अतिरिक्त समय में इसकी व्यवस्था की जाय। विद्यालय इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं जैसे—

1. एक व्यवसायपरक शिक्षा के लिए लघु पाठ्यक्रमों को चलाना।
2. स्वास्थ्य बालकों की देखभाल व कल्याण कार्यों तथा गृह व्यवस्था के संबंध में माता-पिता को शिक्षित करना।
3. प्रौढ़ों को सामाजिक ज्ञान देना।
4. युवकों को मनोरंजन व समाज में नेतृत्व की शिक्षा प्रदान करना।

महाविद्यालय— कला विभाग, विज्ञान विभाग तथा वाणिज्य विभाग से संबंधित उच्च स्तर की शिक्षा का आयोजन करते हैं। अतः वह युवकों के अनौपचारिक शिक्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं जैसे—

1. बेरोजगार स्नातकों के लिए किन्हीं व्यवसायों से संबंधित शिक्षा की व्यवस्था करना।
2. स्नातक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए पढ़ाई के साथ-साथ कुछ आय प्राप्त करने की योजनाएँ चलाना।
3. रोजगार प्राप्त युवकों के आत्म विकास हेतु अवकाश के समय शिक्षा की व्यवस्था करना।
4. देश के नेतृत्व हेतु युवकों को प्रशिक्षित करना।
5. अन्य क्षेत्रों से संबंधित डिग्री या डिप्लोमा पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करना।

विश्वविद्यालयों के ऊपर सम्पूर्ण देश का उत्तरदायित्व होता है इसलिए वह अनौपचारिक शिक्षा हेतु निम्नलिखित योजनाएँ कार्यान्वित कर सकते है :—

1. अनौपचारिक शिक्षण हेतु शिक्षकों को प्रशिक्षण प्राप्त करने के केन्द्रों की स्थापना करना।
2. वयस्क शिक्षा में शोध की व्यवस्था करना।
3. अनौपचारिक शिक्षा के विषयों का प्रकाशन करना।
4. अनौपचारिक शिक्षा को औपचारिक शिक्षा के एक अंग के रूप में मान्यता देना।
5. अवकाश के समय कर्मचारी शिक्षण योजना हेतु विश्वविद्यालयों को कारखानों से संबंधित करना।
6. कृषकों, शिक्षकों तथा अन्य व्यावसायियों को अधिक कुशलता से कार्य करने हेतु अन्य प्रशिक्षण देना।

शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान भी इसमें अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। इनके द्वारा निम्न योजनायें चलायी जा सकती हैं :—

1. बी. एड. कक्षाओं में अनौपचारिक शिक्षा के प्रसार से संबंधित एक पेपर पढ़ाया जाना तथा एम. एड. कक्षाओं के लिए यह विशेष चयनित विषय होना।
2. अनौपचारिक शिक्षा हेतु उपयुक्त शिक्षण-विधि, पाठ-योजना तथा मूल्यांकन हेतु नई तकनीकी की खोज।
3. अनौपचारिक शिक्षा हेतु उपयुक्त सहायक सामग्री की व्यवस्था।
4. अनौपचारिक शिक्षा के निर्देशन हेतु सेमीनार व गोष्ठियों का आयोजन।

इस प्रकार औपचारिक शिक्षा के साथ अनौपचारिक शिक्षा को संबंधित करने से भवन, शिक्षक, पुस्तकालय, प्रयोगशाला, कार्यशाला आदि पर होने वाला खर्च बच सकता है। इससे इन साधनों का पूर्ण उपयोग भी सम्मत होगा। इस प्रकार बृहत् जनसंख्या की सेवा में यह संस्थायें प्रभावकारी भूमिका निभा सकती हैं। जब शिक्षा की व्यापक स्तर पर योजना हेतु तथा रोजगार में लगे व्यक्तियों के लिये अतिरिक्त ज्ञान प्रदान करने हेतु एक नवीन योजना का हाल के वर्षों में ही सूत्रपात हुआ है जिसे 'खुला विश्वविद्यालय' कहा गया है। इसकी स्थापना सर्वप्रथम श्रमिक दल के नेता श्री हैराल्ड विल्सन के सुझाव पर सन् 1970 में ब्रिटेन में की गई। आजकल इज़राइल, पाकिस्तान, श्रीलंका, वेनेजुएला, कनाडा, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, और सोवियत संघ में खुले विश्व-विद्यालयों की स्थापना हुई है। भारत में भी इसकी स्थापना आंध्र प्रदेश में सन् 1983 में हो चुकी है। इस विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने वाले छात्र प्राय: रोजगार में लगे होते हैं। उन्हें नियमित रूप से कक्षा में नहीं आना पड़ता। शिक्षण कार्य पत्र-व्यवहार, रेडियो व दूरदर्शन के माध्यम से होता है।

खुले विश्वविद्यालय में इमारत, फर्नीचर, कर्मचारी तथा रखरखाव का खर्च नाममात्र का होता है। आंध्र प्रदेश के खुले विश्वविद्यालय ने राज्य के 23 जिलों में 23 अध्ययन केन्द्र चलाने की योजना की घोषणा की है। भारत में उस्मानिया व मैसूर विश्वविद्यालय पहले से हो ओपन यूनीवर्सिटी स्कीम चला रहे हैं। इनमें 25 वर्ष से अधिक आयु के छात्र सीधे बी. ए. की परीक्षा दे सकते हैं। उस्मानिया और मैसूर विश्वविद्यालयों में यह व्यवस्था अलग से है। वहाँ औपचारिक पाठ्यक्रम भी चलता है। आंध्र प्रदेश के खुले विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी व तेलुगू भाषा है। अत: हिन्दी भाषी छात्र उसका लाभ नहीं उठा सकते हैं।

इस विश्वविद्यालय व्यवस्था के कुछ दोष भी हैं। जैसे— छात्र विश्व-विद्यालय से बहुत दूर-दूर रहते हैं। इसलिये विश्वविद्यालय के प्रति अपनेपन की भावना नहीं आती। शिक्षकों का छात्रों के साथ सम्पर्क नहीं होता अत:

शिक्षकों से प्राप्त होने वाले लाभों से छात्र वंचित रह जाते हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि की आयोजना भी नहीं होती, इसलिए छात्र के संवेगात्मक व मनोवैज्ञानिक विकास में बाधा उपस्थित हो सकती है। इस शिक्षा व्यवस्था का एक दोष यह भी है कि इसमें परीक्षा देना तथा उपाधि लेना ही एकमात्र उद्देश्य रह जाता है।

ब्रिटेन के खुले विश्वविद्यालय में इन कमियों को दूर करने हेतु कुछ प्रयास किये गये हैं :—

1. विश्वविद्यालय प्रांगण में छात्रों को कम से कम एक सप्ताह के लिए सेमीनार में उपस्थित होना पड़ता है।
2. प्रत्येक छात्र को एक शैक्षिक अधिकारी से संबंधित किया जाता है जो उन्हें शैक्षिक सलाह प्रदान करता है।
3. खुले विश्वविद्यालय द्वारा स्थानीय शिक्षण केन्द्रों की स्थापना की गई है। इसमें छात्र अपनी सुविधानुसार अध्ययन कर सकता है। छात्र को यह छूट दी जाती है कि वह चाहे इन केन्द्रों में अध्ययन करे अथवा अपने घर पर ही। यहाँ पर छात्र व शिक्षक में आमने सामने के संबंध होते हैं। इन केन्द्रों में टी. वी., रेडियो, वीडियो कैसेट भी उपलब्ध होते हैं। कुछ केन्द्रों में कम्प्यूटर की सुविधायें भी हैं। यहाँ पर सामुदायिक भावना के प्रसार के लिए समितियों का गठन भी किया गया है।

आजकल भारतीय सरकार ने भी टी. वी. के कार्यक्रमों द्वारा शैक्षिक प्रसार की विस्तृत योजना की घोषणा की है। इस प्रकार के प्रयास शिक्षा के प्रसार तथा शिक्षा में गुणात्मक सुधार हेतु अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हो सकते हैं। □

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्री अरविन्द— शिक्षा के आयाम, श्री अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पाण्डिचेरी, 1977
2. औड एल० के०— शिक्षा की समाजशास्त्रीय व दार्शनिक पीठिका, मैकमिलन, नयी दिल्ली, 1976
3. कालेलकर काका साहब— विनोबा व्यक्तित्व और विचार, सस्ता साहित्य मण्डल दिल्ली, 1971
4. कालेलकर काका साहब— युग मूर्ति रवीन्द्रनाथ, कृष्णा ब्रदर्स अजमेर, 1969
5. कृपलानी कृष्ण— रवीन्द्रनाथ एक जीवनी, शिवलाल अग्रवाल, आगरा, 1962
6. कृपलानी जीवतराम भगवानदास— महात्मा गांधी—जीवन और चिन्तन, सूचना व प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1978
7. गुप्त लक्ष्मी नारायण— शिक्षा के दार्शनिक आधार, कैलाश प्रकाशन, इलाहाबाद, 1975
8. चतुर्वेदी सीताराम— शिक्षा दर्शन, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1970
9. चतुर्वेदी सीताराम— आधुनिक भारत के निर्माता पं० मदन मोहन मालवीय, भारत सरकार प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1980
10. चौबे सरयू प्रसाद— भारत के कुछ शिक्षा दार्शनिक, रामनारायण लाल बेनी माधव प्रसाद अग्रवाल, लखनऊ, 1963
11. चौधरी रामनारायण— सच्ची शिक्षा, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1950
12. चौधरी रामनारायण— महादेव भाई की डायरी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1966
13. जायसवाल सीताराम— भारतीय शिक्षा का इतिहास व समस्यायें, प्रकाशन केन्द्र न्यू बिल्डिंग, अमीनाबाद, लखनऊ, 1975
14. दादा धर्माधिकारी— सर्वोदय दर्शन, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1965
15. द्विवेदी हजारी प्रसाद— मृत्युंजय रवीन्द्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1970

16. द्विवेदी हज़ारी प्रसाद— महामना रवीन्द्रनाथ, रवीन्द्र व्याख्यान माला का प्रथम पुष्प, कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर।

17. द्विवेदी कृष्णदत्त— भारतीय पुनर्जागरण और मदनमोहन मालवीय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक वाराणसी, 1981

18. पाठक पी० डी०— शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा 1973

19. पाठक पी० डी०— भारतीय शिक्षा आयोग, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1967

20. पाण्डेय रामशकल— शिक्षा के मूल सिद्धान्त, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1975

21. बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा— वर्धा शिक्षा परिषद 1973 और जाकिर हुसैन समिति का विवरण, हिन्दुस्तानी तालीमी सेवा संघ प्रकाशन, वर्धा, 1939

22. भावे विनोबा— शिक्षण विचार, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960

23. भावे विनोबा— स्त्री शक्ति, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1963

24. भावे विनोबा— आत्मज्ञान और विज्ञान, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1968

25. भास्करेश्वरानन्द— विवेकानन्द संचयन; रामकृष्ण मिशन नागपुर, 1964

26. श्री मन्नारायण— कवि विनोबा, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1972

27. श्री माता जी के वचन, श्री अरविन्द आश्रम सोसाइटी पाण्डिचेरी, 1964

28. श्री माता जी— जीवन-विज्ञान, श्री अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पाण्डिचेरी, 1966

29. मजूमदार सत्येन्द्रनाथ— विवेकानन्दचरित, रामकृष्ण मिशन, नागपुर, 1967

30. मालवीय वचनामृत— काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित

31. मालवीय पद्मकान्त— मालवीय की जीवन झलकियाँ, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1967

32. माथुर एस० एस०— शिक्षा सिद्धान्त, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1975

33. मित्र आत्मानन्द— भारतीय शिक्षा के प्रवर्त्तक, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1972

34. डॉ० राधाकृष्णन— महात्मा गांधी— सौ वर्ष, सर्वोदय साहित्य प्रकाशन, वाराणसी, 1969

35. डॉ० राधाकृष्णन— स्वतंत्रता व संस्कृति, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1974

36. डॉ० राधाकृष्णन— पूर्व और पश्चिम कुछ विचार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1965

37. डॉ० राधाकृष्णन— हमारी विरासत, सरस्वती विहार, नई दिल्ली, 1977

38. रोमा रोलां— विवेकानन्द, अनुवादक संहो० वा० अज्ञेय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1974

39. रमनबिहारी लाल— शिक्षा के दार्शनिक व समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रस्तौगी पब्लिकेशन, मेरठ, 1976

40. वासुदेव शरण (संकलनकर्त्ता)— महामना श्री पं० मदनमोहन मालवीय के लेख और भाषण, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, 1961

41. शर्मा रामनाथ— श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन, अनु बुक्स, शिवाजी रोड, मेरठ शहर, 1975

42. शंकराचार्य— ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती विरचित भाषानुवाद, वाराणसी, सम्वत् 2028

43. सहगल मनमोहन— आधुनिक शिक्षा शास्त्री, पुस्तक सदन, दिल्ली, 1970

44. सरस्वती महर्षि दयानन्द— सत्यार्थ प्रकाश, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, विक्रम 2026

45. सहाय यदुवंश— महर्षि दयानन्द, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971

46. स्वामी विवेकानन्द— भगवान श्रीकृष्ण व भगवद्गीता, रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1968

47. स्वामी विवेकानन्द— शिक्षा, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975

48. स्वामी अपूर्वानन्द— आचार्य शंकर, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1969

49. सैन इन्द्र— श्री अरविन्द का जीवन दर्शन, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, 1973

हिन्दी भाषा की पत्रिकायें

1. अवकाश— हिन्दी पाक्षिक, 'आज' भवन, संत कबीर रोड, वाराणसी, शिक्षा अंक, अगस्त, 1980
2. अग्नि शिखा (नारी अंक)— अखिल भारतीय पत्रिका, श्री अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी, 1972
3. 'प्रज्ञा', हीरक जयन्ती विशेषांक, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 76–77



BIBLIOGRAPHY

1. Asrani V.A.— 'Basic Education', Sarvodaya Prakashan, Varanasi, 1962.
2. Ahluwalia B. K.— 'M. K. Gandhi', Selected Speeches, Sagar Publication, New Delhi, 1969.
3. Appadorai— 'Technology and International Relations', Visva Bharti Department, Calcutta, 1966.
4. Bhattacharya A. C.— 'Sri Aurobindo and Burgaon Jagbandhu', Prakashan, Varanasi, 1972.
5. Banerjee Sanat K.— Sri Aurobindo and the future of man, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1974.
6. Bhatnagar Suresh— Kothari Commission, Loyal Book Depot, Meerut, 1976.
7. Banerjee Hiranmay— 'Builder of Modern India—Rabindra Nath Tagore', Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, 1971.
8. Bose N. K.— 'Selections from Gandhi', Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1948.
9. Elmhirst L. K.— 'Poet and Plow Man', Visva Bharti Publishing Department, Calcutta, 1975.
10. Educational Reconstruction, A Collection of Gandhi's articles on the Vardha Scheme, the Zakir Husain Report and Syllabus, and Proceedings of the all India Education Conference at Vardha, IIIrd Ed. 1939.
11. Gandhi M. K.— To students, Navajivan Publishing House, Ahmedabad 1953.
12. Gandhi M. K.— The task before Indian Students, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1961.
13. Gandhi centenary papers, Four volumes, Edited by K. S. Saxena, Oriental Research, Bhopal, 1972.
14. Harijan (weekly) 1933–40, 46–48, Navajivan Press, Ahmedabad.
15. Indrasen— 'Integral Education', Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1952.

16. Magee John B.— 'Philosophical Analysis in Education', University of Puget Sound, Harper and Row, New York, London, 1971.

17. Rao, V.K.R.V.— 'Swami Vivekananda', Education and Social Welfare Department, Govt. of India, 1979.

18. Rabindra Nath Tagore, Birth Centenary Celebrations— Proceedings of Conference, Vol. I, Education, Editor Sunil Chandra Sarkar, Visva Bharti, Santiniketan, 1961.

19. Rabindra Nath Tagore Birth Centenary Celebrations, Proceedings of Conferences, Vol. II, India Literatures, Editor— Santosh Chandra Sen Gupta, Visva Bharti, Santiniketan, 1961.

20. Rabindra Nath Tagore Birth Centenary Celebrations, Proceedings of Conferences, Vol. VII, Seminar on human factor in the growth of rural economy, Editor Gobind Chandra Mandal, Visva Bharti, Santiniketan, 1961.

21. Rabindra Nath Tagore— Centenary Volume— Edited by Humayun Kabir, Vishveshwarananda Publication, Hoshiyarpur, 1961.

22. Dr. Radhakrishnan— 'The Philosophy of Rabindra Nath Tagore', MacMillan, 1918.

23. Sharma L. P. (Editor)— 'Sri Aurobindo Centenary Souvenir', A. C. S., Delhi, 1972.

24. Sri Aurobindo and The Mother— On Education, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1978.

25. Sri Aurobindo— 'The Human Cycle', Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry,

26. Sri Aurobindo— 'The Life Divine', Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1955.

27. Sri Aurobindo— 'A system of national education', Arya Publishing House, Calcutta, 1946.

28. Sri Aurobindo— 'The Ideal of Human Unity', Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1950.

29. Sri Aurobindo— 'Mother India'— A Preface on National Education, April 1955.

30. Sarkar Sunil Chandra— 'Tagore's educational philosophy

and experiments', Visva Bharti Research Publications, Santiniketan, 1961.

31. Sarkar Bhupendra Nath— 'Tagore the Educator', Academic Publishers, Calcutta, 1974.
32. Santiniketan— 1901-1951, Reprinted on Seventieth Anniversary of the institution and Visva Bharti— Golden Jubilee, 23rd Dec. 1971.
33. The Mother— 'Ideal child', Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1981.
34. The Mother— 'Practical Guide to Integral Yoga', Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry, 1976.
35. Tagore Rabindra Nath— 'On the edges of times', Visva Bharti Publishing Department, Calcutta, 1958.
36. Tagore Rabindra Nath— 'Crisis in Civilization', Visva Bharti Publishing Department, Calcutta, 1950.
37. Tagore Rabindra Nath— 'The Co-operative Principles', published for Visva Bharti, by Kanai Samanta, Calcutta, 1963.
38. Tagore R.N.— 'Sadhana', Lectures delivered at the Harvard University, U.S.A. in 1912-13.
39. Tagore R.N.— 'Creative Unity', MacMillan, 1950.
40. Tagore R.N.— 'Nationalism', Lectures delivered at Japan and the United States in 1916-17.
41. Tagore R.N.— 'Personality', Lectures delivered in Japan and the United States in 1916-17.
42. Tagore R. N.— 'The Religion of Man', Hibbert lectures delivered at Oxford University, 1931.
43. Tagore R. N.— 'A Poet's School', Tagore's view on education (Included in 'My School').
44. Ulich Philosophy of Education, 'American Book Company', New York, 1961.
45. The Complete Works of Swami Vivekananda in 7 vols., Advaita Ashram, Almora, 1947.
46. Vyas K. C.— 'The Social Renaissance in India', Vora & Co., Publishers Private Ltd., Bombay, 1957.
47. Young India (weekly 1919-1932), Navajivan Press, Ahmedabad.

JOURNALS

1. Educational Journal (Monthly)— Netaji Subhash Marg, New Delhi.
2. Education Quarterly— Ministry of Education and Social Welfare, Government of India, New Delhi.
3. Indian Educational Review Journal (NCERT)— Sri Aurobindo Marg, New Delhi.
4. Prospects Quarterly (UNESCO)— Editor— Zaghloul Morsy, 7 Place de Fontenoy 75700 Paris.
5. The Progress of Education (Monthly), Puna Vidyarthi Grah Prakashan, 1186, Sadashiva Peth, Pune (India). □